राजनीतिक विचारों का इतिहास

भाग १

प्राचीन तथा मध्यकालीन

लेखक :
प्रो० ज्योति प्रसाद सूद, एम. ए.,
भूतपूर्व अध्यक्ष, राज्य विज्ञान विभाग,
मेरठ कॉलिज, मेरठ।

लेखक की अन्य रचनायें :

History of Political Thought, Vol. I, Ancient and Medieval, Vol. II, From Machiavelli to Burke, Vol. III, From Bentham to Marx and Vol. IV, Recent Times (all in English and Hindi) ; Elements of Political Science (English and Hindi) ; Government of Great Britain (English and Hindi) ; Governments of U. S. A., U. S. S. R., and Switzerland (English and Hindi) ; Government of France (English and Hindi) ; The Development of Indian Constitutional and National Movement (English and Hindi) ; India : Her Civic Life and Administration (English and Hindi) ; etc.

अनुवादक :
प्रो० गंगा प्रसाद गर्ग, एम. ए.,
अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग,
वैश्य डिगरी कॉलिज, शामली।

जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी,
पुस्तक प्रकाशक मेरठ।

प्रकाशक :
कान्ती नाथ गुप्ता
अध्यक्ष,
जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी,
मेरठ ।

चतुर्थ हिन्दी संस्करण
१९६४

मूल्य ७·५० रुपये

मुद्रक :
गुप्ता प्रिंटिंग प्रेस, मेरठ ।

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

मुझे हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक का तृतीय संस्करण विद्यार्थियों को बहुत पसन्द आया और पुस्तक की अत्यधिक मांग होने के कारण हमे चतुर्थ संस्करण निकालना पड़ रहा है। इस संस्करण मे कही-कही परिवर्तन भी किया गया है। यह सस्करण मुख्यतः तृतीय संस्करण का ही पुनर्मुद्रण है।

पुस्तक मे सुधार के लिये आये सुझावो पर लेखक कृतज्ञ होगा।

विजय मन्दिर
सिविल लाइन्स, मेरठ।

—ज्योतिप्रसाद सूद

द्वितीय संस्करण की भूमिका

पुस्तक को द्वितीय संस्करण के लिये तैयार करते समय मैंने उसे पूरी तरह दुहरा दिया है कहीं-कहीं नई पाठ्य-सामग्री भी जोड़ी है। कुल मिला कर लगभग २० पृष्ठ बढ़ाये गये है। मुख्य परिवर्तन निम्नलिखित हैं :—

अफलातून के आदर्श राज्य में शासन के सिद्धान्त से सम्बन्धित प्रकरण दुबारा लिखा गया है, जिससे कि राज्य के जीवन में दार्शनिक राजाओं में मूर्त बुद्धि का कार्य अधिक स्पष्ट हो जाय। अफलातून के विचारों की आलोचना के रूप में न्याय की प्रकृति बतलाने वाले प्रकरण मे कुछ शब्द बढ़ा दिये गये हैं। वितरणात्मक न्याय के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की गई है। क्योंकि नैसर्गिक कानून की धारणा मध्ययुग मे बहुत महत्व रखती थी, इस कारण पुस्तक के अन्त में उस पर एक नया प्रकरण जोड़ दिया गया है। मुझे आशा है कि परिवर्द्धित पुस्तक विद्यार्थियों के लिये अधिक सिद्ध होगी।

मै उन समस्त महानुभावों, राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों तथा प्रोफेसरों, के प्रति जिन्होंने मुझे पुस्तक पर सम्मानसूचक पत्र लिखे, आभार प्रदर्शित करता हूँ। जिनके लिये यह पुस्तक लिखी गई थी, उनके द्वारा इसके हार्दिक स्वागत पर मुझे सहज सन्तोष है। इस सम्मान-प्रदर्शन से ही मुझे इस विषय की दूसरी पुस्तक, बेन्थम से लेकर आज तक की राजनीतिक विचारधारा पर लिखने की प्रेरणा मिली है।

विजय मन्दिर
सिविल लाइन्स, मेरठ।

—ज्योतिप्रसाद सूद

अनुवादक की ओर से दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक प्रोफेसर सूद की 'A History of Political Thought Vol. 1' का अनुवाद है। उक्त पुस्तक का जो हार्दिक स्वागत विभिन्न विश्वविद्यालयों के राजनीतिक विचार के विद्यार्थियों ने किया है, उसे तथा विद्यार्थियो के उत्तरोत्तर बढ़ते हुये हिन्दी प्रेम को देखते हुये पुस्तक के लेखक ने उसका अनुवाद करने का मुझे आदेश दिया। मौलिक पुस्तक के विचारो और भावो को यथातथ्य अभिव्यक्त करने का मैंने यथासाध्य प्रयास किया है। भाषा के शब्दविन्यास तथा वाग्विदग्धता के प्रलोभन में कहीं भी मूल विचार हताहत न हो जायं इस बात का मैंने पूर्ण प्रयास किया है। निरूपित विषय की गहनता के कारण भाषा को अधिक सरल न बनाया जा सका; किन्तु जिन विद्यार्थियो के लिये यह पुस्तक लिखी गई है, वे कदाचित् उसे क्लिष्ट नही पायेंगे। पुस्तक के प्रस्तुत खण्ड में राजनीतिक विचार के इतिहास के प्राचीन काल तथा मध्य काल का विवरण दिया गया है; आधुनिक काल अगले खण्ड के लिये सुरक्षित है। विद्यार्थियों की बढ़ती हुई मांग को देखते हुये लेखक द्वितीय खण्ड को लिखने में बड़ी तत्परता से संलग्न हैं। आशा है कि शीघ्र ही उसे पाठको के सामने पेश किया जा सकेगा। प्रस्तुत हिन्दी संस्करण का पूर्ण रूप से पुनर्विलोकन करने का लेखक को अवसर नही मिला। इसलिये अनुवाद सम्बन्धी जो भी त्रुटियाँ रह गई हों उनके लिये मैं ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी हूँ। यदि सहृदय और विज्ञ पाठक मुझे अथवा लेखक को उन त्रुटियों से अवगत कराने का कष्ट करेंगे तो मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँगा।

—गंगाप्रसाद शर्मा

विषय सूची

क्रमांक | पृष्ठ संख्या

१ राजनीतिक विचार का स्वरूप

परिचयात्मक—समस्त जीवधारियो में केवल मानव को ही परमात्मा ने विचार शक्ति प्रदान की है जो उसे अपने उस वातावरण को जानने तथा समझने को अनुप्रेरित करती है जिसमे वह जन्म लेता है, पलता है और जिसके द्वारा एक निश्चित सीमा तक उसके जीवन की रूपरेखा निर्धारित होती है। दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, आचार शास्त्र, राजनीति शास्त्र, इतिहास सरीखे सामाजिक शास्त्र तथा जीव विज्ञान, रसायन विज्ञान, वनस्पति शास्त्र सरीखे प्राकृतिक विज्ञान मानव की उसी जिज्ञासा भावना की उपज तथा परिणाम हैं। जिस जगत मे हम जन्मते है, रहते है, अपनी जीवन लीला रचाते है, वह एक इकाई होते हुए भी वैषम्यपूर्ण है। उनमे एकरसता नही है, विविधता तथा विभिन्नता है। उनके अनेक स्वरूप है जिनमे भौतिक, जैविक तथा सामाजिक प्रमुख हैं। इनमें से प्रत्येक स्वरूप का हमे अध्ययन करना चाहिये ; उसको समझना चाहिये ; *और ये आदि काल से ही न्यूनाधिक मात्रा मे मानव चिन्तन का विषय रहे* है। इस ब्रह्माण्ड के भौतिक पक्ष के विषय मे जैसे ही हमारा ज्ञान विकसित हुआ और उसने एक तारतम्यपूर्ण रूप धारण किया, भौतिक-शास्त्र तथा रसायन-शास्त्र जैसे प्राकृतिक शास्त्रों का जन्म हुआ। वनस्पति तथा जीव जगत की ओर मानव के आकृष्ट होने के फलस्वरूप वनस्पति तथा जीव विज्ञान का उदय हुआ। अपने सामाजिक वातावरण को समझने का प्रयत्न करने के फलस्वरूप राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास तथा आचार शास्त्र सरीखे सामाजिक शास्त्रों का अभ्युदय हुआ। अपने रचयिता को जानने, उससे अपने सम्बन्ध को समझने, अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य को पहिचानने तथा परमानन्द को प्राप्त करने की मनुष्य की लालसा का परिणाम है धर्म और इसी प्रकार समस्त विश्व की एक सश्लिष्ट व्याख्या करने तथा उसमे मनुष्य का स्थान निर्धारित करने की इच्छा का फल है दर्शन शास्त्र।

राजनीतिक चिन्तन का विषय—राज्य तथा उसके समस्त संस्थान हमारे सामाजिक जगत का एक नितान्त महत्वपूर्ण अंग है। वे हमारे जीवन को भौतिक तथा जैविक शक्तियो की अपेक्षा कही अधिक प्रभावित करते है। इसीलिए मानव चिन्तन के शैशव काल मे ही वे हमारे विचार का विषय रहे हैं। प्रत्येक ऐसी जाति ने जिसे सभ्य कहा जा सकता हो अपने एक स्वतन्त्र राजनीतिक-दर्शन का निर्माण किया है। प्रत्येक जाति ने प्रत्येक युग में राज्य, उसके लक्ष्य, कार्य, संघटन, संस्थान इत्यादि के विषय में

चिन्तन किया है तथा राज्य को अधिक कुशल और श्रेष्ठतर बनाने का प्रयास किया है। इसी कल्प-विकल्प को हम राजनीतिक चिन्तन कहते हैं। यह इतना ही पुराना है जितना कि स्वयं राज्य और राज्य उतना ही पुराना है जितना कि लेखबद्ध इतिहास। इस प्रकार राजनीतिक चिन्तन की प्राचीनता असंदिग्ध है।

जैसा कि हम इंगित कर चुके हैं राजनीतिक चिन्तन का प्रधान विषय है राज्य, उसका स्वभाव, लक्ष्य, कार्य इत्यादि; किन्तु उसके क्षेत्र को राज्य तथा सरकार की समस्याओं के घेरे में ही सीमित करना भूल होगी। यह इन सब विषयों का अतिक्रमण करके कुछ आगे बढता है। राज्य तथा मनुष्यों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में हम किसी भी बात को तब तक पूर्ण रूप से नही समझ सकते जब तक कि स्वयं मानव स्वभाव तथा मनुष्य और विश्व के सम्बन्ध का ज्ञान हमें प्राप्त न हो। इसीलिये यह सब कुछ भी राजनीतिक चिन्तन की परिधि मे अप्रत्यक्ष किन्तु आवश्यक रूप से आ जाता है। आखिर मनुष्य ही तो समस्त सामाजिक शास्त्रों का केन्द्र-बिन्दु है। उसी के कल्याण, उसी के जीवन को श्रेष्ठतर बनाने के लिए तो उन सब की अभ्युत्पत्ति हुई है; अतः मानव प्रकृति को जानना तथा विश्व मे उसके उचित स्थान की मीमांसा करना राज्य सम्बन्धी चिन्तन की पहिली शर्त है। फिलिस डॉयल (Phyllis Doyle) की इस धारणा से हम पूर्णरूप से सहमत हैं कि राजनीतिक चिन्तन के मूलभूत तीन विषय है: "मनुष्य की प्रकृति तथा उसके कार्य; शेष विश्व से उसका सम्बन्ध जिसमे सम्पूर्ण जीवन का विवेचन स्वतः निहित है; उक्त दोनो बातो की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली मनुष्य की अपने सहजातियो से सम्बन्ध की समस्या। यह अन्तिम समस्या ही राजनीतिक दर्शन का, उसके परिमित रूप मे, मुख्य विषय है और इसके अन्तर्गत राज्य की प्रकृति, उसका लक्ष्य तथा उसके कार्य समाविष्ट है।"

राजनीतिक चिन्तन का विस्तार कितना अधिक है इसका आभास हमें अफलातून, अरस्तु, सन्त टॉमस ऐक्वीनास, हीगल, ग्रीन तथा कार्ल मार्क्स सरीखे विचारको की कृतियो में मिल सकता है। राजनीतिक विचार को जीवन की विविध समस्याओं, जीवन के विविध पक्षो की माला मे गूथने वाले महात्मा गाधी तो हमारे ही देश मे और हमारी आँखो के समक्ष ही एक ज्वलन्त उदाहरण रख गये है। राज्य की प्रकृति तथा मानव समाज मे उसके स्थान के सम्बन्ध मे गाधी जी के विचारों को हम पूर्ण रूप से तब तक नही जान सकते जब तक कि हम मानव की आध्यात्मिक प्रकृति, परमात्मा तथा विश्व से उसके सम्बन्ध तथा उसके अन्तिम लक्ष्य के विषय में उनकी धारणाओं को न समझ लें। मनुष्य, उसके जीवन लक्ष्य तथा उसके सामाजिक कार्य-कलाप मे इतना गहरा और अटूट सम्बन्ध है कि पहिले को जाने बिना दूसरे को हम नही समझ सकते हैं; ऐसा प्रयास करना ही निरर्थक होगा। प्रत्येक विचारक की राजनीतिक मान्यतायें उसकी दार्शनिक धारणाओं से प्रभावित होती है।

उपरोक्त कथन मे हमे इस भ्रम मे न पड़ना चाहिए कि दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र इत्यादि सभी कुछ राजनीतिक विचार के अंक में लिपटा हुआ है। उसका केन्द्र-बिन्दु

तो राज्य ही है ; उसका प्रथम और अन्तिम ध्येय राज्य का चरित्र, उसके कार्य, उसका लक्ष्य, उसके विभिन्न रूपों की विवेचना करना है। हाँ, प्रासंगिक रूप से अन्य प्रश्न भी उठते हैं और एक राजनीतिक विचारक को उनका उत्तर देना होता है। राजनीतिक विचार की प्रकृति के विषय में अधिक विस्तृत रूप से विचार करने से पूर्व राज्य सम्बन्धी कुछ मुख्य समस्याओं का उल्लेख कर देना आवश्यक दिखाई देता है। किन्तु नीचे दी हुई समस्यायें केवल उदाहरण रूप है, उनकी कोई पूर्ण तालिका देना प्रायः असम्भव है।

राजनीतिक चिन्तन की कुछ समस्यायें—पाश्चात्य राजनीतिक विचार के आदि काल से ही जिस समस्या ने प्रधान रूप धारण किया वह है राज्य के स्वरूप। विभिन्न युगों में और एक ही युग में विभिन्न विचारकों ने इसके सम्बन्ध में विभिन्न तथा परस्पर विरोधी मत प्रकट किये हैं। अफलातून के पूर्वगामी सॉफिस्ट्स (Sophists) के मतानुसार राज्य एक कृत्रिम व्यवस्था है जिसे मनुष्य ने एक ऐसे लक्ष्य की पूर्ति के लिए बनाया है जो स्वाभाविक व्यवस्था के विपरीत है। इनकी ऐसी विध्वंसक प्रवृत्तियों से कुपित होकर ही अफलातून ने उनके सिद्धान्तों पर करारा प्रहार किया। कुछ अधिक क्रांतिकारी सोफिस्ट्स तो यहाँ तक कहते थे कि अपनी शक्ति के अनुसार दूसरों को अधीन बनाना तथा उनके ऊपर शासन प्रकृति का धर्म है। राज्य सबल का निर्बल पर शासन असम्भव बना देता है क्योंकि राज्य का लक्ष्य होता है बहुतमत की सेवा तथा रक्षा करना और बहुमत होता है सदा निर्बल व्यक्तियों का। इसलिए राज्य प्रकृति के ही विरुद्ध है। (स्पष्ट है कि इस तर्क के अनुसार सोफिस्ट्स का कोपभाजन केवल एक आदर्श जनतन्त्री राज्य है, शायद शक्ति और पशुबल उपासक आततायी राज्यों से उन्हें उतनी चिढ़ न होती।) उनका कहना है कि एक व्यक्ति को राजाज्ञा का पालन केवल उसी स्थिति में करना चाहिए जबकि वह ऐसा करने के लिए विवश हो, यदि हो सके तो उसकी अवहेलना ही करनी चाहिए। राज्य के सम्बन्ध में ये उद्गार अफलातून तथा अरस्तु की इस धारणा से बिल्कुल विपरीत हैं कि राज्य एक स्वाभाविक संघटन है क्योंकि मनुष्य की अन्तस्तम सामाजिक भावना से उद्भूत राज्य का स्वाभाविक विकास हुआ और राज्य में रह कर ही हम अपना सर्वोच्च विकास कर सकते हैं। राज्य की प्रकृति को अरस्तु ने अत्यन्त संक्षिप्त और सारगर्भित शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—"राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और जीवन को शुभ और सुखी बनाने के लिए वह जीवित है।" राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में अन्य कई धारणायें है। कुछ उसे दैविक सृष्टि समझ कर उसकी स्तुति करते हैं तो कुछ उसे आर्थिक रूप से सबलतर-वर्ग के हाथ में एक शोषण यन्त्र कह कर उसकी निन्दा करते हैं। प्रत्येक युग में और प्रत्येक देश में कुछ इने-गिने विचारक ऐसे भी हुऐ है और आज भी हैं जो राज्य को बिल्कुल अनावश्यक पाप समझते हैं, मानव जीवन के लिए उसका अपरिहार्य होना तो दूर रहा। इन विचारकों, जिन्हें अराजकतावादी (Anarchists) कहा जाता है, के अनुसार तो मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट विकास एक

राज्यहीन समाज में ही सम्भव है। इन परस्पर विरोधी और वैषम्यपूर्ण धारणाओं में किस में कितना सत्य है यह निर्णय करना सरल नहीं है। एक राजनीतिक चिन्तन का इतिहासकार तो इस प्रश्न के विभिन्न उत्तरों का दिग्दर्शन ही करा सकता है। ऐसा ही करने का प्रयास हम आगे चल कर करेंगे।

राज्य मनुष्यों का समूह मात्र नहीं है, यह उनकी तारतम्यपूर्ण इकाई है ? इस इकाई की एकता का मूल स्रोत कहाँ है और उसका स्वरूप क्या है ? राजनीतिक विचारकों के सामने यह दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। इसके भी विभिन्न उत्तर दिये गये है। कुछ के अनुसार यह एकता केवल यान्त्रिक है और कुछ के अनुसार यह जैविक (Organi) है। कुछ का विचार है कि इस ऐक्य का आधार स्वार्थ है और कुछ की धारणा है कि उसका स्रोत जनसमाज की सामान्य चेतना (General Will) है। इसी प्रकार अन्य बहुत से मन्तव्य है। राज्य का मूलभूत तत्व राजनीतिक संघटन है जिसकी विशेषता है शासक तथा शासित का विभेद। आदि काल मे जब कि मनुष्य की तर्कना शक्ति अधिक समुन्नत नहीं थी और समाज अधिक जटिल नहीं था राजशक्ति के प्रति अन्तर्निहित श्रद्धा उसका सहज स्वभाव था। मनुष्य समाज स्वभावतया एक शासक के सामने नतमस्तक हो जाता था। किन्तु जैसे-जैसे मनुष्य की विचार शक्ति बढ़ी और समाज का रूप जटिलतर होता गया, विश्वास का स्थान सन्देह ने और श्रद्धा का स्थान चुनौती ने ले लिया। वह पूछने लगा, "किसी व्यक्ति को और किस लिए अपने सहजातियो पर शासन करने का अधिकार है ? हम राजाज्ञा का पालन क्यो करें ? शासन शक्ति का आधार क्या है ? क्या एक सर्वबुद्धिमान ऋषि को शासन का अधिकार है, या कि एक अभिजात्य कुल के सम्मानित घटक को, या किसी धनपति कुबेर को अथवा अन्य, किसी प्रकार की विशिष्टता प्राप्त मानव को राजदण्ड ग्रहण करना चाहिये ?" इत्यादि-इत्यादि प्रश्न तर्क-प्रधान मनुष्य के मस्तिष्क को उद्वेलित करने लगे। इसी के साथ-साथ यह प्रश्न भी उठते है कि हम राजाज्ञा का पालन क्यो करें ? क्या हमें राज्य की अवहेलना करने का भी अधिकार है ? यदि है, तो किन परिस्थितियो मे ? इस प्रकार के प्रश्न विभिन्न युगों में उठते रहे है और उनके जो उत्तर मनीषियो ने दिये है राजनीतिक चिन्तन का वे एक महत्वपूर्ण भाग है।

इनसे भी अधिक मौलिक प्रश्न जो राज्य के बारे मे सदैव उठता रहा है वह है :—राज्य का लक्ष्य क्या है ? राज्य का जन्म क्यों हुआ और वह आज क्यों कायम है ? उसका कार्यक्षेत्र क्या है ? कुछ लोग राज्य को सर्वोत्कृष्ट मानव संस्थान समझते है जिसके द्वारा ही मानव समाज का सर्वोच्च कल्याण सम्भव है। उनकी भावना राज्य के सामने पूर्ण समर्पण की है। इसके ठीक विपरीत अराजकतावादी राज्य को मानव मस्तिष्क पर एक घोर कलंक और मानव वक्षस्थल पर एक भारी भार समझते हैं जिसे जितनी जल्दी धो दिया जाय, हटा दिया जाये, उतना ही श्रेयस्कर है। इन विरोधी ध्रुवों के बीच में भी कुछ लोग खड़े हैं जो राज्य को बुरा मानते हुए भी उसे आवश्यक समझते है और इसके कार्यक्षेत्र को नितान्त परिमित कर देना चाहते हैं। ये

लोग राज्य के लोकपालक रूप की तो अवहेलना करते है किन्तु लोकरक्षक के रूप में उसे अपरिहार्य समझते हैं।

राज्य के कार्यों की पूर्ति का यन्त्र है सरकार। सरकार का सगठन किस प्रकार का होना चाहिए ? सरकार के विभिन्न अंगो, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका में परस्पर एक दूसरे मे क्या सम्बन्ध होना चाहिए ? सरकार की शक्ति केन्द्रीभूत होनी चाहिए या उसे विकेन्द्रित कर देना चाहिए ? इत्यादि-इत्यादि प्रश्न सरकार के ढाचे के विषय मे उठते है। आज ये प्रश्न पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो उठे है।

राज्य की ध्येय पूर्ति तथा उसके कार्यपालन के लिए एक अन्य अनिवार्य सस्थान है कानून (Law)। इसके विषय में भी विभिन्न प्रश्न उठते हैं। कानून का स्वभाव क्या है ? क्या यह विशुद्ध और निर्लेप बुद्धि की अभिव्यंजना है या शासक की इच्छा की उद्घोषणा या जनता की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति ? कानून, बनाने का अधिकार किसे है ? राजसत्ता क्या है और उसका स्रोत कहा है ? कानून, स्वतन्त्रता तथा व्यक्ति मे क्या सम्बन्ध है ? इस प्रकार कानून, राज्य तथा नागरिको के अधिकार से उसके सम्बन्ध की विवेचना करने जब हम बैठते है तो बहुत सी सारपूर्ण धारणायें उत्पन्न होती है।

कानून के निकट और उससे सम्बद्ध विषय है नागरिकता के अधिकार एवं कर्तव्य। नागरिकता के अधिकार क्या हैं ? उन्हें सुरक्षित रखने का सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है ? अधिकार, स्वतन्त्रता, समानता, नागरिकता, सार्व-भौमिकता तथा कानून प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में राजनीतिक चिंतन का विषय रहे है।

राज्य की आन्तरिक समस्याओं के अतिरिक्त विभिन्न राज्यो में परस्पर सम्बन्ध की समस्यायें भी खड़ी होती हैं क्योंकि संसार मे अनेक राज्य है और वे न्यूनाधिक एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं ? इसी से ये प्रश्न उठते है कि उनमे उचित सम्बन्ध क्या होना चाहिए ? उचित सम्बन्ध का आधार क्या है ? राजनीतिक विचार के इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को विनियम्शित करने वाला अन्तर्राष्ट्रीय कानून कभी-कभी तो अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठता है। आज के युग मे उसका महत्व राजनीतिक धारणाओं मे सबसे अधिक है। आज तो मानवता का अस्तित्व ही एक शान्त, स्वस्थ और सहयोगपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण पर निर्भर करता है।

यह कुछ उन प्रश्नों और समस्याओं के नमूने है जो समय-समय पर एक राजनीतिक विचारक के सामने उठते रहे हैं। राजनीतिक चिन्तन के स्वरूप और स्वभाव की एक झाकी हमें देने के लिए ये पर्याप्त हैं। इस सूची को और लम्बा बनाना व्यर्थ है। इस प्रसंग मे हमे एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए। वह यह कि यद्यपि ये समस्त प्रश्न राजनीतिक दर्शन की प्रधान समस्यायें हैं, किन्तु प्रत्येक विचारक ने इन सब पर विचार नही किया है। सब ने अपनी-अपनी व्यक्तिगत रुचि तथा परिस्थितियों के अनुसार विशिष्ट प्रश्नों पर विशिष्ट बल दिया है। कभी-कभी तो न केवल व्यक्ति विशेष

बल्कि युग विशेप तक एक विशिष्ट समस्या के समाधान मे लगा रहा है और अन्य समस्याओं की ओर मे वह पूर्ण रूप से उदासीन रहा है। फिलिस डॉयल के शब्दों मे "कभी मानव स्वभाव जैसे कि पुनरुत्थान युग (Renaissance) में ; कभी धर्मशास्त्र, जैसे कि मध्यकाल में ; या कभी राज्य की प्रकृति जैसे कि अफलातून के समय मे यूनान में मानव विचार का सर्वोपरि केन्द्र विन्दु रहा है।" विभिन्न विचारकों की इस एकांगी रुचि तथा विभिन्न युगों के इस एकागी वल के कई कारण हैं।

राजनीतिक चितन तथा परिवेश (Environment)—सर्वप्रधान कारण यह है कि राजनीतिक चिंतन पर एक व्यक्ति और उस जाति के, जिसका कि वह एक घटक है, सामाजिक वातावरण तथा राजनीतिक अनुभूति का वडा गहरा प्रभाव पडता है। इनसे न केवल समस्याओं का रूप निर्धारित होता है वल्कि उनके समाधान भी उनमें निहित रहते हैं। राजनीतिक चितन शून्य मे नही होता। वह ठोस सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियो के रग मे रगा होता है। कार्ल मार्क्स की विचारधारा स्पष्ट रूप से उसके उस कटु अनुभव का परिणाम है जो कि उसने औद्योगिक युग में पूजीपतियो द्वारा निर्धन और निराश्रय श्रमिको के शोषण के रूप मे किया। यदि कुछ शताब्दी पूर्व या किसी औद्योगिक रूप से पिछड़े देश मे मार्क्स का जन्म हुआ तो निश्चित रूप से ही राज्य के सम्बन्ध मे उसके विचार भिन्न होते। निरन्तर वर्ग-संघर्ष के भयानक परिणाम पर वह शायद न पहुचता। इसी प्रकार भारतीय जीवन की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि मे ही गाधी जी का आविर्भाव सम्भव हो सका। यदि वह अमेरिका, जर्मनी, रूस इत्यादि देश मे उत्पन्न होते तो राजनीति मे सत्य और अहिंसा का समावेश कभी न कर पाते। प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति और प्रत्येक राष्ट्र की एक आत्मा होती है, उसका एक मन.स्थल होता है जिसका प्रतिबिम्ब ही उसके प्रतिनिधि विचारकों और मनीषियों के विचारों मे दिखाई पडता है। यही तो कारण है कि हम कभी ब्रिटिश रसायन-शास्त्र, ब्रिटिश जीव-शास्त्र, जर्मनी वनस्पतिशास्त्र की वात नही करते ; किन्तु हम ब्रिटिश राजनीतिक दर्शन, जर्मन राजनीतिक दर्शन, यूनानी राजनीतिक दर्शन का उल्लेख अवश्य करते है। विभिन्न राष्ट्रों ने, विभिन्न युगो मे विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं की रचना की है क्योंकि उनकी सामाजिक और राजनीतिक अनुभूतियो में गहरा वैभिन्य रहा है। इसलिए किसी व्यक्ति अथवा युग विशेष की राजनीतिक धारा को उसके सामाजिक और राजनीतिक प्रसंग से स्वतन्त्र रख कर समझने का प्रयास निष्फल होगा। एक विचारक के विचारो को भली प्रकार समझने तथा उसका मूल्यांकन करने के लिए यह जानना एकदम अपरिहार्य है कि उसका आविर्भाव कौन-सी परिस्थितियों में हुआ। इस वैभिन्य का दूसरा कारण भावात्मक है। विभिन्न विचारकों का वौद्धिक स्तर, अपने परिवेश को समझने तथा उसमें से सही परिणाम निकालने की शक्ति तथा व्यक्तिगत रुचि और शैशवावस्था मे ग्रहण किए हुए सस्कार अलग-अलग होते हैं। एक तिलक तथा एक गोखले अथवा एक गाधी और एक बोस मे अन्तर

भावात्मक है, वस्तु-आत्मक नही। एक ही वस्तुस्थिति विभिन्न व्यक्तियों में वि... तथा विपरीत प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती है।

साराश यह है कि एक राजनीतिक विचारक जिन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है, जिन प्रश्नों के उत्तर खोजता है, वे उसके समकालीन परिवेश, वातावरण, परिस्थितियो और इतिहास की उपज होते हैं, स्वय उसकी कल्पना नही। राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा बहुत बडी हद तक बाह्य जगत की वस्तुस्थिति द्वारा निर्धारित होती है। किन्तु यह सिक्के का केवल एक पहलू है। हमें यह न भूलना चाहिए कि एक मानव के लिए उसकी जाति, धर्म, सम्प्रदाय इत्यादि से भी बढ़कर मानवता है। मनुष्य के रूप मे समस्त मनुष्यो में बहुत बडी सामान्यता है और उसके हितों एव आवश्यकताओ मे एक ऐसा साम्य है जो देश, काल का अतिक्रमण करता है। यही कारण है कि कभी-कभी बहुत से विचारको की धारणाओ मे उनके देश, काल और परिस्थितियों में अन्तर होते हुए भी, एक सार्वभौमिक एवं स्थायी तत्व होता है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि एक राजनीतिक विचारक जहां अपने सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश मे आच्छादित होने के कारण उसकी विचारधारा उसके द्वारा सीमित और निर्धारित होती है वहां उसमें उन सीमाओं को लांघ कर नित्य सत्य को देखने की भी शक्ति है। अफलातून की 'रिपब्लिक' (Republic) और अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' (Politics) मे बहुत कुछ ऐसा है जो निरा यूनानी और हैलिनिक (Hellenic) है, अर्थात् जिसका महत्व केवल देशीय है; किन्तु इसके साथ ही साथ उनमें कुछ ऐसे महान् और अमर सिद्धान्तों की उद्भावना हुई जिनका महत्व सार्वकालिक और सार्वदेशीय है। २३०० वर्ष पहिले उनका जो मूल्य था वह आज भी है। इसीलिए तो हम आज उनका अध्ययन करते है और उनसे लाभ उठाते है। इसी प्रकार महात्मा गाधी मानवता को एक अमर सन्देश दे गए है यद्यपि उनके विचारों की उद्भावना स्वतन्त्रता सग्राम के प्रसंग में हुई और भारतीय विचार तथा प्रवृत्ति का उन पर गहरा प्रभाव है। राजनीतिक विचार के प्रत्येक विद्यार्थी को राजनीतिक विचारको के विचारो में शाश्वत को क्षणभंगुर से अलग करने का प्रयास करना चाहिए तभी वे उनका उचित मूल्यांकन कर सकेंगे।

यूरोपीय तथा अयूरोपीय राजनीतिक विचार— यदि प्रत्येक देश में समय-समय पर अपने निजी अलग-अलग राजनीतिक विचारो की उद्भावना की है तो हम इस विषय के अध्ययन का आरम्भ प्राचीन यूनानी विचार से ही क्यों करते है और प्राचीन भारत, मिश्र, चीन, वेबीलोन, ईरान, सीरिया इत्यादि की चिन्तन परम्परा मे अधिक रुचि क्यो नही लेते? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। आखिर यह सब महान् और प्राचीन जातियां राजनीतिक रूप से दीवालिया तो नही थी और राजनीतिक विचार का श्रीगणेश यूनान में तो नही हुआ। इन जातियों की सभ्यताओं का अन्वेषण करने से पता चला है कि सिद्धान्त और व्यवहार में उन्होने ऐसे विचारों की उद्भावना की जो आगे चलकर यूरोप वालों के मस्तिष्क मे भी आए। दूर न जाकर यदि हम अपने

देश का ही उदाहरण लें तो हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते है कि रामायण, महाभारत, शुक्रनीति मे ऐसे राजनीतिक विचार पाए जाते है जो श्रेष्ठतम यूरोपीय राजनीतिक चिंतन से किसी भी दशा में पीछे नही। विनय कुमार सरकार के कथन के अनुसार "भारत में भी ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं जिनकी पेरीक्लीज, सीजर, जस्टीनियन, शार्लमेन तथा फ्रेडरिक बैरबैरोसा के साथ आसानी से तुलना की जा सकती है और जो अपने गुणो के बल पर अपने यूरोपीय समकक्षों को चुनौती दे सकते है।"* कुछ लेखको की यह धारणा कि ये प्राचीन सभ्यतायें अराजनीतिक थी एकदम निराधार है और अज्ञान की सूचक है।

इन प्राचीन जातियो के राजनीतिक चिन्तन की यूरोपीय लेखकों द्वारा अवहेलना करने के दो कारण हो सकते हैं। प्रथम, इनके विचार यूरोपीय सभ्यता के इस प्रकार अंग कभी नही बने जैसा कि यूनान के। यदि हम पश्चिम की राजनीतिक चेतना का विश्लेषण करें तो हमे ज्ञात होगा कि उसमे भारत, मिश्र, चीन, ईरान, बेबीलोन की देन नगण्य है। इसके विपरीत इस विषय में यूरोप यूनान का बहुत अधिक ऋणी है; यूरोपीय राजनीतिक विचार पर प्राचीन यूनान की गहरी और स्पष्ट छाप है। दूसरे, इन देशों की, विशेषकर भारत की, राजनीतिक विचार साधना को स्वतन्त्र रूप से लेखबद्ध नहीं किया गया, जैसा कि यूनानवालो ने किया। उनकी राजनीतिक धारणायें उनके सम्पूर्ण साहित्य का ही एक अविच्छेद अंग है जो मुख्यतया धार्मिक और नैतिक है। रामायण, महाभारत और मनुस्मृति राजनीतिक ग्रन्थ नही, बल्कि धर्मशास्त्र है। भारत में राजनीतिक विचारो का ऐसा पृथक्करण नही हुआ जैसा कि प्राचीन यूनान मे किया गया। किन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा उसमें कतिपय विचार प्रणालियों का जो उल्लेख है उनको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत मे राजनीतिक चिंतन धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचार से स्वतन्त्र भी अध्ययन का विशिष्ट विषय रहा है। किन्तु बहुत सा प्राचीन साहित्य नष्ट हो गया है। यह बात बहुत बडी हद तक सत्य है कि प्राचीन भारतीयो की सरकार तथा शासन कला सम्बन्धी धारणाओ को जानने के लिए हमें एक बृहदाकार साहित्य को छानना पड़ेगा जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नही है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन की यह विशेषता गाधी जी की विचार-धारा में भी स्पष्ट है। महात्मा गाधी ने राजनीतिक विचारो को कभी एक क्रमबद्ध ग्रन्थ के रूप मे संगृहीत नही किया, वे उनके विभिन्न भाषणो तथा लेखो मे यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते है। उनमे ससार की बढती रुचि इसलिये है क्योकि भारत के आधुनिक घटनाचक्र पर उनकी गहरी छाप पडी और उन्होने राजनीति मे एक नई प्रक्रिया और कार्यपद्धति का आविष्कार किया और उसे निर्दोष पूर्णता प्रदान की।

प्रस्तुत पुस्तक केवल यूरोपीय राजनीतिक विचार तक ही सीमित है। इसमे प्रारम्भिक यूनानियों के राजनीतिक कल्प-विकल्प से लेकर मध्यकाल, जिसे एक दृष्टि से

*"The Hindu Pericleses, Caesars, Justinians, Charlemagnes and Frederic Barbarossas could easily challenge comparison with their Western peers on their own terms."

अराजनीतिक कहा जा सकता है, तथा आज तक के राजनीतिक विचारों का दिग्दर्शन कराया जायगा। प्रत्येक विचारक का स्वतत्र रूप से अध्ययन करना अथवा विभिन्न सिद्धान्तो पर तफसील के साथ विचार करना तो पुस्तक के आकार को दृष्टि मे रखते हुये असम्भव है। हम केवल कुछ प्रमुख विचारको और राजनीतिक चिंतन को उनमे से प्रत्येक की देन का अध्ययन करने का यहाँ प्रयास करेंगे।

राजनीतिक चिंतन के विकास से हमारा तात्पर्य है ? इस प्रसंग मे विकास का अर्थ सरल से जटिल मे बदल जाना नही है जो कि स्पेन्सर के अनुसार जीव जगत की एक प्रमुख विशेषता है। और न ही इसका अर्थ उस प्रकार की प्रगति से है जो गणित रसायन, भौतिक इत्यादि शास्त्रो मे होती रही है। यद्यपि राजनीतिक विचार से सम्बन्धित सभी समस्याये प्रत्येक युग मे नही उठी है और न प्रत्येक विचारक ने उन सबका अध्ययन किया है; विभिन्न रूप में, विभिन्न परिस्थितियो मे उठती रही है और उनके सम्बन्ध में विभिन्न मान्यतायें स्थापित हुई है, तथापि तात्विक रूप से वे एक ही रहती है और उनके उत्तरो में सामान्य तत्व रहता है, तफसील की बातो मे भले ही कुछ अन्तर रहता हो। कभी-कभी ऐसा भी देखने मे आता है कि एक विचार विशेष एक युग विशेष में प्रधान रहता है, फिर कुछ शताब्दियो के लिए बिल्कुल गायब हो जाता है, किन्तु अनुकूल वातावरण पाकर वह फिर से प्रस्फुटित हो उठता है। उसके पुनर्जीवित होने पर उस पर अधिक गहराई से और विस्तारपूर्वक विचार होता है। राजनीतिक विचार के विकास का अभिप्राय यह है।

विषय विभाग पाश्चात्य अथवा यूरोपीय राजनीतिक चिंतन को प्राय तीन युगों—प्राचीन, मध्य, तथा अर्वाचीन—मे विभाजित करने की परम्परा है। इनमे से प्रत्येक युग की अपनी-अपनी विशेषताये हैं। प्राचीन राजनीतिक चिंतन का केन्द्रबिन्दु था नगर राज्य। नगर राज्य के आदर्श ही उस समय प्रतिष्ठित थे। उस युग के सबसे महान् विचारक अफलातून तथा उसका शिष्य अरस्तु नगर राज्य को सामाजिक और राजनीतिक संघटन का सर्वश्रेष्ठ एवं पूर्ण रूप समझते थे। इस युग में राजनीतिक चिंतन का चरित्र आचार प्रधान था क्योकि नगर राज्य प्रधान रूप से एक नैतिक समाज होता था। नगर राज्यो के लोप हो जाते ही इस युग का भी अन्त हो गया और यह स्वाभाविक ही था। रोमन साम्राज्य के उत्थान एव आगे चलकर ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव ने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। मध्य युग की प्रधान तान थी सार्वभौमिकवाद (Universalism)। समस्त मानव प्राणी एक विश्वव्यापी समाज के घटक थे और उस समाज के दो प्रधान थे—एक रोमन सम्राट, दूसरा पोप। मध्य युग की मुख्य समस्या थी राज्य तथा चर्च में निश्चित सम्बन्ध निर्धारित करना। इस प्रकार मध्यकालीन राजनीतिक चिंतन का चरित्र प्राचीन काल के राजनीतिक विचार से बहुत भिन्न था; इसका केन्द्र-बिन्दु आचार शास्त्र न होकर धर्म था।

पुनरुत्थान (Renaissance) तथा सुधार (Reformation) ने मध्यकालीन यूरोप को अर्वाचीन रूप दिया। मध्य काल का लाड़ला विश्वव्यापी समाज समाप्त हो

गया ; उसका स्थान राष्ट्र राज्य ने ले लिया जिसका उस समय शनैः शनैः प्रादुर्भाव हो रहा था। राष्ट्र राज्य का चरित्र ही आज राजनीतिक विचार के चरित्र और रूपरेखा को निर्धारित करता है। आधुनिक युग में हॉब्स, लॉक, रूसो तथा मार्क्स सरीखे लेखकों के सामने जो समस्यायें आई है वे उनसे कहीं भिन्न हैं जो प्राचीन काल में अफलातून और अरस्तु तथा मध्यकाल में सन्त टॉमस ऐक्वीनास (St. Thomas Aquinas) तथा दांते (Dante) सरीखे विचारकों के सामने थी। वैज्ञानिक उन्नति तथा तद्जनित उद्योगवाद ने नई शक्तियों को जन्म दिया है, नई समस्याओं को उत्पन्न किया है। मानव जीवन तथा समाज का आर्थिक पहलू जिसकी प्राचीन तथा मध्य काल में अवहेलना की गई वह आज कितना महत्वपूर्ण तथा प्रधान हो उठा है। जब से औद्योगिक क्रांति हुई है और यांत्रिक विकास हुआ है राजनीतिक चिंतन पर आर्थिक धारणाओं का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। आने वाले पृष्ठो में हम प्रथम दो युगों अर्थात् प्राचीन और मध्य काल के प्रमुख विचारको के विचारो और चिंतन का विवरण देने तथा विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे। आधुनिक युग एक अलग पुस्तक के लिए

२ नगर राज्य का सिद्धान्त

परिचयात्मक—बार्कर (Barker) के 'ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी' नामक ग्रंथ का आदि वाक्य यह है :—"राजनीतिक चिंतन के जन्मदाता यूनानी है। इसका मूल स्रोत यूनानी मस्तिष्क का शांति एवं स्पष्ट बुद्धिवाद है।"* एक दृष्टिकोण से यह कथन सत्य है ; किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से यह निराधार है। यदि इसका अर्थ यह है कि यूनानियों से पहले जितनी भी सभ्यतायें हुई हैं वे सब राजनीतिक दृष्टिकोण से बजर थी और प्राचीन भारत, मिश्र, ईरान, चीन, बेबीलोन इत्यादि के निवासियो मे कोई राजनीतिक चेतना न थी, सरकार और राज्य के सम्बन्ध में उनकी कोई धारणाये न थी, तो उक्त कथन हमें अस्वीकार है ; उसमे कोई सार नही है। यदि यह सत्य है कि राज्य एक सर्वव्यापी, सर्वाधिक शक्तिशाली तथा सामाजिक संस्था है और जहाँ भी मानव जीवन है वहाँ किसी न किसी प्रकार शासन यन्त्र विकसित हो जाता तो फिर हम कैसे विश्वास करें कि कोई जाति, विशेषकर एक सभ्य और सुसस्कृत जाति, बहुत दिन बिना ही किसी राजनीतिक विचार को प्रस्फुटित किये हुए, जीवित रह सकी है ; इतिहासकारो तथा प्राचीन वस्तुवेत्ताओ ने जो अनुसन्धान किये है उनका निर्विवाद निष्कर्ष यह है कि प्राचीन भारत, चीन, मिश्र, ईरान तथा वेबीलोन के निवासियो ने न केवल राजनीतिक सस्थाओ की सृष्टि की थी बल्कि उन्होने राजनीतिक समस्याओ के ऊपर सोच विचार भी किया, कुछ परिणाम निकाले, कुछ धारणाये निश्चित की। मैक्सी के सुन्दर तथा सारगर्भित शब्दो मे, "हजारो वर्ष पुरानी सभ्यताओं का हमारा ज्ञान हमें यह बताता है कि इन लुप्त युगो की जातियों का राजनीतिक चिंतन कितना सम्पन्न है। विचार और व्यवहार, दोनों ही बातों मे उन्होंने यूरोपीय विचारो की पूर्व घोषणा की, उनके समकक्ष विचारो की सृष्टि की और एक सीमा तक तो कुछ ऐसे विचारो का शिलान्यास किया जो आगे चलकर यूरोपीय राजनीतिक चेतना मे घुल मिल गये।"†

* "Political thought begins with the Greeks. Its origin is connected with the calm and clear rationalism of the Greek mind"

† "The closer and fuller acquaintance with the civilization of remote millenniums which we now enjoy reveals an astonishing abundance of political ideas among the peoples of those vanished eras, and shows that both in thought and practice they anticipated, paralleled, and to some extent laid foundations for ideas which subsequently appeared in European political consciousness. It was in those ancient political systems that the human mind first came to

परन्तु यदि बार्कर के उक्त कथन का अर्थ यह लिया जाये कि यूनानियों की पूर्वगामी सभ्य जातियों ने राजनीतिक विचार की कोई नियमबद्ध और वैज्ञानिक उद्भावना नहीं की तो उसकी सत्यता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। निःसंदेह अफलातून और अरस्तू द्वारा किये हुए क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित राजनीतिक चिंतन का जोड़ उनसे प्राचीन जातियों में आसानी से नहीं पाया जा सकता। और यदि उन्होंने ऐसे ग्रंथों को जन्म दिया भी हो जिनकी तुलना अफलातून की 'रिपब्लिक' और अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' से की जा सके तो वे खोये जा चुके हैं और हमारे लिए अप्राप्य हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन अयूरोपीय जातियों की राजनीतिक साधना उस यूरोपीय परम्परा का अंग कभी नहीं बनी जिसे आज के संसार ने अपनाया हुआ है। वर्तमान राजनीतिक विचारधारा को समझने के लिए प्राचीन भारत, मिश्र, चीन इत्यादि देशों के विचारों को जानना अधिक आवश्यक नहीं। एक क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का सूत्रपात करने वाले यूनानी हों या न हों यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे आज के चिंतन के मूल में प्राचीन यूनानी विचार एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हजारों वर्ष प्राचीन यूनानियों की धारणायें और मान्यतायें आज भी कितनी नवीन और प्रभावशाली है। यूनानी राज्य दर्शन का कुछ ज्ञान प्राप्त किये बिना राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में हम अधिक नहीं बढ़ सकते। मेयर (Mayer) के जोरदार शब्दों में, "जीवन के प्रति यूरोप का जो दृष्टिकोण है, उसे समझने का जो प्रयास है उसकी समस्त भूमिकायें आदि काल से ही यूनानियों द्वारा स्थायी रूप से निर्मित हुई हैं। जब तक भी यूरोप ऐतिहासिक जगत को जानने का प्रयत्न करता रहेगा तब तक यूनानी विचार और धारणायें उसके लिए अपरिहार्य रहेंगे उनके बिना वह ज्ञान संभव ही नहीं है।"*

आखिर आदि काल की अन्य जातियाँ, जिन्होंने एक उच्च स्तर की सभ्यता और संस्कृति प्राप्त की, एक क्रमबद्ध राजनीतिक विचार की उद्भावना करने में क्यों विफल रही और प्राचीन यूनान एक स्वतंत्र राजनीति दर्शन और विज्ञान को जन्म देने में कैसे सफल हुआ? यह एक मनोरंजक प्रश्न है। इसका उत्तर यहाँ नहीं दिया जा सकता है क्योंकि हमारे प्रस्तुत प्रसंग से बाहर है। केवल इतना कहा जा सकता है कि प्राचीन यूनान तथा अन्य प्राचीन देशों के राष्ट्रीय चरित्र तथा राजव्यवस्था का अन्तर ही इस घटना के लिए प्रधान रूप से उत्तरदायी है। प्राचीन यूनान की जीवन

---

grips with the problems of government and first attempted to formulate ideas to account for the phenomena of politics and to systematise the exercise of political authority" —Maxey *Political Philosophies*, page 8.

* "The categories of European thought and approach to the understanding of life have been permanently moulded by the Greeks from the very [illegible] to know the [illegible] makes this [illegible]

—Mayer : *Political Thought—The European Tradition*, page 7.

के प्रति दृष्टि धर्म-निरपेक्ष और लौकिक रही, उसकी बुद्धि तर्कप्रधान रही और वहां छोटे-छोटे नगर राज्य उत्पन्न हुए जिनमें राजनीतिक जीवन की तीव्रता थी। ये सब बातें यूनान वालों के राजनीतिक चिंतन को एक क्रम तथा वैज्ञानिक रूप देने में सहायक हुईं। इसके विपरीत प्राचीन भारत, चीन इत्यादि देशों के निवासी पारलौकिक ग्रन्थियों को सुलझाने में इतने निमग्न रहे कि राजनीति जैसा सांसारिक विषय उनकी बुद्धि को पूर्ण रूप से न रमा सका। इसके अतिरिक्त इनमें बड़े-बड़े और विस्तृत राज्यों की स्थापना हुई जिनमें साधारण जनता का राजनीतिक जीवन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रहा और न विभिन्न शासन प्रणालियों का अनुभव ही उन्हें हो सका। परन्तु प्राचीन यूनान में छोटे-छोटे और अगणित नगर राज्य और उनमें विभिन्न प्रकार की शासन प्रणालियों के स्थापित होने तथा उनमें द्रुतगति से परिवर्तन होने से राजनीतिक चिंतन को सम्बल मिला और राजनीतिक चिन्तन को मिली अतुल विचार सामग्री। इस घटना में योग देने वाले विविध साधनों को प्रोफेसर बाउल (Bowle) ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :—"राजनीतिक चिन्तन के विकास में यूनानी नगर राज्य का प्रादुर्भाव एक आधारभूत महत्व रखता है। निकट पूर्वी साम्राज्य की भारी दिनचर्या, मिश्र और मेसोपोटामिया की नौकरशाही, 'ओल्ड टेस्टामेंट' के लौह युग के आततायियों का बुद्धिहीन अनुत्तरदायित्व नष्ट हुआ और एक नई वस्तु का उद्‌भाव हुआ। कल्पनापूर्ण बुद्धि की स्वतन्त्र क्रीडा, सूक्ष्मतम भावों को व्यंजित करने वाले विचारों तथा शब्दों का निर्माण, यूनानी आदर्शों का एक उद्देश्य तारतम्य—ये सब बातें राजनीतिक चिंतन के जगत में एक महानतम प्रगति की सूचना देती है।"*

यूनानी राजनीतिक विचार का क्षेत्र—यूनानी विचारकों का प्रधान आकर्षण-बिन्दु राज्य की प्रकृति तथा मनुष्य रहा जो तत्वतः एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है। राज्य और चर्च का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? औद्योगिक व्यवस्था किस प्रकार की होनी चाहिए ? इत्यादि-इत्यादि प्रश्नों पर, जो कि आगे वाले विचारकों का अध्ययन केन्द्र बने, उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। अन्य विषयों की भांति इस विषय की भी उन्होंने वैज्ञानिक गवेषणा की। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अर्थ है खुली और निर्लिप्त बुद्धि से काम लेना तथा तथ्यों का विश्लेषण करने के लिए सामान्यताओं का निर्माण करना।

---

* "For the development of political thought the emergence of the Greek City State is of cardinal importance. The heavy routine of Near Eastern Empire, the bureaucracy of Egypt and Mesopotamia, the reckless irresponsibility of the iron-age tyrants of the Old Testament, give place to something new. The free play of speculative intelligence, the brilliant formulation of vocabulary of thoughts in a language expressive of the subtlest shades of meaning, the purposive coherence of Greek ideals—all these things mark the greatest step forward that political speculation has ever made."

—John Bowle : *Western Political Thought*, page 42.

मनुष्य की मौलिक सामाजिक प्रकृति की सबसे पहिले यूनानियो ने अनुभूति की और उसके ऊपर समुचित बल दिया। सुविख्यात सूत्र कि 'मनुष्य राजनीतिक प्राणी है' यूनानियो द्वारा ही रचा गया था। इसी सत्य को यह कह कर भी अभिव्यक्त किया जाता है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' अर्थात् सामाजिक संघटन से अलग और स्वतन्त्र मनुष्य की कल्पना ही नही की जा सकती। मनुष्य अपनी मानवता का विकास केवल समाज मे रहकर ही कर सकता है। समाज का सदस्य रहकर ही वह जीवित रह सकता है, कार्य कर सकता है तथा अपना विकास कर सकता है। समाज में ही वह जन्म लेता है, समाज ही उसका पालन-पोषण करता है, समाज ही वह सामग्री तथा परिस्थितिया जुटाता है जो उसके विकास के लिए परमावश्यक हैं। 'मनुष्य राजनीतिक प्राणी है' यह यूनानी विचारको की खोज है, चिंतन धारा और राजनीतिक विचार के लिए उनकी प्रमुख देन है।

क्योकि राज्य के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास नही हो सकता इसलिए यूनानी विचारको ने राज्य को अपने अध्ययन तथा विचार का केन्द्र बनाया। उन्होंने राज्य के मूल, लक्ष्य तथा उद्देश्य के ऊपर गहरा विचार किया है। अपने विकास, परिवर्तन और परिवर्धन की प्रक्रिया मे राज्य ने जो विविध रूप धारण किए यूनानियो ने उनमे एक दूसरे मे विभेद स्पष्ट किया और उनका नामकरण किया। एकतन्त्र (Monarchy) कुलीनतन्त्र (Aristocracy), भ्रष्टतन्त्र (Oligarchy), जनतन्त्र (Democracy) तथा आततायीतन्त्र (Tyranny) सज्ञायें हमें यूनानियो ने ही प्रदान की हैं। वे इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे और इसे एक महत्वपूर्ण बात समझते थे कि सरकार का रूप परिवर्तन होता रहता है। उन्होने इस परिवर्तन क्रम तथा उसे नियमित करने वाले कानूनों को जानने का प्रयत्न किया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की समस्या में भी उन्हे काफी अनुराग था और उन्होने यह देखने का प्रयत्न किया कि राज्य की शक्ति और व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे क्या सम्बन्ध है और पूर्वोक्त उत्तरोक्त को कहा तक सीमित करती और उसके ऊपर प्रतिबन्ध लगाती है। शिक्षा को वे अत्यन्त महत्व देते थे; राज्य तथा शिक्षा के परस्पर सम्बन्ध की उन्होने विवेचना की। राजसत्ता का आधार क्या है और हमें राजाज्ञा का पालन क्यो करना चाहिए? इस आधारभूत प्रश्न पर उन्होंने गहरा विचार किया और उन समस्त आधारो का विश्लेषण किया जिनके ऊपर विभिन्न सामाजिक-वर्ग राजसत्ता पर अपना दावा जताते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि कुछ प्रकार की सरकार अधिक टिकाऊ होती है और कुछ कम। उन्होने सरकार की अस्थिरता के कारणों को जानने का प्रयास किया तथा उन्हे दूर करने के सुझाव पेश किए। इनमें से अधिकतर समस्यायें नित्य और शाश्वत हैं तभी तो यूनानियो का राज्य दर्शन हमें आज भी आकृष्ट करता है और हमारे अध्ययन तथा सम्मान का पात्र बना हुआ है।

इन तथा अन्य कतिपय प्रश्नो का जो समाधान यूनानी विचारकों ने किया है उस पर नगर-राज्य के स्वरूप का बहुत प्रभाव पड़ा क्योकि नगर-राज्य ही उनके

चिन्तन की पृष्ठभूमि थी और उसी से उन्हें अपनी अध्ययन सामग्री प्राप्त हुई थी। यूनानी राजनीतिक विचार को समुचित रूप से समझने तथा उसकी व्याख्या करने के लिए नगर-राज्य तथा उसके निवासियों की जीवन पद्धति का कुछ ज्ञान अपरिहार्य है। अत. इसके विषय में दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा।

नगर-राज्य—उपरोक्त तथा ऐसे ही बहुत से अन्य प्रश्नों का जो समाधान यूनानियों ने किया है उसकी पृष्ठभूमि प्राचीन यूनान के नगर-राज्य है। नगर राज्य के परिवेश की गहरी छाप यूनानियों के चिन्तन पर पड़ी है। इसलिए नगर-राज्य के चरित्र और स्वरूप को समझे बिना हम प्राचीन यूनानी विचार को पूर्णरूपेण नही समझ पायेंगे। नगर-राज्य का अर्थ और महत्व समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम नगर और राज्य शब्दों को आधुनिक अर्थ में न लें। आज की शब्दावली में तो प्राचीन नगर-राज्य को न हम नगर ही कह सकते है और न राज्य ही।

बम्बई, कलकत्ता या दिल्ली सरीखा आधुनिक नगर एक वृहद् नरसमूह है जो मुख्यतया आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघटित हुआ है। इसके निवासियों का कोई सामान्य (Corporate) जीवन नहीं है, न उनका कोई सामान्य उद्देश्य है; हम उन्हें एक जाति नहीं कह सकते। एक ग्राम के सदृश एक नगर की अपनी एक विशिष्ट आत्मा नही होती। नगर एक भौगोलिक इकाई है, सामाजिक इकाई नही। एक नगर निवासी की अपने नगर के अन्य सभी निवासियों को जानने की बात तो दूर रही, ऐसा तो आजकल प्रत्यक्ष रूप से असम्भव है, एक मौहल्ले और गली के लोग भी एक दूसरे से भली प्रकार परिचित नहीं होते। आधुनिक नगर में कभी तो एक व्यक्ति अपने घर से तीसरे घर में रहने वाले को भी नही जानता। इसमें विपरीत यूनानी नगर राज्य एक सामाजिक इकाई (Community of men) था, उसका एक सामान्य लक्ष्य और जीवन था। वहा के निवासी एक दूसरे के सामाजिक जीवन में भागीदार थे; उनमें एक प्रकार का सौहार्द था। उसे यदि हम एक सामाजिक क्लब कहे तो अनुचित न होगा। आज की सामाजिक क्लबों में तो वर्ग-भेद भी देखने में आता है, किन्तु यूनानी नगर-राज्य में सभी सामाजिक वर्ग पूर्ण भाग लेते थे। बार्कर के शब्दों में "यह एक सामान्य जीवन का स्थान था। यह विभिन्न वर्गों का संघ था। इसकी चारदीवारी के अन्तर्गत मनुष्य एक सामान्य तथा स्वाभाविक जीवन में गुथे हुए थे। धन, कुल तथा संस्कृति के विशेष सम्मान चाहे इसने समाप्त न किया हो; किन्तु समस्त वर्गों में परस्पर एक सरल व्यवहार की इसने अवश्य स्थापना की।"*

प्राचीन यूनान के नगर-राज्य की यदि हम एक विद्यालय से तुलना करे तो उसके वास्तविक चरित्र पर कुछ प्रकाश पड सकेगा। जिस प्रकार कि एक शिक्षण

* "It was the place of a common life and the home of a union of classes. Life within common walls drew men together in a natural intimacy. If it did not abolish the prestige of wealth and birth and culture, it established a tradition of easy intercourse between all classes."

—Barker: *Plato and His Predecessors*, page. 19.

जीवन निहित था ; राज्य के बाहर तो वहां नागरिक की कल्पना नहीं की जा सकती थी। प्राचीन यूनानियों के लिए जीवन की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा आर्थिक पहलू न केवल अन्योन्याश्रित थे, वरन् एक दूसरे के अनुरूप थे। इसलिए सरकार का कार्यक्षेत्र असीम और अपरिमित था ; समस्त सामाजिक जीवन उसकी परिधि के अन्तर्गत आता था। इस घटना के कारण है। एक तो यह कि प्राचीन यूनान में व्यक्तिगत गृह-जीवन का वह महत्व नहीं था जो आज है। दूसरा यह कि वहां धर्म एक सार्वजनिक कर्तव्य था, धार्मिक उत्सव नागरिक स्तर पर मनाये जाते थे ; धर्म राज्य से अलग ऊपर कोई शक्ति न थी। धर्म व्यक्ति की आत्मा का ही विषय न था वह राज्य का एक अभिन्न अंग था। जीवन और राजनीति में जो घनिष्ठता वहां थी उसका अनुभव हम आज नहीं कर सकते। राज्य का महाकाय आकार और मानव जीवन की बढ़ती हुई जटिलता और विविधता तथा यन्त्र के विकास से उत्पन्न हुई समस्यायें ऐसा होना असम्भव बनाती हैं। सेबाइन (Sabine) के शब्दों में, आधुनिक राज्य अपेक्षाकृत इतने बड़े, इतने अव्यक्तिगत है कि आधुनिक जीवन में वे वह स्थान कदापि ग्रहण नहीं कर सकते जो प्राचीन यूनान के जीवन में एक नगर-राज्य को प्राप्त था।

सारांश यह कि प्राचीन नगर-राज्य और समाज एक दूसरे के सर्वथा अनुरूप थे। अरस्तु के इस कथन का कि 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है' यह भी अभिप्राय था कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' राज्य और चर्च, राज्य और समाज, राज्य और सरकार तथा समाज और सरकार में जो भेद आज वर्तमान है और जिसे हम दूर नहीं कर सकते वह प्राचीन यूनान में था ही नहीं। उनके लिए जीवन राजनीतिक और सामाजिक कोष्ठों में विभक्त नहीं था। आज तो राज्य हमारे सम्पूर्ण जीवन के कार्य-कलाप के इतने थोड़े से भाग पर आच्छादित है कि हमें यह बड़ा विलक्षण दिखाई पड़ता है कि एक युग ऐसा भी रहा है कि जिसमें सामाजिक और राजनीतिक शब्दों को ही पर्यायवाची समझा जाता था।

अरस्तु के कई प्रसिद्ध कथन नगर-राज्य के उपरोक्त चरित्र की ही तर्कपूर्ण उद्भावना है। एक ऐसे ही समाज के लिए तो अरस्तु यह कहता है कि किसी भी जाति में पदवितरण योग्यता के अनुसार होना चाहिये ; अथवा "समुचित न्याय करने के लिए तथा योग्यतानुसार पद प्रदान करने के लिए नागरिकों को एक दूसरे के चरित्र से परिचित होना नितान्त आवश्यक है।" ऐसे ही समाज को दृष्टि में रखते हुए उसने यह कहा था कि जन-साधारण को राजशक्ति में भाग इसलिये मिलना चाहिये कि कुछ व्यक्तियों की अपेक्षा जन-समाज की निर्णयशक्ति अधिक प्रखर होती है "क्योंकि कुछ व्यक्ति एक पहलू को देखते है और कुछ दूसरे पहलू को किन्तु एक साथ मिलकर वे प्रत्येक पहलू को देख पाते हैं।"*

* "It is of such a society that Aristotle is speaking when he advocates the allocation of offices in any community according to worth ; or 'mutual acquaintance with one another's character is necessary to the citizens, both

सामूहिक चरित्र के अतिरिक्त नगर-राज्य की एक दूसरी मुख्य विशेषता है उसका आत्मनिर्भर होना। अफलातून तथा अरस्तु दोनो ही नगर-राज्य को आत्मनिर्भर मानते है। अरस्तु के अनुसार राज्यो, कुटुम्बो तथा ग्रामों का एक ऐसा संघ है जिसका लक्ष्य एक सुखी एव आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है। 'आत्मनिर्भर' शब्द का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट और सुनिश्चित नही है। इसका अर्थ आर्थिक स्वावलम्बन हो सकता है किन्तु यह अर्थ ठीक प्रतीत नही होता क्योकि विभिन्न नगर-राज्यों को विभिन्न मात्रा मे बाहर से सामान मगाना पडता था। आर्थिक दृष्टिकोण से नगर-राज्यो को आज के राष्ट्र-राज्यो की अपेक्षा अधिक आत्मनिर्भर नही कहा जा सकता। इसका यह अर्थ अधिक सगतिपूर्ण होगा कि नगर-राज्य एक सुखी तथा अच्छे जीवन की आवश्यक सुविधायें प्रदान करता था।

नगर-राज्यो की एक और मुख्य विशेषता थी जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं। उनमे से अधिकतर का आकार तो उत्तर-प्रदेश के कुछ जिलो से भी छोटा था। नगर-राज्य क्षेत्र के दृष्टिकोण से बडे सकीर्ण थे। कुछ लोगो का विचार है कि यूनानी नगर-राज्य एक भौगोलिक तथ्य था ; यह यूनान की भौगोलिक स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था। पर्वतों, नदियो तथा घाटियों ने देश को प्राकृतिक रूप से ही बहुत से राज्यों मे विभक्त कर दिया था। किन्तु यह सर्वथा सत्य नही है। यदि ऐसी बात होती और यूनान का भूगोल ही वहाँ के नगर-राज्यों के नागरिक चरित्र का एकमात्र कारण होता तो आज सारा यूनान एक सघटित राष्ट्र के रूप मे हमारे सामने न होता क्योकि यूनान की भौगोलिक और प्राकृतिक स्थिति तो तब से नही बदल गई है। प्राचीन काल में भी यूनानियो में एकता की भावना थी। विभिन्न राज्यों मे रहते हुये भी वे अपने रक्त, भाषा, रहन-सहन तथा धर्म की एकता से परिचित थे। वे अपने आपको सभ्य तथा अयूनानियो को बर्बर समझते थे। इस एकता की चेतना के बावजूद यदि यूनानी लोग अपने लिए एक सरकार की स्थापना न कर सके तो इसका कारण हमे उनके अज्ञान अथवा उनकी भौगोलिक स्थितियो मे नही खोजना चाहिये। वास्तव में यह वस्तु-स्थिति एक आदर्श का परिणाम है। प्राचीन यूनान निवासी नगर-राज्य को सामाजिक सघटन का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोच्च रूप समझते थे। छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यो मे रहने पर उन्हे गर्व था क्योकि ऐसे राज्य को वे शासन का सर्वोत्तम रूप मानते थे। अफलातून तथा अरस्तु की रचनायें इसी आदर्श की महिमा से ओत-प्रोत हैं। मकदूनिया (Macedonia) तथा रोम के साम्राज्य मे विलीन हो जाने पर भी नगरों की जीवन शक्ति बनी रही। हाँ, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाने वाली बहुत सी शक्तियो का उस युग में अभाव था।

for decisions on points of justice and for the proper award of office according to worth.' It is of such a society, again, that he is thinking when he justifies the right of the masses to a share in political power by the consideration 'that the masses have a better faculty of judging; for some see one aspect, some another, but all together see every side." —Barker : *Ibid*, page 19.

यूनानी नगर-राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे एक और बात स्मरणीय है। वह यह कि उसमें राज्य और व्यक्ति एक दूसरे के जीवन मे इतने घुले-मिले थे कि उनमें परस्पर विरोध का प्रश्न ही नही उठता था ; व्यक्ति तथा राज्य के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे कोई समस्या वहाँ न थी। जिस प्रकार कॉलिज तथा उसके विद्यार्थियो मे और एक क्लब तथा उसके घटकों में किसी विरोध की कल्पना हम नही कर सकते, इसी प्रकार यूनानी नगर-राज्य तथा उसके नागरिकों के हितों में संघर्ष की कोई आशंका नही हो सकती थी। वे तो एक दूसरे के पूरक थे, विरोधी नहीं। व्यक्तिवादी धारणाओ को यूनानियो ने कोई प्रश्रय नही दिया। इसका अर्थ यह नही है कि उन्होंने व्यक्ति को राज्य मे पूर्ण रूप से विलीन कर दिया, उसके व्यक्तित्व को ही नष्ट कर दिया, जैसा कि सर्व-भक्षक (Totalitarian) राज्यों मे होता है। प्राचीन यूनानियों ने व्यक्ति के महत्व को पूर्ण रूप से समझा था ; व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्वीकार किये बिना राजनीतिक चिंतन ही अधिक सम्भव नही है। बार्कर का कहना है कि "सैद्धान्तिक रूप से राजनीतिक विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि राज्य से स्वतन्त्र रहकर भी व्यक्ति का अस्तित्व स्वीकार किया जाये ; नगर-राज्य में व्यवहारिक रूप से इस आवश्यकता की पूर्ति की जाती थी। एक यूनानी नागरिक पूर्ण रूप मे अपने नगर से तद्रूप होते हुये भी काफी स्वतंत्र था।"

यूनानी राजनीतिक विचार की विशेषतायें—नगर-राज्य के स्वरूप का दिग्दर्शन हम कर चुके हैं। आइये अब यूनानी राजनीतिक विचार का जिस पर कि नगर-राज्य की एक अमिट तथा गहरी छाप पड़नी स्वाभाविक थी, अध्ययन करें। यह तो बताया ही जा चुका है कि नगर-राज्य प्रधान रूप से एक भौगोलिक इकाई नही था, वह तो एक सामान्य जीवन व्यतीत करने वालो का एक संगठन (Community) था। उसका लक्ष्य नागरिकों के लिए सुन्दर तथा सुखी जीवन को सम्भव बनाना था, अर्थात् उसका एक नैतिक लक्ष्य था। इसीलिये वह एक नैतिक संघटन था। आज का राज्य अपने नैतिक पहलू की अपेक्षा कानूनी पक्ष पर अधिक महत्व देता है। उसका लक्ष्य नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना इतना नहीं है जितना कि अपने नागरिकों को आर्थिक रूप से सम्पन्न बनाना। नगर-राज्य के सदस्य राजभक्ति अथवा राज्य दण्ड के भय के कारण एक सूत्र में नही गुंथे थे बल्कि उसका आधार एक सामान्य आध्यात्मिक तत्व था जिसका प्रकाशन राज्य के कानून तथा जीवन विधि के रूप में होता था। नगर-राज्य एक नैतिक समुदाय था जिसका लक्ष्य धर्म की प्राप्ति था। इसलिये इसके द्वारा प्रभावित होने वाले राजनीतिक विचार का भी नीति-प्रधान होना स्वाभाविक ही था। अफलातून, अरस्तु तथा अन्य विचारको ने नैतिक दृष्टिकोण से ही इसकी गवेषणा की है। उन्होंने ऐसे समाज के साध्य तथा समुचित साधनों की मीमासा की ; उन्होंने उसके वाह्य संघटन के विषय में अधिक नही सोचा। शक्ति के केन्द्रीकरण अथवा विकेन्द्रीकरण या धारा सभा के संघटन इत्यादि की समस्याओं को उन्होंने नही सुलझाया। उनके हाथ में पड़कर राजनीति विज्ञान समस्त समाज का एक आचारशास्त्र

बन गया जिसका उद्देश्य समाज की भलाई तथा उसे प्राप्त करने के लिए उचित साधनों की खोज करना था। तभी तो हम देखते हैं कि अफलातून की 'रिपब्लिक' (Republic) राजनीति का भी ऐसा ही ग्रंथ है जैसा कि आचार-शास्त्र का। इसका उपनाम है 'न्याय विषयक' (Concerning Justice)। इसी प्रकार अरस्तु भी आचारशास्त्र को राजनीति की भूमिका मानता था; उसके मतानुसार ये दोनों विद्या मिलकर सम्पूर्ण ज्ञान का निर्माण करती हैं। अरस्तु के लिए आचार-शास्त्र कोई अलग और स्वतंत्र विज्ञान नहीं था। "राजनीति विज्ञान एक त्रिमूर्ति है। यह राज्य दर्शन है; परन्तु यह नीतिदर्शन तथा न्यायदर्शन भी है। इसमें ये दो विषय सम्मिलित हैं जिन्हें अब इस क्षेत्र से हटा लिया गया है और जिनका अब अलग से अध्ययन किया जाता है।"*

राजनीति विज्ञान का उद्देश्य है इस बात की खोज करना कि समाज की भलाई, उसका हित किस बात में है और किस व्यवस्था में उसकी सिद्धि हो सकती है। इसीलिए इस विज्ञान की प्रवृत्ति व्यावहारिक होना आवश्यक ही था। राजनीति विज्ञान के ऊपर लिखे गये ग्रन्थ को एक राजनीतिज्ञ के पथ-प्रदर्शन के लिए एक नियमावली समझा जाता था। अफलातून के विषय में तो यह कारण विशेष रूप से सही है, क्योंकि उसका विश्वास तो यह था कि सिद्धान्त का व्यवहार में तथा ज्ञान का कर्म में सदैव प्रयोग होना चाहिये। तभी तो उसने एक दार्शनिक राजा को दीक्षित करने का प्रयत्न किया था। उसकी अकाडेमी (Academy) व्यवस्थापकों की जन्मस्थल बन गई थी। इसी व्यवहारिक प्रवृत्ति के कारण यूनानी राजनीति के शास्त्र में व्यवस्थापक को प्रधान स्थान दिया गया। आखिर व्यवस्थापक ही तो उस राज्य की रूपरेखा निर्धारित करता है जिसके द्वारा समाज अपने लक्ष्य पर पहुंचने का प्रयास करता है। हमें याद रखना चाहिये कि अफलातून का ग्रन्थ 'रिपब्लिक' कोरा सैद्धान्तिक विश्लेषण नहीं है। उसकी रचना अफलातून ने राजनीतिज्ञों को सचेत करने तथा व्यवहारिक कार्य व्यापार में उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिये की थी।

यूनानी राजनीतिक विचार की एक दूसरी विशेषता भी ध्यान देने योग्य है; वह भी नगर राज्य में ग्राम्य चरित्र का ही परिणाम है। प्रत्येक नगर राज्य अपनी ही हित-साधना में मग्न रहता था; एक दूसरे के हितों की चिन्ता वे न करते थे। इससे भी खराब बात यह थी कि विभिन्न राज्यों के राजनीतिक आदर्श परस्पर विरोधी थे; उनमें परस्पर ताल मेल बैठाना बड़ा कठिन था। कहीं एक स्वार्थपूर्ण वर्गशाही (Oligarchy) थी तो कहीं जनतन्त्रवाद। राजनीतिक आदर्शों की इसी विभिन्नता और परस्पर विरोध के कारण ही तो वे बहुत दिन तक पूर्व से आने वाले एक सामान्य शत्रु के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा न लगा सके। ऐथन्स तथा स्पार्टा के प्रसिद्ध राज्यों

* "Political science is a triology. It is a theory of State; but it is also a theory of morals and a theory of law. It contains two subjects which have since been removed from its scope and treated as separate spheres."
—Barker; *Ibid*, page 6.

के अभ्युदय ने यह संकट कुछ दिनो के लिये अवश्य दूर किया ; परन्तु ज्योंही सामान्य खतरा टला दोनों राज्यों की एकता और मित्रता नष्ट हो गई। दोनों में एक युद्ध छिड़ा जिसका परिणाम हुआ ऐथन्स का पतन।

प्राचीन यूनान मे न केवल अन्तर्राज्य संघर्ष था, वरन् एक राज्य के भीतर ही जनतन्त्री तथा वर्गतन्त्री गुटो में भी संघर्ष और वैमनस्य था। दूसरे राज्य के मित्रगुटो की सहायता से कभी एक गुट शक्ति प्राप्त कर लेता था तो कभी दूसरा। इस प्रकार से विभिन्न राज्यो के संविधान और राज्य व्यवस्था में हिंसात्मक तथा आमूलचूल परिवर्तन होते रहते थे। इन गृहयुद्धों की एक विलक्षण तथा प्रधान विशेषता यह थी कि साधारणतया एक नगर का गठबन्धन दूसरे राज्य से नही होता था, वरन् एक राज्य के गुट दूसरे राज्य मे अपने सहविचारगामी गुटों से गठजोड करते थे। फलस्वरूप समस्त यूनान मे अमीर तथा गरीब के बीच मे एक निरंतर संघर्ष छिड़ा रहता था जिसका स्वाभाविक परिणाम राजनीतिक अस्थिरता और अनिश्चितता का फैलना था। अफलातून और अरस्तु, दोनो की रचनाओं मे इस आन्तरिक कलह तथा राजनीतिक अस्थिरता को दूर करने का प्रयास स्पष्ट दिखाई पड़ता है ; उन्होने राज्य रूपी शरीर की रचना का वर्णन मात्र नही किया बल्कि उसके रोग के निदान का प्रयास भी किया। वे विश्लेषण तथा व्याख्या भर से ही सन्तुष्ट नही हुये ; उन्होने उपचार करने की भी चेष्टा की। उन्होंने परस्पर विरोधी आदर्शों मे समन्वय करने, गुटबन्दी तथा उससे उत्पन्न होने वाले द्वेष और कलह को समाप्त करने तथा विध्वंसक शक्तियो के नियन्त्रित करने के साधनों की खोज की। उनका उद्देश्य ही अस्थिरता को समाप्त करके एक स्थायी राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करना था। अफलातून का विचार था कि एक दार्शनिक शासक तथा भौतिक चिन्ताओं से मुक्त एक शासक तथा सैनिक वर्ग की सृष्टि से इस लक्ष्य की सिद्धि हो सकेगी। अरस्तु को रोग का इलाज 'कानून द्वारा शासन' मे दिखलाई पड़ता था। इस प्रकार यूनानी राजनीतिक विचार केवल बौद्धिक न रहकर व्यवहारिक तथा उपचारात्मक हो उठा।

नगर राज्य तथा दास प्रथा (Slavery)—कहा जाता है कि प्राचीन यूनान के राजनीतिक जीवन का आधार दास प्रथा था। कुछ लोगो की धारणा है कि नागरिकों को अपने नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए आवश्यक अवकाश दासों के परिश्रम के कारण ही मिल पाता था। इसलिये दास प्रथा यूनानी सभ्यता का एक अंग थी और राजनीतिक जीवन का एक आधार थी। अरस्तु ने तो खुले आम दास प्रथा की वकालत की है और अफलातून ने भी उसकी कहीं भर्त्सना या निन्दा नहीं की। लगभग सभी यूनानी विचारक उस शारीरिक श्रम को तुच्छ तथा हेय समझते थे जो दासों को करना होता था। स्मरण रहे कि प्रत्येक नगर राज्य मे काफी बड़ी सख्या में दो दास रहते थे। उन्हे कोई नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे इसलिए वे नागरिकता की परिधि से बाहर थे। इस स्थिति के होते हुये हम इस पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि प्राचीन यूनान मे ऐथन्स नगर का राज्य जिसे

अफलातून का जन्म तब हुआ जब कि ऐथन्स अपने स्वर्ण युग को पार कर चुका था और अवनति के मार्ग पर जा रहा था। महान् विचारक तथा राजनीतिज्ञ पेरीक्लीज (Pericles) मर चुका था और जनतन्त्र का स्थान वाग्वीरता तथा आततायी-शाही ने ले लिया था। ऐथन्स के जनतन्त्रवाद ने ही तो अफलातून के परमप्रिय गुरु महर्षि सुकरात की हत्या करके न केवल मानवता के अपितु स्वयं दर्शन और श्रेयस् के विरुद्ध एक घोर पाप किया था। अफलातून भला यह कैसे भूलता? स्पार्टा के साथ युद्ध में ऐथन्स को नीचा देखना पड़ा था। ऐथन्स के पतन एवं अपमानजनक कार्यों से अफलातून तथा उसके शिष्य अरस्तु की आत्मायें खिन्न तथा चिन्तित हो उठी। उन्होंने ऐथन्स के अधःपतन के कारणों की खोज की और स्थिति सुधार के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किये। परन्तु ऐथन्स में सुधार न हो सका। वह पहिले तो मकदूनिया के सामने परास्त हुआ और फिर उसने रोम की महान् शक्ति के सामने घुटने टेक दिये।

ऐथन्स तथा स्पार्टा मे बहुत सी स्पष्ट तथा महत्वपूर्ण विभिन्नतायें थी। ऐथन्स का राजनीतिक अनुभव कही अधिक विस्तृत था क्योंकि उसने उन सभी विभिन्न अवस्थाओं को देखा था जिनमे से यूनान नगर राज्यो को साधारणतया गुजरना पड़ा था। अन्त मे जाकर वह एक उग्रतम जनतन्त्र बन गया। किन्तु स्पार्टा में इस प्रकार की विविधता नही थी; उसकी राजनीतिक और शासन पद्धति मे एक समरसता रही। उसमे एक वर्ग-तन्त्र था और राजनीतिक शक्ति केवल उन मुट्ठी भर लोगो के हाथों में केन्द्रित थी जिनकी रगों में शुद्ध स्पार्टन रक्त प्रवाहित था। यह शासक-वर्ग समाज का सबसे छोटा-वर्ग था; इसके अतिरिक्त पीरियोकी (Perioiki) तथा हैलोट्स (Helots) नाम के दो वर्ग और थे। ऐथन्स एक सुसस्कृत राज्य था; वहा नागरिक स्वतन्त्र थे। स्पार्टा के लोग कभी भी सस्कृत नही रहे। उन्हें अपनी राजनीतिक प्रभुता को सुरक्षित रखने के लिए कठोर कानून और कठोर अनुशासन के शिकंजे मे जीवन को कसना पड़ा। उनकी सारी व्यवस्था का केवल एक ध्येय था, वह था ऐसे वज्रकाय पुरुषों और स्त्रियों को उत्पन्न करना जो वीर सिपाही तथा परिश्रमी मातायें बन सकें। एक स्पार्टन का जीवन घर में नही सैनिक शिविरो मे व्यतीत होता था। उसके जीवन मे केवल एक उद्यम था, सार्वजनिक कर्त्तव्य की दीक्षा लेना तथा उनका पालन करना। उसकी आवश्यकतायें बहुत सीमित होती थीं और उनकी पूर्ति राज्य द्वारा होती थी। हैलोट्स द्वारा किये गये उत्पादन से चलने वाले सार्वजनिक भोजनालयो में वह भोजन करता था। इस विशेषीकरण और शरीर को बलिष्ठ बनाने वाली व्यायाम पद्धति ने अफलातून का ध्यान आकृष्ट किया। उसने इन दोनों बातों को अपने आदर्श राज्य की कल्पना मे अपनाया और उन्हे प्रथम स्थान दिया। ऐथन्स तथा स्पार्टा के विषय मे अधिक विवरण देना आवश्यक नही।

३

अफलातून के पूर्व का राजनीतिक विचार

अफलातून के पूर्व का राजनीतिक विचार—यद्यपि प्रारम्भिक यूनानी दर्शन का उद्‌भव तथा विकास ऐथन्स से बाहर हुआ और आदिकालीन बहुत से यूनानी कवि, इतिहासकार, नाटककार तथा कलाकार भी ऐथन्स के बाहर ही उत्पन्न हुए ; परन्तु यूनानी राजनीतिक विचार को जन्म देने का श्रेय ऐथन्स के महान् नगर को ही है। एक विविवद् राजनीतिक कल्प-विकल्प तथा ससार के कुछ प्रगतिशील, स्थायी तथा सजीव राजनीतिक विचारों की उद्‌भावना का श्रेय ऐथन्स को ही मिलना चाहिये। इस घटना के कारण जानने योग्य है ; यहा पर हम उन पर एक दृष्टिपात करेंगे।

प्रारम्भ मे ऐथन्स कोई महान् और शक्तिशाली नगर नही था। बौद्धिक विचार तथा कार्य-कलाप का केन्द्र वह तब बना जब कि ४६० ई० पू० मैराथन (Marathon) के युद्ध मे उसने ईरानी आक्रातामों को पछाड़ा और उन्हें यूनान से खदेड़ा और यूनान के नेता के रूप मे एक सम्मानित स्थान प्राप्त किया। जिस क्षण ऐथन्स को इस युद्ध मे विजय प्राप्त हुई उसी क्षण मे थैमिस्टोक्लीज (Themistocles) के नेतृत्व मे ऐथन्स का साम्राज्यवादी युग आरम्भ होता है। ईरानियो ने ४८० ई० पू० मे यूनान पर फिर से आक्रमण किया, किन्तु ऐथन्स और स्पार्टा की सगठित शक्ति के सामने वे परास्त हुये। विधि की विडम्बना कि जिस थैमिस्टोक्लीज की नीति पर चल कर ऐथन्स ने शक्ति तथा ख्याति प्राप्त की उसे एक षड्यन्त्र का शिकार होकर राजनीतिक जीवन से अलग होना पडा। किन्तु ऐथन्स का सौभाग्य कि थैमिस्टोक्लीज के उपरान्त उसको पेरीक्लीज जैसा महान् नेता मिला जिसके नेतृत्व मे ऐथन्स साम्राज्यवादी वैभव की चरम सीमा पर जा पहुँचा। उसके युग मे ऐथन्स ने समृद्धि और सम्पन्नता प्राप्त की और व्यापार की जो उन्नति उसके युग मे हुई वैसी पहले कभी नही हुई थी। इस प्रसार और साम्राज्य के युग मे चहुँमुखी उन्नति हुई, भौतिक प्रगति तो उसकी मुख्य तान थी ही, किन्तु दर्शन, विद्या, शिल्पकला तथा भवनकला की उन्नति भी साथ-साथ हुई।

बढती हुई भौतिक उन्नति तथा राजनीतिक महानता के फलस्वरूप जनता मे व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय स्तर पर आत्मचेतना आई और बढी। इससे विचार-स्वतन्त्र्य तथा बौद्धिक कार्य-कलाप को भारी स्फुरण मिला। ऐथन्स निवासियो का लक्ष्य सर्वतोमुखी ज्ञान की प्राप्ति था। अरस्तु के शब्दों मे 'लोग ईरानी युद्धो के पश्चात् अपनी

सफलता के गर्व और अभिमान से भरे हुये आगे बढने की चेष्टा कर रहे थे। ऐथन्स उन्नति तथा संस्कृति का एक महान् केन्द्र बन गया जिसकी ओर दूर और नजदीक के विद्वान् तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति आकृष्ट हुये जिनमे सोफिस्ट्स प्रमुख है।' जो विद्वान् लोग ऐथन्स में आये उन में प्रमुख थे सोफिस्ट्स। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यूनानी चिंतन को एक नवीन दिशा देने तथा मनुष्य और उनके सामाजिक आचरण को अध्ययन का प्रमुख विषय बनाने का मुख्य श्रेय उन्हीं को है। जब तक कि मनुष्य का ध्यान प्रकृति जगत से हट कर मानव की ओर आकृष्ट न हो जाता तब तक कोई राजनीतिक चिंतन सम्भव न था। सोफिस्ट्स ने ठीक ही कार्य किया। इस प्रकार यह कहना ठीक ही होगा कि सोफिस्ट्स ने किसी नई विचारधारा को जन्म नही दिया; यूनानी विचारधारा में उनका स्थान एक युग से दूसरे युग मे आवर्त्तन करने का है।

पेरीक्लीज़ के युग मे ऐथन्स न केवल साम्राज्यवादी वैभव के शिखर पर पहुंचा बल्कि उसमे जनतन्त्रवाद का विकास भी द्रुतगति से हुआ। सारे नगर राज्यों में ऐथन्स में ही जनतन्त्र अपने उच्चतम रूप मे पाया जाता था। वहा विचार तथा भाषण स्वातन्त्र्य का वातावरण था जो कि राजनीतिक चिन्तन के अत्यन्त अनुकूल होता है। स्वाभाविक रूप से ही जिज्ञासाशील यूनानियो को प्रत्येक प्रकार के राजनीतिक प्रश्न के विषय मे बात करना बहुत रुचिकर एवं स्फूर्तिदायक लगा। विशेषकर ५वी शताब्दी ई० के पू० के अर्द्धांश में राजनीतिक समस्याओं के ऊपर बडा तीव्र वाद-विवाद और चिन्तन-मनन हुआ। इसे ऐथन्स के सार्वजनिक जीवन का एक महान् युग समझा जाता है।

परन्तु कालचक्र से कौन बच सकता है? ऐथन्स के भाग्य ने फिर पलटा खाया; यह फिर पतन की ओर जाने लगा। ऐथन्स तथा स्पार्टा मे एक युद्ध छिड़ा, जिसमे ऐथन्स की करारी हार हुई। ऐथन्स मे इस पतनकाल में एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना यह घटी कि पुराने अभिजात्य-वर्ग (Aristocray) का ह्रास हो गया और उनका स्थान ऐसे स्वार्थी और क्रियानिष्ठ लोगों ने ले लिया जो जनतन्त्र को स्वार्थसिद्धि तथा शक्ति हथियाने का एक यन्त्र मात्र समझते थे। ऐथन्स का जनतन्त्र पतित वर्गतन्त्र हो उठा। शक्ति वाग्वीरों के हाथ में आ गई जो विशेषज्ञ होने का दावा करते थे। जाहिर है कि ऐसी हालत मे वाग्वीरता, तर्क-शक्ति, वाद-विवाद की निपुणता, निर्वाचन लड़ने तथा शासन प्रवन्ध करने की कुशलता जैसे गुणो का सम्मान बढना स्वाभाविक ही था, इसलिये उनकी मांग बढी। जो लोग कुछ राजनीतिक महत्वाकाक्षायें रखते थे, विशेषकर वे धनिक लोग जिन्हे जनता की अदालतों में जनतन्त्रवादियों द्वारा लगाये गये आरोपो की सफाई पेश करनी होती थी वे तो इन गुणो में दक्षता प्राप्त करने को बहुत उत्सुक थे। सोफिस्ट लोग समयानुकूल शिक्षा देने का दावा करते थे, इसलिये उन्होने ऐथन्स मे अपना डेरा आ जमाया।

इसलिये यह कहना गलत न होगा कि ऐथन्स मे राजनीतिक विचार तथा वादविवाद का सूत्रपात सोफिस्ट्स ने किया। किन्तु उनके सोच-विचार के ढग में कोई नियम और क्रम न था। एक क्रमबद्ध और विधिवत् राजनीतिक चिंतन की उद्भावना तो अफलातून और अरस्तु ने ही की। उन्होने नगर-राज्य सम्बन्धी धारणाओं का विश्लेषण तथा उसके आदर्शों का स्पष्टीकरण किया। नगर-राज्य की समस्याओ की सागोपाग समालोचना ऐथन्स के पतन के बाद हुई, पैरीक्लीज युग जब गुजर चुका था उसके साम्राज्य वैभव के समय मे यह सब कुछ नही था। राजनीतिक पतन तथा दार्शनिक उत्थान का यह सधिकाल कितना रोचक और शिक्षाप्रद है। अफलातून और अरस्तु वे दो महान् दार्शनिक तथा विचारक है जिन्होने सबसे पहिले नगर-राज्य के राजनीतिक आदर्शों का सागोपाग विश्लेषण किया। किन्तु उनके विचार की पृष्ठभूमि सोफिस्ट्स ने तैयार की थी जिनके राजनीतिक तथा सामाजिक सस्थानो से सम्बन्धित क्रांतिकारी तथा विध्वसक विचारो का खण्डन उन्होंने किया। इसलिये अफलातून तथा अरस्तु के विचार को ठीक प्रकार से समझने के लिए सोफिस्ट्स की शिक्षाओ की एक झाकी दिखाना आवश्यक है।

सोफिस्ट्स (Sophists)—सोफिस्ट्स ऐथन्स मे क्यों आये और वहा के रहने वालो को उन्होंने किस प्रकार की शिक्षा दी ? इसका सबसे सुन्दर और सक्षिप्त साराश हमे विल ड्यूरेट के इन शब्दों मे मिलता है—'सभाओ मे होने वाले वादविवाद, जन-न्यायालयो मे चलने वाले मुकदमे, विचारो पर युक्ति का रंग चढ़ाने तथा एक स्पष्ट और विश्वासोत्पादक भाषा मे बोलने की शक्ति की बढ़ती हुई आवश्यकता, एक साम्राज्यवादी समाज की उत्सुकता तथा धन, इन सब बातों ने एक ऐसी वस्तु की माग को जन्म दिया जो ऐथन्स ने पैरीक्लीज से पहिले कभी न देखी थी। वह मांग थी औपचारिक उच्च शिक्षा, व्याख्यान शक्ति, विज्ञान, दर्शन तथा राजनीतिज्ञता के लिए।'* सोफिस्ट्स वे लोग थे जो ऐथन्स में शिक्षकों के रूप मे बाहर से आये, वहाँ कुछ समय के लिए ठहरे और जो लोग उनसे शिक्षा लेना चाहते थे उन्हें शिक्षित किया। प्रोटेगोरस (Protagoras) नामक एक सोफिस्ट तो अपने आपको Sophistai, अर्थात् ज्ञान (Wisdom) का शिक्षक कहता था। सोफिस्ट्स की तुलना आज के विश्वविद्यालयो के प्रोफेसरो से यदि हम करें तो गलत न होगा। जिस प्रकार आजकल ज्ञान के अभिलाषी लोग कॉलिजो और विश्वविद्यालयो मे जाते है, उसी युग में वे सोफिस्ट्स के पास जाया करते थे।

[illegible] haea, and the [illegible] and to speak [illegible] uriosity of an [illegible]

यह सही है कि सोफिस्ट्स का उद्यम ही शिक्षा देना था, और एक प्रोफेसर की भांति वे संस्कृति तथा ज्ञान का प्रसार करते थे किन्तु एक सोफिस्ट और एक आधुनिक प्रोफेसर में तुलना एक सीमा तक ही की जा सकती है; वे एक दूसरे के बिल्कुल अनुरूप नहीं कहे जा सकते। आज के प्रोफेसर जो शिक्षा प्रदान करते है वह प्रधान रूप से सैद्धान्तिक (Liberal) है; किन्तु सोफिस्ट्स द्वारा दी जाने वाली शिक्षा टेक्नीकल होती थी। सोफिस्ट्स का लक्ष्य निरपेक्ष ज्ञान तथा सत्य की खोज करना नही था; उनका ध्येय बौद्धिक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था। वे लोगो को अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त करने के व्यावहारिक साधन बतलाते थे। कोई उद्देश्य उचित है या अनुचित, जीवन के इस दार्शनिक पहलू से उसका कोई सरोकार न था। सोफिस्ट्स से शिक्षा केवल धनिक लोग ही प्राप्त कर सकते थे क्योकि वे अपने कार्य का शुल्क लेते थे और कभी-कभी तो यह शुल्क बड़ा ऊंचा होता था। धनिक लोग एक ऐसी वाग्निपुणता तथा तर्क-कौशल प्राप्त करने को बड़े उत्सुक थे जिसके बल पर वे जनता के न्यायालयो के कोप से बच सकें। राजतन्त्र में अपना उचित स्थान प्राप्त करने के लिए और यदि हो सके तो उसे धनिक-वर्ग तंत्र में बदल देने के लिए वे स्वाभाविक रूप से इच्छुक थे। सोफिस्ट्स के शिष्यों में ही धनिक-वर्गशाही के नेता निकले। प्रो० बार्कर का यह कथन ठीक ही है कि सोफिस्ट्स 'आंशिक रूप से शिक्षक तथा विचारक थे और आंशिक रूप से ऐसे विचारों के प्रचारक थे जो नवीन, विलक्षण, विरोधाभासी तथा कर्ण-मोहक थे उनमे कुछ उच्छृंखलता थी और कुछ दार्शनिक।'* विचारकों तथा शिक्षकों के रूप मे कुछ सोफिस्ट्स ने राजनीतिक विचार को एक देन अवश्य दी है।

इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि न केवल यूनान के राजनीतिक विचार के विकास परन्तु वहां के इतिहास में भी सोफिस्ट्स ने एक सजीव भाग लिया है। प्रचलित सामाजिक तथा नैतिक धारणाओं और मान्यताओं की उन्होंने कटु आलोचना की और ऐसी रूढियों तथा परम्पराओं की अवहेलना की जिन्हे युक्ति और तर्क द्वारा ठीक नही किया जा सकता। इन बातों ने अफलातून और अरस्तु जैसे दार्शनिको को नगर-राज्य के आदर्शों तथा राज्य के स्वरूप और आधार का विवेचन और विश्लेषण करने के लिए विवश किया। उन्होने (सोफिस्ट्स ने) 'यूरोप के लिए व्याकरण तथा न्याय-शास्त्र का आविष्कार किया; उन्होंने द्वन्द्ववाद (Dialectic) का विकास किया; बहस के बहुत से रूपो का विश्लेषण किया और लोगों को भ्रमात्मक बातो को पकड़ने और स्वयं उनका प्रयोग करने की कला सिखलाई।'†

---

* '.... half teachers and thinkers, half disseminators of things new and strange, paradoxical and astonishing which could catch the ear with something of the charlatan they combined something of the philosopher.'

—Barker : *Ibid*, page 58.

† '....invented grammar and logic for Europe; they developed dialectic, analysed the forms of argument, and taught man how to detect and practise fallacies.' —Will Durant : *op. cit.*, page 361.

यूनान के राजनीतिक विचार तथा इतिहास मे सोफिस्ट्स का चाहे कुछ भी भाग क्यो न रहा हो ; किन्तु यह नही कहा जा सकता कि उन्होने किसी विधिवत् विचारधारा को जन्म दिया। ऐसे कोई मूल और सामान्य सिद्धान्त न थे जिनमे सभी सोफिस्ट्स का विश्वास हो। उनका कोई सामान्य मत न था। उनके अध्ययन विषय, उनके सिद्धान्तों और उनकी अध्ययन विधि मे बडा वैभिन्य था। उनमे से अधिकतर विदेशी थे जो ऐथन्स मे आकर बस गये थे। उन्हें समाज में काफी हद तक बराबरी का दर्जा प्राप्त था ; किन्तु राजनीतिक अधिकार उन्हे कोई नही दिये गये। वे विभिन्न प्रकार के विषय पढाते थे। कोई व्याकरण पढाता था तो कोई न्यायशास्त्र तथा द्वन्द्वशास्त्र (Dialectic)। वादशास्त्र (Rhectoric) तो वे लगभग सभी लोग सिखाते थे, क्योंकि उस युग में उसकी बड़ी भारी माग थी। कुछ ने आचार-विचार तथा राजनीति के क्षेत्र मे भी कुछ देन दी है। पहिले के सोफिस्ट्स अधिकतर रूढिवादी होते थे और बाद के अधिकतर क्रांतिकारी। प्रोटेगोरस (Protagoras) की राजनीति तथा भौतिक धारणायें एकदम रूढ़िवादी हैं। उसे तो प्रकृति और रीति-रिवाज में ही कोई भेद नही दिखाई पडता था। वह राज्य को एक आध्यात्मिक समाज समझता है जिसके संगठन तथा ऐक्य का आधार न्याय तथा श्रद्धा भावना है। कैलीक्लीज (Callicles) तथा थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) सरीखे बाद के सोफिस्ट्स क्रांतिकारी थे जो अपनी समकालीन व्यवस्था को विध्वंस कर देना चाहते थे। अफलातून ने उनका जो चित्र खींचा है उसके अनुसार उन्हे सत्य से कोई प्रेम न था ; वे या तो धनलोलुप थे या वाग्संग्राम मे विजय के आकांक्षी।

यद्यपि सोफिस्ट्स का कोई सम्प्रदाय न था ; तथापि उनमे कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ अवश्य थी। उनकी सबसे महत्वपूर्ण देन है उनका मानवतावाद (Humanism)। सभी सोफिस्ट्स मानवतावादी थे। वे मनुष्य को ही मानव विचार और अध्ययन का केन्द्र मानते थे ; प्रारम्भिक यूनानी दार्शनिक बाह्य जगत की गुत्थियों को सुलझाने में ही लगे हुए थे, उनका ध्येय प्रकृति की विविधताओ मे अन्तर्निहित एकता की खोज करना था। यह एकता किसी को जल में, किसी को अग्नि में, किसी को वायु में तथा किसी को अन्य किसी प्राकृतिक पदार्थ मे दिखाई पडती थी। जड जगत की लीला मे वे इतने तन्मय रहे कि चैतन्य ससार की ओर उनका ध्यान न गया। आचारशास्त्र, राजनीति शास्त्र, भाषण तथा वाद कला जैसी मनुष्य सम्बन्धी विद्याओ को मानव अध्ययन का केन्द्र बनाने का श्रेय सबसे पहिले सोफिस्ट्स को ही प्राप्त है। यह मानव-प्रधान प्रवृत्ति सुकरात (जो सोफिस्ट्स नही था) की शिक्षाओ मे तो चरम-सीमा को जा पहुँची। सुकरात के विषय मे ही तो यह उक्ति प्रसिद्ध है कि वह दर्शन-शास्त्र को स्वर्ग से धरती पर लाया। उसके दर्शनशास्त्र का विषय भौतिक जगत की जगह मानव संसार को बनाया। यह एक बहुत बडी सेवा है जो सोफिस्ट्स ने मानवता की की है। मनुष्य की अध्ययन रुचि मे जो परिवर्तन सोफिस्ट्स ने किया वह प्रोटेगोरस की इस उक्ति मे कि 'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है' स्पष्ट झलकता है। कुछ

लोग इस कथन की व्यक्तिवादी व्याख्या करते हुए इसका यह अर्थ लगा बैठते हैं कि प्रत्येक वस्तु का निर्णायक अपने लिए स्वयं व्यक्ति है. यदि किसी वस्तु को वह अच्छी समझता है तो वह अच्छी है और जो वस्तु उसे बुरी लगती है वह बुरी है। प्रोटेगोरस की यह एक सही व्याख्या नही है। वह व्यक्तिवादी नही था। उसके कहने का अभिप्राय केवल यह था कि संसार के सम्बन्ध मे कोई वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि उसे मनुष्य के साथ सम्बन्धित न किया जाय।

समस्त सोफिस्ट्स की एक अन्य सामान्य विशेषता यह थी कि वे निरपेक्ष यह ज्ञान (Absolute knowledge) के आदर्श को सन्देह और संशय की दृष्टि से देखते थे। उनकी शिक्षाओं मे यह बात स्पष्ट रूप से निहित है कि निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) जैसी कोई चीज संसार में नही है। ऐसा कोई सिद्धान्त, कोई धारणा, कोई विचार और कोई नियम यहाँ नही हो सकते जो प्रत्येक देश, काल और स्थिति मे सर्वमान्य हों। न्याय का ऐसा कोई निरपेक्ष और निरापद सिद्धान्त इस जगत मे नही हो सकता जो हर जगह और हर काल मे लागू हो सके। सोफिस्ट्स के इस संशयवाद (Scepticism) का अर्थ है प्रकृति के उस बौद्धिक चरित्र से इन्कार करना जो कि प्रारम्भिक यूनानी विचार का आधार था। गोर्जिया (Gorgias) सरीखे कुछ सोफिस्ट्स ने तो ऐसे सांगोपांग संशयवाद का विकास किया जिसकी झपट से कोई भी परम्परागत यूनानी विश्वास और धारणा न बच सकी। राज्य के स्वरूप, कानून के मूल तथा स्वरूप और उसकी मान्यता इत्यादि के बारे में जितनी भी प्राचीन परम्परागत धारणायें थीं उन सब मे इसने एक उथल-पुथल सी मचा दी। साधारणतया उन सब का विश्वास था कि राज्य एक कृत्रिम वस्तु है जिसे मनुष्य ने प्राकृतिक नियम के विरुद्ध एक लक्ष्य की पूर्ति के लिए बनाया है और विभिन्न राज्यो के कानून विभिन्न होते है। एक राज्य एक काम का निषेध करता है, दूसरा उसी को करने का आदेश देता है। ऐसे कानूनो को न तो हम देवाज्ञा मान सकते है और न किसी निरपेक्ष न्याय सिद्धान्त की अभिव्यंजना; वे तो केवल मनुष्यो द्वारा अपनी विशिष्ट आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए बनाये गये रस्मो-रिवाज है। वे सबल का दुर्बल के ऊपर शासन करना और अपनी शक्ति का पूर्ण प्रसार तथा विकास करना असम्भव बना देते हैं। विलोबी (Willoughby) के शब्दों मे सोफिस्ट्स ने "नागरिक को राज्य के कानून और परम्परागत नैतिकता में प्राकृतिक और विश्वव्यापी सत्य की अभिव्यंजना देखना नही बल्कि कुछ ऐसे प्रत्यादेशो की खोज करना सिखाया जिनका मूल उन व्यक्तियो की स्वार्थपरता थी जिन्होने उन्हे बनाया, जारी किया तथा उन्हें लागू किया।"*

* "Instead of being instructed to see principles of natural or universal right embodied in the civil laws and customary morality of his country the citizen was taught to discover only particular decrees which were in the main the product of selfish desires of those who had originally issued or sanctioned them."
—Willoughby, quoted by Maxey.

सोफिस्ट्स की दो और विशेषताये भी ध्यान देने योग्य हैं, चाहे वे अधिक महत्वपूर्ण न हो। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे ऐतिहासिक रोमासकारी, अध्यात्मशास्त्री, सशयवादी तथा अपने समय के शरीर-शास्त्री भी थे। शायद ही कोई विषय उनसे अछूता बचा हो। सोफिस्ट्स की सर्वागीणता का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है। शायद ही कोई सोफिस्ट् अपने को केवल एक विषय तक सीमित रखता था ; वह अनेक विषयों का ज्ञाता होने का दावा करता था। हिपियास (Hippias) मे तो यह गुण चरम सीमा को जा पहुचा था। वह एक ही साथ कवि और गणित-शास्त्री, पुराणवेत्ता तथा आचारशास्त्री, इतिहासवेत्ता तथा राजनीतिशास्त्री था और इसके अतिरिक्त सगीत तथा अन्य कलायें भी वह जानता था। केवल इतना ही नही, अपने वस्त्र भी वह स्वयं सीता था। दूसरी बात यह थी कि साधारणतया वे अपनी शिक्षा देने का मुआवजा लेते थे। सुकरात की यह विशेषता थी कि वह कभी शिक्षा शुल्क ग्रहण न करता था ; विद्यादान उसका कर्म था। यूनान के राजनीतिक विचार के इतिहास मे सोफिस्ट्स ने जो भाग लिया है और जो उनकी देन है, उसे समझने के लिए उपरोक्त दोनो बातों मे से कोई भी अधिक आवश्यक नही है।

प्रकृति तथा अभिसमय (Nature and Convention)—यह बताया जा चुका है कि सोफिस्ट्स ने मानव चिन्तन धारा में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया, उन्होंने मनुष्यों को मानव ज्ञान तथा मानव विचार का केन्द्र बनाया। किन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से यदि हम उन पर विचार करें तो यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने प्राचीन परम्पराओं का एकदम परित्याग नही किया बल्कि उन्हे अपनाया और जारी रक्खा। हाँ, उन्होने एक नया आवरण उन्हें अवश्य दिया। जैसा कि हम पहिले भी कह चुके है, आदिकालीन विचारकों का ध्येय बाह्य जगत और प्रकृति के नाना रूपो में निहित एक मूल तत्व खोजना था जिसे आधार मानकर वे समस्त विश्व का विशेषण और व्याख्या करने की चेष्टा करते थे। इस आधारभूत तत्व को कोई जल मे कोई विचार-शक्ति में तथा कोई परमाणु में देखता था। इस प्रकार उन्होने अन्तर्निहित और निरपेक्ष सत्य तथा क्षणिक, परिवर्तनशील और बाह्य रूपों मे भेद किया, और पहिले को लेकर और उसे आधार बना कर दूसरे को समझने की चेष्टा की। उनकी दृष्टि मे पहिली चीज एक वास्तविक तथ्य था, प्रकृति थी ; किन्तु दूसरी बात का आधार केवल अभिसमय अर्थात् रीति-रिवाज था। यह क्षणिक और स्थायी, आन्तरिक और बाह्य तथा निरपेक्ष और आपेक्षिक का विभेद उन्होने नीति तथा राजनीति मे भी देखने की चेष्टा की। उन्होंने मानव स्वभाव के कुछ ऐसे आधारभूत तथ्यो को खोजने का प्रयास भी किया जिनके आधार पर विभिन्न राज्यो तथा जातियो मे पाये जाने वाले कानूनों तथा रस्मो-रिवाज में एक व्यवस्था और तारतम्य स्थापित किया जा सके। उनके सामने प्रश्न यह था : क्या कोई ऐसा आधारभूत सिद्धान्त भी हो सकता है जिसके द्वारा विभिन्न राज्यो के कानूनो और रिवाजो मे विविधता के होते हुए भी एक मौलिक एकता का अनुभव किया जा सके ? यदि ऐसा कोई सिद्धान्त है तो उसका

स्वरूप क्या है ? मनुष्य के कानूनों और रिवाजों पर ऐसे सिद्धान्त का क्या प्रभाव पड़ता है ? इस प्रकार प्रकृति तथा अभिसमय का विभेद मानव संसार और मानव के परस्पर सम्बन्धों में परिलक्षित किया गया। विभिन्न नगर-राज्यों में पाये जाने वाले वास्तविक कानूनों और रस्मो-रिवाज को अभिसमयात्मक (Conventional) समझा गया और न्याय के एक आदर्श सिद्धान्त को प्राकृतिक। इन दोनों में कभी-कभी संघर्ष देखने में आता था।

परन्तु इस आदर्श कानून की दो भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी व्याख्यायें की जा सकती है। इसको नैतिक भी कहा जा सकता है और नीतिविहीन (Amoral) भी। इसको ईश्वरीय कानून समझ कर इसके आधार पर सामाजिक अवगुणों की आलोचना की जा सकती है। जब एन्टीगोन (Antigone) के ऊपर युद्ध में मारे गये अपने भाई का अन्तिम संस्कार करने के कारण राज-कानून-भग का आरोप लगाया गया तो उसने ईश्वरीय कानून की दुहाई दी। हमारे अपने देश में भी राजा राममोहन राय, ऋषि दयानन्द, महात्मा गांधी तथा अन्य बहुत से समाज-सुधारकों ने बुद्धिविहित उच्चतर धर्म के नाम पर अस्पृश्यता, बलात् वैधव्य, कन्या-हत्या जैसे अमानुषी रिवाजों और रूढियों का खण्डन किया। किन्तु बाद के सोफिस्ट्स ने आदर्श न्याय के कानून की एक नीतिविहीन व्याख्या की और इसका प्रयोग उन्होंने कुछ प्राचीन तथा परम्परागत विश्वासों को नष्ट करने के लिए किया। उनके अनुसार मनुष्य बावजूद अपनी विशिष्टताओं के एक प्राणी है, पशु है और अन्य पशुओं के सदृश आवश्यकता और समय ने मिलकर उसे जन्म दिया है। जीवन रक्षा के लिए उसे एक घोर सघर्ष में से गुजरना पड़ता है। भय, अभिमान, शक्ति प्राप्त करने की इच्छा, अधिकार, प्रेम जैसी जैविक प्रवृत्तियाँ उसे प्रकृति की ओर से मिली है। अपनी इच्छाओं को अधिक से अधिक बढ़ाना, उन्हें पूर्ण करने के साधन जुटाना तथा दूसरों के ऊपर शासन जमाने की कामना करना मनुष्य का परम धर्म है। यदि जीवन का सुख, वैभव तथा आराम प्राप्त करने के लिए दूसरों को कष्ट देना पड़े तो कोई हर्ज नहीं बशर्ते कि ऐसा करने के लिए आप को कोई दण्ड भुगतना न पड़े। यदि समाज के कानून आपके मार्ग में बाधक हों तो आप उन्हे तोड़ सकते है यदि आपको उसके लिए कोई दण्ड मिलने की आशंका न हो। सरकार के कानूनों को केवल विवश होकर ही मानना चाहिये, स्वेच्छापूर्वक नहीं। राजाज्ञा का पालन करना मनुष्य का कोई कर्तव्य नहीं है, वह केवल हमारी अपनी सुविधा और मसलहत की बात है। उसका पालन व्यक्ति को विवशता में ही करना चाहिये, यदि वह उसका उल्लंघन कर सकता हो तो उसे करना चाहिये। सारांश यह कि इस सिद्धान्त के अनुसार अहकार और स्वार्थ ही प्रकृति है और उसी की पूर्ति करना प्राकृतिक धर्म है। जो लोग मीन न्याय में विश्वास करते हैं; और जिसकी लाठी उसी की भैंस समझते है, उनके लिये स्वार्थमूलक अहंकार और प्रकृति को एक समझना स्वाभाविक ही है।

एल्सीडेमास (Alcidamas) सरीसे सोफिस्ट प्रकृति और अभिसमय के विरोध द्वारा यह सिद्ध करते थे कि दास और कुलीन पुरुष में कोई विभेद नहीं है। एल्सीडेमास का कथन था प्रकृति ने सब मनुष्यों को बराबर बनाया है; उसने किसी को दास नहीं बनाया। इसी प्रकार ऐन्टीफोन (Antiphone) ने इसका आशय लेकर यूनानी और बर्बर (Barbarian) के विभेद से इन्कार किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोफिस्ट्स ने प्रकृति की एक ऐसी व्याख्या की जिसका कोई नैतिक आधार न था; उन्होंने स्वार्थ और अहम् पर आधारित आचार शास्त्र का प्रचार किया जिसका आगे चलकर अफलातून ने घोर खण्डन किया।

सुकरात (Socrates)—सोफिस्ट्स, उनकी विचार पद्धति और राजनीति विचार को उनकी देन हम देख चुके। आइये अब हम उस महान् व्यक्ति का अध्ययन करें जो सुकरात के नाम से जगत्विख्यात हैं और जिसे कुछ लोग सोफिस्ट्स की श्रेणी मे रखना पसन्द करते हैं। ऐथन्स निवासी उसे एक सोफिस्ट ही समझते थे। और सोफिस्ट शब्द का जो आधुनिक और शाब्दिक अर्थ है उसके अनुसार सुकरात को सोफिस्ट कहा भी जा सकता है। उसमे शब्द चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति थी, उसमे वाक्चातुर्य था; उसमे विलक्षण तर्कना शक्ति थी। वह वाद-विवाद करने मे निपुण था। वह ऐसे दृष्टान्त देता जो युक्तियुक्त न होते हुये भी उसके विरोधियो का मुह बन्द कर देते थे। अन्य सोफिस्ट्स की तरह वह भी मानवता-प्रधान विषयों के अध्ययन मे ही रुचि रखता था। मानवतावाद की यह नवीन धारा जिसका सूत्रपात सोफिस्ट्स ने किया था सुकरात में अपने उच्चतम रूप मे मुखरित हो उठी। वह तो नैतिकता को ही समाज का तत्व समझता था और सामाजिक समस्याओ के अध्ययन के लिए ही उसने अपने को समर्पित कर रक्खा था। किन्तु यह सब होते हुये भी सुकरात और सोफिस्ट्स मे इतने आधारभूत भेद हैं, इतना गम्भीर मतवैभिन्य है, कि उसे सोफिस्ट कहना भूल होगी। उसके जीवन का तो उद्देश्य ही सोफिस्ट्स को विचार पद्धति का पर्दाफाश करना और उसका खोखलापन दिखाना था। वह बडी तत्परता के साथ उनके सिद्धान्तों का खण्डन करता था और ऐसा करने में उसे आनन्द मिलता था।

अफलातून ने जो सुकरात का शिष्य था उसके विचारो और मान्यताओ को अपनाया और उन्हे प्रतिष्ठित किया। उसके जितने भी डायलॉग्स (Dialogues) है उन सब में सुकरात के रूप में अफलातून ही बोलता है। इसके विपरीत सोफिस्ट्स का उसने घोर खण्डन किया। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि सुकरात एक सोफिस्ट न था। सुकरात और सोफिस्ट्स के प्रमुख अन्तर निम्नलिखित है:—

(१) सोफिस्ट्स प्रकृति तथा अभिसमय के परस्पर विरोध से यह परिणाम निकालते थे कि सामाजिक कानून तथा रिवाज हमारे लिये नैतिक रूप से मान्य नही है; किन्तु सुकरात रूढिवादी था और उनका पालन करना आवश्यक समझता था। अपने राज्य ऐथन्स के कानून को तोडना वह अपने जीवन की रक्षा के लिये भी सहन नही

कर सकता था। वह चाहता तो जेल से भाग कर अपने प्राण बचा सकता था; ऐसा करने की सुविधा उसे मिली परन्तु उस सच्चे राजभक्त ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया।

(२) हमे यह भी याद रखना चाहिये कि सुकरात एक वस्तु-प्रधान सद् और विश्व-व्यापी न्याय में विश्वास करता था जिसकी सत्ता से सोफिस्ट्स इन्कार करते थे; उसने नैतिक नियमों को निश्चित रूप से बुद्धि सम्मत आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उसने उग्रवादी सोफिस्ट्स के शून्यवादी आचार-शास्त्र को पूर्ण रूप से निरस्त कर दिया। उसने सिखाया की सदाचार ज्ञान है और दुराचार अज्ञान (Virtue is knowledge and vice ignorance)। उसके द्वारा दी हुई शिक्षा प्राविधिक (Technical) न थी; उसने मनुष्यों को यह नही सिखाया कि वे अपनी नीतियों मे सफलता किस प्रकार प्राप्त करे; वह गहराई में उतरा; उसका अभीष्ट वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति था। सुकरात के लिए जो बात महत्वपूर्ण थी वह यह नही कि एक व्यक्ति जानता क्या है, बल्कि यह कि उसका ज्ञान उसके जीवन का अग कहा तक है। उसने साधारण तथा वास्तविक ज्ञान मे विभेद किया उसने उसे सोफिस्ट्स से सर्वथा अलग एक विशिष्ट कोटि में रख दिया। उस विभेद को हम आगे चलकर समझायेंगे।

(३) आयोनियन (Ionion) विचारकों का परित्याग करने में सुकरात सोफिस्ट्स से कही आगे ~ड गया। अनेक्सीमेण्डर (Anaximander) के युग के अन्त की ओर अफलातून तथा अरस्तु के युग के आविर्भाव की सूचना सुकरात देता है, सोफिस्ट्स नही। आदिकालीन यूनानी विचारक जिन्हें आयोनियन कहा जाता है, जगत की एक यान्त्रिक (Mechanical) व्याख्या देते थे, लक्ष्यात्मक (Teleological) नही। वे केवल यह जानने की चेष्टा करते थे कि संसार की वस्तुएं किस प्रकार बनी है; इस बात से उन्हें कोई सरोकार न था कि वे क्यों बनी हैं। दर्शन के इतिहास मे सुकरात पहला व्यक्ति था जिसने वस्तुओं के अन्तिम उद्देश्य और कारण की खोज की सोफिस्ट्स नहीं। अफलातून और अरस्तु ने भी इस पद्धति को अपनाया और उसको अधिक विकसित किया।

(४) सोफिस्ट्स की धारणा थी कि मानव व्यवहार एक कला है और वे उस कला में पारगत होने तथा उसे सिखाने का दावा करते थे। सुकरात की तरह वे भी मानते थे कि शुभ (goodness) ही ज्ञान है, किन्तु इस विषय में दोनों मे एक बुनियादी अन्तर है। सोफिस्ट्स का विश्वास था कि 'शुभ' एक विशेष कला है जिसे दूसरी कलाओं की भाँति ही विशेष ज्ञान द्वारा सीखा जा सकता है; किन्तु सुकरात की धारणा थी की शुभ एक सामान्य शक्ति है, विशिष्ट नही। यह अनुपम है, उसका कोई जोड़ नही। उसकी कोई ऐसी विशेष कला नही हो सकती जैसी कि जहाज़ चलाने की अथवा शारीरिक रोगो का इलाज करने की। शुभ की प्राप्ति के लिये किसी विशेष प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता नही है; उसके लिये तो तत्व, अन्तिम सत्य का जानना आवश्यक है। ज्ञान के इस द्वैतवादी सिद्धान्त की व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे।

(५) सोफिस्ट्स अपनी सेवा के बदले में अर्थात् शिक्षा प्रदान करने के पुरस्कार-स्वरूप फीस लेते थे, उनके अधिकतर शिष्य धनिक वर्ग के लोग थे; किन्तु सुकरात का दरवाजा सब के लिये खुला था। चाहे अमीर हो या गरीब, जो भी उसकी बात सुनने को इच्छुक होता था सुकरात उसी से मिलता और बात करता था और किसी से किसी प्रकार की कोई फीस न लेता था। यही कारण है कि उसकी शिक्षाओं में वह स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता झलकती है जो सोफिस्ट्स में देखने को नहीं मिलती।

सुकरात का जीवन ध्येय—सुकरात के दो प्रकार के ज्ञान तथा उनके ऊपर आधारित दो प्रकार की नीति अथवा शुभ के सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व उसके जीवन तथा मृत्यु के अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। साधारण व्यक्ति बिना बात के जाने हुये कि उनका क्या महान् उद्देश्य है जन्मते और मरते है। किन्तु सुकरात साधारण मानवो से भिन्न था क्योंकि उसे इस बात की चेतना थी कि उसे एक ईश्वरीय उद्देश्य की सिद्धि करनी है। उस उद्देश्य की चेतना उसे तब हुई जब कि डेल्फी के आरेकिल ने यह घोषणा कर दी कि वह यूनान का सबसे अधिक बुद्धिमान मनुष्य है। जब वह यह न समझ सका कि वह समस्त यूनानियों में सबसे अधिक बुद्धिमान किस प्रकार है तो उसने उस प्रतिघोषणा की सत्यता को परखने का प्रयास किया। वह एक ऐसे राजनीतिज्ञ के पास गया जो कि एक बुद्धिमान मनुष्य समझा जाता था और उससे सत्य, शुभ, सुन्दर सरीखे शब्दो का अर्थ पूछा। उसने पाया कि वह विख्यात बुद्धिमान् व्यक्ति बिल्कुल भी बुद्धिमान न था ; उसे सत्य का ज्ञान था। सुकरात एक अन्य और फिर उससे भी अन्य तथाकथित बुद्धिमान व्यक्ति के पास गया ; किन्तु उसने प्रत्येक को वास्तव मे अज्ञानी पाया। वह स्वयं अपने आप को अज्ञानी कहता था, किन्तु क्योंकि वह अपनी अज्ञानता को जानता था इसलिये वह दूसरो की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान था। इसलिये सत्य अथवा ज्ञान के तथाकथित ठेकेदारो के अज्ञान का पर्दा फ़ाश करना उसके जीवन का ध्येय बन गया, और उसने अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्ष इस ध्येय की सिद्धि मे लगाये। इस कार्य को उसने एक धार्मिक उत्साह के साथ किया। इस कार्य की पूर्ति करने के लिए उसने एक अनोखी पद्धति अपनाई। पूर्वकालीन दार्शनिको की भांति उसने अपने विषय का गद्य या पद्य मे विवेचन नहीं किया, और न हो सोफिस्ट्स की भांति उसने अपने विषय की कोई क्रमबद्ध व्यवस्था की। उसकी पद्धति यह थी। वह किसी व्यक्ति से न्याय, सदाचार, भक्ति, साहस सरीखे शब्दों का अर्थ पूछता था और फिर प्रश्नोत्तर के द्वारा उसकी धारणा की अस्पष्टतायें और असगतायें दिखलाता था और अन्त मे उसे विश्वास दिलाता था कि वह अज्ञानी था। इस प्रकार से विजित और अपमानित लोगो को यह सब कुछ कटु और अरुचिकर था। अफलातून ने अपनी कृतियो मे इस पद्धति की भावना और रूप, दोनो को अपनाया है ; उसने अपने ग्रथो को सवाद का रूप दिया है जिनमें सुकरात सदैव प्रमुख अभिवक्ता और नवीन विचारो का अनुसधान करने वाला है। हमे यह याद रखना चाहिए कि सुकरात अपने श्रोताओं को कोई नवीन बात

सिखलाने का दावा बिल्कुल न करता था ; इतना ही नही वह तो यहाँ तक कहता था कि मेरे पास कोई ज्ञान ही नही है। उसका उद्देश्य तो नकारात्मक रूप से दूसरों के अज्ञान का भण्डा-फोड़ करना और धनात्मक रूप से उनके स्वयं सत्य अनुसंधान करने में उनकी सहायता करना था। शासमैन के शब्दों में, "उसने अपने श्रोताओं को नवीन और दिलचस्प विचार प्रदान नही किये, बल्कि एक नर्स की भाँति उसने गर्भवान मस्तिष्क को नवीन सत्य का जन्म देने में सहायता दी।" सुकरात ने जो कुछ कहा उसने उसे लेखबद्ध कभी नही किया ; उसने उसे अपने श्रोताओं के सामने केवल व्यक्त किया। उसका जीवन अपने दर्शन के अनुकूल था और उसने दूसरों के संसर्ग द्वारा उसे विकसित किया।

सुकरात का सिद्धान्त—सुकरात की द्वन्द्ववाद की पद्धति का उसके सिद्धान्त से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा कि हम पहिले उल्लेख कर चुके है, उसके मतानुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है, एक तो वह जो केवल हमारे विश्वास तक सीमित है और दूसरा है वास्तविक ज्ञान। पहिले प्रकार के ज्ञान का कोई दृढ आधार नही है, उसमे परिवर्तन और अदल-बदल हो सकते हैं। वास्तव मे यह ज्ञान का एक आवरण मात्र है, यथार्थ ज्ञान नहीं। परन्तु दूसरे का ज्ञान अचल, अडिग और अटल है। उसमे कोई परिवर्तन, कोई संशोधन नही हो सकता। वह तो एक निरपेक्ष तथा अमर सत्य है। पहिले प्रकार का उदाहरण है अनुभवसिद्ध विश्वास और दूसरे का वैज्ञानिक सत्य।

ज्ञान के इन दो रूपों के अनुरूप ही धर्म के और श्रेय (Goodness) के भी दो रूप है। एक सापेक्षिक है जिसका आधार व्यक्तिगत मत और विश्वास है। जिस प्रकार मनुष्य के मत और विश्वास मे परिवर्तन होता रहता है, इसी प्रकार सापेक्षिक धर्म में भी संशोधन और परिवर्तन होता रहता है। बदली हुई परिस्थितियों में यह भी बदल जाता है। इसके विपरीत निरपेक्ष धर्म का आधार मानव की शाश्वत बुद्धि है जो सदा एकरस रहती है, इसलिये वह अमर और नित्य है। वह प्रत्येक स्थिति मे मान्य है और हमारा पथ-प्रदर्शक है। जिस ज्ञान के ऊपर यह आधारित है उसके सदृश इसे दूसरों तक पहुँचाया भी जा सकता है। क्योंकि जो धर्म कुछ सिद्धान्तों के ऊपर आधारित है यह उन सिद्धान्तों की एक निश्चित परिभाषा भी चाहता है और जिस बात या वस्तु को परिभाषाबद्ध किया जा सकता है उसे दूसरों को सिखाया भी जा सकता है। ज्ञान के इस स्वरूप और परिभाषा से ही सुकरात का यह सर्व महत्वपूर्ण तथा बेजोड सिद्धान्त निकला है कि धर्म ही ज्ञान है। अफलातून ने दृढतापूर्वक इस सिद्धान्त को अपनाया, राजनीति विचार के सम्बन्ध मे इसके जो परिणाम निकले उन्हें स्पष्ट किया।

यदि धर्म ज्ञान है तो अज्ञान पाप का मूल है। यदि एक मनुष्य जान-बूझ कर धर्म की अवहेलना नही कर सकता तो जान-बूझ कर वह पाप भी नही कर सकता। किन्तु यथार्थ जगत मे ये दोनो बातें सत्य प्रतीत नही होतीं। हमारा अनुभव इस बात का साक्षी है कि कभी-कभी हम जान-बूझ कर भी पाप करते है और अपने धर्म को समझते हुए भी उसका पालन नही कर पाते। परन्तु इस प्रकार के उदाहरण सुकरात

के सिद्धान्त के सच्चे अपवाद नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनका यह उत्तर दिया जा सकता है कि ये अपवाद वास्तविक ज्ञान के नहीं, वरन् ऊपरी विश्वास के हैं। यदि कोई व्यक्ति क्रोध को बुरा समझते हुए भी क्रोध पर बैठता है तो उसका अर्थ है कि उसकी आत्मा क्रोध को सचमुच बुरा नहीं समझती। एक जितेन्द्रिय महात्मा जिसने क्रोध के वास्तविक स्वरूप को समझकर उसका परित्याग कर दिया है कभी उसका शिकार नहीं हो सकता। धर्म और ज्ञान की एकरूपता हमें इसलिए नहीं दिखाई पड़ती क्योंकि ज्ञान शब्द का हम एक भिन्न अर्थ लगाते हैं। सुकरात के लिए ज्ञान एक बौद्धिक विश्वास न था, वह उसे समस्त हृदय और आत्मा की अनुभूति समझता था। वह आत्मा का आलोक था।

सुकरात द्वारा प्रतिपादित इस धर्म और ज्ञान की एकरूपता के बड़े महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम है जिनमे से कुछ की ओर स्वय सुकरात ने ही सकेत किया था और कुछ पर उसके महानतम शिष्य अफलातून ने बल दिया। इसी के कारण सुकरात ने शासकों के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया। वैसे तो सोफिस्ट्स ने भी इसका आग्रह किया था और इस प्रकार का आवश्यक विशेष ज्ञान प्रदान करने का वे दावा भी करते थे; किन्तु सुकरात और उनमें बड़ा अन्तर है। सोफिस्ट्स के अनुसार सरकार अथवा शासन एक विशेष कला है जिसके लिए एक विशेष कौशल की आवश्यकता है। सुकरात ऐसा नहीं मानता था कि मानव व्यवहार की एक विशेष कला है जिसके लिए किसी विशेष धर्म की आवश्यकता है; इसके विपरीत वह तो इसे स्थापत्य (Architecture) कला समझता था जिसके लिए सामान्य धर्म अभीष्ट था। यह सम्पूर्ण आत्मा का धर्म है जो उसकी समस्त क्रियाओं में तारतम्य उत्पन्न करता है। इसी धारणा के फलस्वरूप सुकरात ने प्रजातन्त्रवाद पर प्रहार किया जो प्रत्येक व्यक्ति को शासन पद के योग्य समझता है। उसने पांसा फेंककर या लाटरी डालकर अधिकारियों को छाटने की प्रथा का भी विरोध किया क्योंकि ऐसा करने से ज्ञानी व मूर्ख सब बराबर हो जाते है और शासन के लिए जिस ज्ञानी और बुद्धिमान व्यक्ति की आवश्यकता है उसका निर्वाचित होना कठिन होता है। बुद्धि द्वारा शासन का यह सिद्धान्त जिसका प्रतिपादन सुकरात ने किया अफलातून के हाथो में पडकर और भी मुखरित हो उठा। अफलातून का दार्शनिक राजा जो अपनी स्वतन्त्र तथा सुशिक्षित बुद्धि द्वारा शासन करता है एक ऐसा ही शासक है जैसा कि सुकरात के अनुसार होना चाहिये स्वार्थ-रहित निरकुशवाद के सभी प्रशसक अपने विचारों के समर्थन मे सुकरात को पेश करते हैं।

सुकरात के सिद्धान्त के उपरोक्त राजनीतिक परिणाम और कानून, न्याय तथा राज्य के सम्बन्ध में वे धारणायें जो अफलातून के अनुसार सुकरात की थी के अतिरिक्त उसकी शिक्षाओं का अधिक राजनीतिक महत्व नहीं है। किन्तु हमें याद रखना चाहिए कि न केवल उसका समस्त जीवन बल्कि उसकी मृत्यु भी उसकी राजभक्ति तथा कानून पालन का अकाट्य प्रमाण है। सुकरात अपने देश, ऐथन्स के हित के लिए

थ्रेस (Thrace) और डीलियम (Delium) के रणक्षेत्र में तलवार हाथ मे लेकर लड़ा। एक बार वह परिषद् और परिषद् समिति का सदस्य बना और परिषद् के अन्य सदस्यो के गैरकानूनी कार्यों का डटकर विरोध किया। आगे चलकर उसने 'तीस अत्याचारियों (Thirty Tyrants) के शासन काल में ऐसी आज्ञाओं को मानने से इन्कार कर दिया जिन्हें वह गैरकानूनी और अन्यायपूर्ण समझता था। जीवनपर्यन्त उसे हम एक कर्त्तव्य-परायण, कर्मठ और देशभक्त नागरिक के रूप में पाते है किन्तु उसकी राजभक्ति और कानून-प्रियता उसकी मृत्यु के समय अपनी चरम सीमा को जा पहुची। उसे मृत्युदण्ड की आज्ञा दी जा चुकी है, काल-कोठरी मे पड़ा हुआ है, विष का प्याला पिलाया जाने को है। उसके कुछ भक्त और मित्र उससे भाग निकालने का आग्रह करते हैं; किन्तु इस कानून के पुजारी ने प्राण बचाने के लिए भी कानून तोड़ने मे इन्कार कर दिया। हाँ, ईश्वरीय कानून के सामने तो वह मनुष्यकृत कानून की अवहेलना करने को तैयार था। उसका समस्त जीवन इस शिक्षा का मूर्त्त रूप था कि "अपनी आत्मा के लिए तो राज्य का विरोध करना भी उचित है; किन्तु दूसरी बातो मे हमें अपने प्राण देकर भी राजाज्ञा का पालन करना चाहिये।"*

सुकरात की मृत्यु से अफलातून को इतना धक्का लगा कि उसने राजनीति में भाग लेने का विचार ही छोड दिया और अपने जीवन को विचार, मनन, साहित्य-रचना तथा भ्रमण में लगा दिया। भला वह ऐसे जनतन्त्र को कैसे पसन्द करता जिसने एक ऐसे व्यक्ति को मौत के घाट उतार दिया जिसे वह संसार का सर्वश्रेष्ठ, सबसे अधिक बुद्धिमान तथा सर्वाधिक न्यायशील मनुष्य समझता था। शासन के विभिन्न रूपों में उसने जनतन्त्र को एक बहुत ही नीचा स्थान दिया। याद रहे कि सुकरात का जन्म ४६९ ईसा पूर्व (B. C.) मे पैरीक्लीज के शासक बनने से ४ वर्ष पूर्व हुआ था और उसकी मृत्यु ३९९ ईसा पूर्व मे हुई जबकि ऐथन्स का पतन हुए ५ वर्ष हो चुके थे। इस प्रकार उसने ऐथन्स को वैभव के शिखर पर चढते हुए भी देखा और पतन के गहरे गर्त मे गिरते हुए भी।

---

*"........for the sake of conscience a man may rise up against Caesar, but that in other matters, he must render unto Caesar the things that are Caesar's, even to the debt of his life." — Barker: *Ibid*, page 96.

४ अफलातून (Plato)
रिपब्लिक (Republic)

परिचयात्मक—प्राचीन यूनान के राजनीतिक विचार के विकास और प्रगति मे सुकरात तथा सोफिस्ट्स का हाथ तो अवश्य है ; निःसन्देह उन्होंने राजनीतिक समस्याओं को समझने और उन पर विचार करने की एक उत्सुकता जन-साधारण में उत्पन्न की ; किन्तु किसी ने भी क्रमबद्ध रूप से और विधिपूर्वक राजनीतिक चितन नहीं किया । इसका सर्वप्रथम श्रेय अफलातून को ही दिया जाना चाहिये जिसने सबसे पहिले-पहल राजनीतिक समस्याओ पर एक वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया और नगर-राज्य के सिद्धान्तो तथा आदर्शो का सांगोपाग विश्लेषण किया । अफलातून के महान् शिष्य अरस्तु ने अपने इस महान् गुरु की परम्परा को न केवल कायम रखा बल्कि उसको ऊंचा उठाया और आगे बढाया । इन दोनों महान् विचारकों ने न केवल नगर-राज्य का राजनीतिक दर्शन हमे दिया बल्कि राजनीति के अनुसन्धान और अध्ययन के लिए महान् सस्थायें भी कायम की । अफलातून की एकाडेमी (Academy) और अरस्तु की लेसियम (Laceum) किसी भी दशा मे आज के विश्वविद्यालयों से हीन न थी इन विद्या केन्द्रों और कुछ अन्य छोटी-मोटी संस्थाओं के साथ जिन्हे अरिस्टी-पस (Aristippus) तथा एटिस्थिनीज् (Antisthenes) ने कायम की थी यूरोपीय दर्शन विशेषकर राजनीति दर्शन और अन्य समाज शास्त्रो का सूत्रपात होता है । इस क्षेत्र मे सबसे पहिला स्थान नि सन्देह अफलातून और अरस्तु का है जिनमे यूरोप की बुद्धि का सबसे पहिला चमत्कार हमे मिलता है ।

अफलातून का जीवन—अफलातून का जन्म ४२८ ई० पूर्व मे ऐथन्स मे हुआ था । उस से दो वर्ष पूर्व ऐथन्स के महान् राजविद् पेरीक्लीज (Pericles) की मृत्यु हो चुकी थी, और उस के लगभग २० वर्ष पहिले पेलोपोनीशियन युद्ध मे ऐथन्स की अपमानजनक हार हो चुकी थी । उसका ८० वर्ष से कुछ ऊपर की आयु मे ३४८ ई० पूर्व में देहान्त हो गया, जबकि मकदूनिया के सैन्यवाद ने अपनी विजय के डंके बजाने प्रारम्भ कर दिये थे । इस प्रकार हम देखते है कि उसने अपने जीवन में यूनान के इतिहास का एक सब से अधिक सकट ग्रस्त युग देखा था । उसने स्पार्टा के सामने ऐथन्स को घुटने टेकते हुए देखा; उसने प्रतिक्रियावादी अल्पतत्रवादियों का, जिनमें से कुछ उसके अपने ही सम्बन्धी थे, आततायी पूर्ण शासन देखा ; उसने लोकतत्र का

पुनरुत्थान देखा जिसने कि उसके परम प्रिय गुरु, सुकरात (Socrates) की हत्या कर डाली; और उसने नगर-राज्य (City State) तथा उसकी परम्परागत नैतिकता का ह्रास देखा। इन घटनाओं ने उसके मन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला और उसके जीवन प्रवाह को बदल दिया।

अफलातून का जन्म एक अभिजात्य कुल में हुआ था। जिस प्रकार कि रघुवंशी लोग, जिनमे राम महानतम थे, अपना आदि पूर्वज सूर्य को मानते थे, उसी प्रकार अफलातून का पिता पोसीडोन नामक यूनानी देवता का वंशज होने का दावा करता था उसकी माता भी ऐथन्स के महान् न्यायविद्, सोलन से, जिसे कि ऐथन्स का मनु समझा जा सकता है, सम्बन्धित थी। आरम्भ मे, अपने बहुत से निकट सम्बन्धियों की की भांति अफलातून भी राजनीतिक महत्वाकांक्षायें रखता था; उसकी एक रचना में इस बात का उल्लेख भी मिलता है। वास्तव मे उस अल्पतंत्र (Oligarchy) के, जो कि ४०४ के आतंक के लिए उत्तरदायी था, प्रमुख सदस्यों ने उससे अपने साथ सम्मिलित हो जाने का आग्रह भी किया था, परन्तु वह बुद्धिमत्ता पूर्ण उनसे अलग रहा। उनके हिन्सात्मक कार्यों ने, विशेष रूप से उनके अपने एक विरोधी की हत्या करने के अपने वैधानिक प्रयास में सुकरात को फंसाने के प्रयास ने उसे बड़ा मानसिक आघात पहुंचाया। जब लोकतंत्र की पुन. स्थापना हुई, तो उसे आशा थी कि स्थिति मे कुछ सुधार होगा, परन्तु लोकतंत्री शासन के द्वारा सुकरात वह सबसे अधिक बुद्धिमान् तथा सर्वोत्तम मनुष्य समझता था, हत्या से तो उसे इतना गहरा धक्का लगा कि वह राजनीतिक जीवन से ही घृणा करने लगा; और वह दर्शन की ओर प्रवृत्त हो गया। उसके जीवन का उद्देश्य ही यह बन गया कि सत्य तथा न्याय सुकरात के पक्ष में थे, और यद्यपि सुकरात सरीखा सन्त उन दिनो के ऐथन्स के अयोग्य था, राजनीति.के लिए ऐसे ही व्यक्तियों की सब से अधिक आवश्यकता थी। उसे दृढ विश्वास हो गया कि यथार्थ स्थिति तथा आदर्श के बीच अन्तर को केवल तभी दूर किया जा सकता है जबकि प्रज्ञान (Wisdom) तथा शासन सत्ता का एक ही व्यक्ति में सम्मिश्रण हो, जबकि दार्शनिक राजा बन जाये अथवा राजाओं में दर्शन का भाव उत्पन्न हो जाये। उसके मतानुसार एक अच्छा राज्य एक न्यायपूर्ण राज्य होता है जिसमें प्रज्ञान शासन करता है। उसके रिपब्लिक (Republic) नामक ग्रन्थ का यही मुख्य विषय है।

कुछ लोगों की यह धारणा है कि ३९९ ई० पूर्व मे सुकरात की हत्या होने पर अफलातून तथा सुकरात के कुछ अन्य भक्तों ने ऐथन्स छोड दिया था और कुछ दिन के लिए मेगरा में शरण ली थी। यह बात तो निश्चित है कि सुकरात की मृत्यु के पश्चात् उसने कुछ वर्ष यूनान, मिस्र तथा इटली की यात्रा करने मे व्यतीत किये थे। जेम्स अर्विक की धारणा है कि अफलातून भारत भी आया था और उस ने यहां वेदान्त-के उत्कृष्ट दर्शन को सीखने का प्रयास किया था जिस की झलक उस के सामान्य दर्शन में बहुत से स्थानो पर मिलती है। कहा जाता है कि वह फारस भी गया था। इस मे कोई सदेह नहीं कि उसने अपने चारो ओर जो राजनीि

अस्थिरता देखी, उसने उस के हृदय पर एक गहरी छाप छोडी और उसकी चिंतन धारा को प्रभावित किया। इसने उसे मानव आचरण के उन शाश्वत सिद्धांतों की खोज करने के लिए उत्प्रेरित किया कि केवल जिनका पालन ही व्यक्ति आनन्द तथा राज्य को स्थिरता प्रदान कर सकता है।

हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि अफलातून अपनी किशोरावस्था मे ही सुकरात के प्रभाव मे आ गया था। वह उसकी हत्या पर्यन्त उसके साथ रहा। सुकरात के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में मत-वैभिन्य है। सर अर्नेस्ट बार्कर का कहना तो यह है कि अफलातून वास्तव में सुकरात का शिष्य नही था, परन्तु यह अपनी प्रारभिक अवस्था से ही सुकरात की गोष्ठी का एक सदस्य था। इसके विपरीत, जेम्स अविक के मतानुसार अफलातून सुकरात का एक शिष्य था। हमे अविक का मत ही अधिक मान्य प्रतीत होता है। अफलातून सुकरात के प्रति जो भक्ति-भाव रखता था और उसने अपनी रचनाओ मे उसे अपना प्रतिनिधि बना कर उसे जो श्रद्धांजलि अर्पित की है, वे इस बात का प्रमाण है। इससे हमे यह बात समझने मे भी सहायता मिलती है कि अफलातून ने अपनी रचनाओ मे तर्क-वितर्क (Dialectic) की पद्धति को क्यों अपनाया और क्यों उसका सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन सुकरात के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सदाचार ज्ञान है (Virtue is knowledge)। उसका दभ तथा मिथ्याचारा की घोर निन्दा करना, और सच्चे न्याय तथा साहस और सयम का स्वरूप प्रगट करना, और फिर उनके साथ सगतिबद्ध एक सविधान की रचना करना भी इस बात का द्योतक है कि वह सुकरातवादी भावना से कितना ओत-प्रोत था।

अपनी विदेश यात्रा से लौटने पर अफलातून ने दर्शन-शास्त्र के क्रम बद्ध तथा वैज्ञानिक अनुसंधान के हेतु 'अकादमी' (Academy) स्थापित की। इसने यूनान को न्यायविद् तथा राज वेत्ता प्रदान किये और इसे प्राचीन का ससार का प्रथम विश्वविद्यालय समझा जा सकता है।

अफलातून के जीवन के इस बहुत ही सक्षिप्त विवरण को समाप्त करने से पूर्व हम उस के जीवन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख और करना चाहते है। वह घटना है उसकी साइरेक्यूज की यात्रा। ३८७ ई० पूर्व में अपनी सिसिली यात्रा के समय साइरेक्यूज में अफलातून की भेंट डॉयन से हुई जिसने कि उसकी विचार धारा को स्वीकार कर लिया। जब उसके सम्बन्धी डॉयनीसियस प्रथम की मृत्यु होने पर उसका पुत्र डॉयनीसियस द्वितीय राज सिंहासन पर बैठा, तो डॉयन ने सोचा कि नया राजा भी अफलातून की शिक्षाओ से वैसे ही प्रभावित हो सकता है जैसा कि वह स्वयं हो गया था। उसके कहने से डॉयनीसियस ने अफलातून को अपने दरबार मे आने के लिए आमन्त्रित किया। डॉयन ने एक अपना सदेश भी अफलातून के पास भेजा जिस मे यह कहा गया कि एक दार्शनिक राजा को प्रशिक्षित करने का यह समुचित अवसर है। अफलातून को सफलता की अधिक

आशा नही थी, परन्तु फिर भी उसने वह निमत्रण स्वीकार कर लिया और वह साठ वर्ष की अवस्था में सिसिली गया।

अफलातून अपनी अकादमी में मनुष्यों को राजविद्या सिखाता रहा था। डॉयनीसियस स्वयं अकादमी मे नही आ सकता था, इसलिए उसने स्वयं उसके पास जाना और एक वंशानुगत राजा को राज कला की शिक्षा देना उचित समझा। इसमें निश्चित् रूप मे ही बडी संभावनायें निहित थी परन्तु वहां स्थिति बिगड गई। डॉयनीसियस अधिक शीघ्रता के साथ अपना पाठ्य-क्रम समाप्त करना चाहता था और वह शीघ्र ही अफलातून की शिक्षा से थक गया। डॉयन को भी साइरेक्यूज से निर्वासित कर दिया गया। अफलातून वहा कुछ समय तक रहा परन्तु उसे कुछ विशेष सफलता प्राप्त नही हुई। वह ३६६ ई० पूर्व मे ऐथन्स लौट आया परन्तु डॉयनीसियस ने उसे कुछ समय पश्चात् (अपने अध्ययन मे कुछ प्रगति कर लेने पर) फिर से आमंत्रित करने का वचन दिया। ३६१ ई० पूर्व में उसने अफलातून को फिर आमन्त्रित किया, परन्तु डॉयन को निर्वासन से वापिस नही बुलाया। डॉयन के प्रश्न को लेकर दोनों के बीच एक विवाद उत्पन्न हो गया और अफलातून ने अपने आप को एक प्रकार के 'सम्मानपूर्ण बन्दीकरण' की स्थिति मे पाया। वह टैरन्टुम के शासक की, जिस के साथ उसने पहिले मैत्री का सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, सहायता से किसी प्रकार बच कर ऐथन्स वापिस पहुंचा।

अफलातून के विचार का व्यवहारिक स्वरूप—जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, अफलातून तीन बार सिसली गया और वहां के निरंकुश राजा का परिष्करण और परिमार्जन करके उसे एक न्यायी और धर्मात्मा राजा बनाने का उसने प्रयत्न किया और इस प्रकार उसने अपने सर्वोच्च राजनीतिक आदर्शों को सफल बनाने की, चाहे वह सफलता आंशिक ही क्यों न हो, चेष्टा की। इस बात से स्पष्ट सिद्ध है कि अफलातून कोई कोरा स्वप्न-द्रष्टा न था; उसका उद्देश्य वास्तविक जीवन को प्रभावित करना था; ऐसा करने का वह प्रयत्न करता था और उसमें सफलता की आशा भी उसे न थी। उसकी शिक्षाओं का अन्तिम उद्देश्य नैतिक था। बार्कर के शब्दो में "वह ऐसे ज्ञान का प्रसार करता था जिसकी अनुभूति कर्म में होनी चाहिये; वह एक ऐसे दर्शन का प्रचार करता था जो जीवन का एक मार्ग बन कर उसे प्रेरणा दे। उसका दर्शन ······· आत्मा का परिवर्तन है ········ और मानवता की सेवा है।" यह है यूनानी विचार का वह व्यवहारिक स्वरूप जिसका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं। अफलातून हमारे प्राचीन ऋषियों और मनीषियों के कितना निकट है जिनका कहना था कि सच्चा ज्ञान सदा कर्म में प्रकट होना चाहिये और दर्शन जीवन का एक ढंग और प्रेरणा है। निःसन्देह साइरेक्यूज (Syracuse) के निरंकुश राजा को दीक्षा देने के प्रयत्न में अफलातून विफल रहा। शायद उसने अनुभव कर लिया था कि 'रिपब्लिक' में चित्रित राजप्रणाली एक ऐसी शब्द रचना थी जिसे इस पृथ्वी पर साकार नही किया जा सकता, भले ही स्वर्ग में उसकी अनुभूति हो सके। परन्तु इससे निराश होकर उसने

आदर्श का परित्याग नही किया। हाँ, मानव स्वभाव की दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए उपादर्श (Sub-ideal) राज्य का चित्र अपने ग्रंथ 'लॉज' (Laws) में खींचा जिसे उसने सर्वोत्तम राज्य से दूसरी श्रेणी मे रक्खा है।

अफलातून की पद्धति—अफलातून की अध्ययन पद्धति पर भी एक दृष्टिपात कर लेना अनावश्यक न होगा। उसने नैतिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं के विश्लेषण के लिए द्वन्द्ववादी पद्धति अपनाई है। उसने अपनी समस्त कृतियों को सम्वाद रूप मे रचा है जिनमें सुकरात प्रमुख वक्ता है और उसके विचारों को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार अन्य दार्शनिक विचारों और सिद्धान्तों को उसने तत्कालीन या पूर्वकालीन व्यक्तियों के सम्भाषणों द्वारा व्यक्त किया है। उसने अपने सम्वादो के पात्रों का चुनाव सोच समझ कर किया है। पात्र विशेष द्वारा केवल उन्हीं विचारों की उद्घोषणा कराई है जो वास्तव मे उसके थे। सम्वाद पद्धति और वर्तमान निरूपण पद्धति मे अन्तर यह है कि पहिली पद्धति में हम मस्तिष्क को सचमुच कार्य करता हुआ देखते हैं और दूसरी मे घड़े घड़ाये विचार हमारे सामने आ जाते है। सम्वाद पद्धति मे व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्पर्श पाकर भावना अधिक सजीव और रोचक हो उठती है। उसमें किसी सत्य और तथ्य का कथन मात्र नही होता; उसमें दार्शनिक भावना अपने सक्रिय और साकार रूप में झलकती है। अपने सुविख्यात गुरु सुकरात का अनुसरण करते हुए अफलातून अपने पाठको की विचारशीलता को जाग्रत करना चाहता था, उनमे ऊपर से ज्ञान भरना उसका ध्येय न था। एक सवाद सत्य का हठपूर्ण दावा नही है, बल्कि उससे दार्शनिक भावना का पता चलता है। असत्य का पर्दाफाश करके, नवीन सिद्धान्तो का प्रतिपादन करके और उनमें दोष निकाल कर यह बुद्धिग्राह्य सत्य की खोज मे सदैव उच्चतर उठता जाता है। यह सिद्ध करने के लिए कि सत्य का सबसे अधिक अच्छा अनुसधान सहयोग से होता है सवाद की पद्धति सबसे अधिक अनुकूल है।

अफलातून की एक विशेषता यह भी है कि अपनी बात की पुष्टि के लिए वह दृष्टान्तो का प्रायः प्रयोग करता है। सुकरात के सदृश उसने ये दृष्टान्त कही तो कलाओं में से लिए हैं और कही प्रकृति मे से। राज-काज के मामलो में ज्ञान और कौशल का महत्त्व बतलाते हुए वह डाक्टर और यान संचालक का उदाहरण देता है और पुरुषों के साथ स्त्रियो के भी संरक्षण के रूप में काम करने का समर्थन करते हुए वह रक्षक कुत्तो का दृष्टान्त पेश करता है। इस प्रकार से दृष्टान्तो का प्रयोग करना कठिन तो है ही, साथ ही साथ भ्रमोत्पादक भी है। शासन कला तथा औषधि कला और नाविक कला में मूल-भूत अन्तर हैं जिनके कारण एक का दृष्टान्त लेकर दूसरे के लिए किसी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना उचित नही। मनुष्य और पशु मे तो और भी अधिक अन्तर है जिसके कारण पशु जगत में जो सत्य है उसका मानव संसार मे सत्य होना आवश्यक नही है। किसी भी दशा में दृष्टान्त द्वारा तर्क प्रमाण का स्थान नही ले सकता, चाहे दृष्टान्त कितना भी उचित और पक्का क्यों न हो।

अफलातून की पद्धति के बारे मे अन्तिम बात यह है कि वह एक कल्पनावादी (Utopian) है, पश्चिमी ससार के कल्पनावादियो मे उसका स्थान सर्वप्रथम और सर्वोच्च है। इतिहाससिद्ध वास्तविक राज्य के वर्णन से उसका कोई सम्बन्ध नही ; उसका अभीष्ट एक आदर्श की खोज है। आदर्श-राज्य राज्य का एक पूर्ण और आदर्श चित्र है ; तुलना और समालोचना द्वारा अफलातून उसकी खोज करना चाहता है। 'रिपब्लिक', 'स्टेट्समैन' (Statesman) तथा 'लॉज' के पात्रगण जो वार्तालाप आपस में करते है उसका एकमात्र उद्देश्य है आदर्श राज्य की खोज। वह एक आदर्श और नगर राज्य की वास्तविक प्रकृति की खोज करना चाहता है, यथार्थ से उसका कोई सरोकार नहीं। वह एक ऐसे संसार का चित्र अंकित करता है जो मानव जीवन के सच्चे सिद्धांतों पर आधारित है ; किन्तु है यह सब कुछ कल्पना, इस वसुन्धरा पर उसका कोई अस्तित्व नही।

अफलातून के सम्वाद (*Dialogues*)—अफलातून ने लगभग तीन दर्जन सम्वाद लिखे है। अपॉलॉजी (Apology), क्रीटो (Crito), मीनो (Meno), प्रोटेगोरस (Protagoras), तथा गोर्जिया (Gorgias) को उसने जीवन के प्रारम्भिक काल में ३४ वर्ष का होने से पहिले ही लिख लिया था। रिपब्लिक (Republic), फेड्रस (Phaedras) और फैडो (Phaedo) की रचना उसने अपने जीवन मे ४० वर्ष की अवस्था प्राप्त करने तक की थी। पोलीटिकस (Politicus) अथवा स्टेट्समैन (Statesman), फिल्बस (Philebus), क्रीशस (Critias) तथा लॉज (जो उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए) की रचना उसने अपने जीवन के अन्तिम चरण में ६० वर्ष का हो जाने के बाद की थी। उसके राजनीतिक विचारों को जानने के लिए हमे प्रधानतः रिपब्लिक, स्टेट्समैन और लॉज की ओर ही देखना चाहिये यद्यपि अपॉलॉजी और क्रीटो में भी राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की चर्चा हुई है। प्रस्तुत अध्याय मे हम रिपब्लिक लेंगे और स्टेट्मैन तथा लॉज को अगले अध्याय मे।

रिपब्लिक का स्वरूप तथा उद्देश्य—सभी लोग रिपब्लिक को अफलातून की महानतम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति मानते है। उसमें वह अपने पूर्णतम और सुन्दरतम रूप मे प्रकट हुआ है। हमें इसके दो शीर्षक मिलते हैं। पहिला है 'रिपब्लिक' जिससे जाहिर होता है कि मौलिक रूप से यह एक राजनीतिक ग्रंथ है और इसका मुख्य विषय राज्य का स्वरूप तथा संघटन है। इसका दूसरा नाम है 'कन्सर्निंग जस्टिस' (Concerning Justice) जिससे यह व्यंजित होता है कि यह एक आचार शास्त्र का ग्रंथ है जिसकी मुख्य समस्या न्याय अथवा नैतिक श्रेय के स्वरूप का विश्लेषण करना है। वास्तव मे इसमें दोनों ही बातो का समावेश है। इतना ही नही यह उनसे भी कुछ अधिक है क्योंकि इसमें समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र तथा अध्यात्म सम्बन्धी समस्याओं का भी निरूपण किया गया है। इतिहास का दर्शनशास्त्र तो हमें सबसे पहिले ही इसी ग्रंथ में मिलताहै। इसकी विषय सामग्री की इस विविधता के कारण इसे किसी श्रेणी विशेष में रखना बड़ा कठिन है ; इसकी तो एक अपनी ही श्रेणी है।

इस विविधता के कई कारण है। पहिली बात तो यह कि उस युग मे ज्ञान का अलग-अलग शास्त्रों और शाखाओं मे कोई जटिल विभाजन नही किया जाता था, सम्पूर्ण ज्ञान को एक और अविभाज्य समझा जाता था। एक प्रश्न के ऊपर विचार करते-करते दूसरा प्रश्न अपने आप सामने आ खड़ा होता था। इसी प्रकार प्रश्न में से प्रश्न निकलते रहते थे। दूसरे, यह कि नगर राज्य में जीवन की विभिन्न क्रियायें एक दूसरे से इस प्रकार गुथी हुई थी कि उन्हे अलग-अलग करके देखना कठिन था; उनमे इस प्रकार का विभाजन न था जैसा कि आज हम अपने जीवन मे पाते है। वहाँ राज्य, परिवार, चर्च तथा ट्रेड-यूनियन मे कोई प्रतिद्वन्द्विता या प्रतिस्पर्धा न थी। व्यक्ति का धर्म राज्य का धर्म था, उसके धार्मिक कर्त्तव्य नागरिक कर्त्तव्य थे। ऐसी स्थिति मे इस बात में आश्चर्य ही क्या है कि अफलातून की राजनीति में न केवल वह विषय शामिल था जिसे हम आज राजनीति कहते है, वरन् उसमे हमारा आज का आचारशास्त्र, धर्मशास्त्र और समाजशास्त्र एक बड़ी हद तक समाविष्ट है। नगर राज्य का क्षेत्र तो अवश्य ही आज के राष्ट्र-राज्यो से कही छोटा था; किन्तु उसका कार्य व्यापार कही अधिक विस्तृत था और विविधतापूर्ण था। तीसरी बात यह कि सम्वाद पद्धति मे, जो अफलातून ने अपनाई, निरुपण पद्धति की अपेक्षा व्यवस्था की और विविधता की अधिक स्वतन्त्रता रहती है।

अफलातून सबसे पहिले यह नैतिक प्रश्न उठाता है—एक अच्छे मनुष्य के क्या लक्षण और गुण हैं और उसे किस प्रकार अच्छा बनाया जा सकता है? क्योंकि राज्य के बिना कोई व्यक्ति अच्छा बन ही नही सकता। इसलिए इस प्रश्न मे से स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है—एक अच्छा राज्य कौन सा और कैसा होता है और उसे अच्छा किस प्रकार बनाया जाता है? इस प्रकार आचार-दर्शन से आरम्भ करके वह राजनीति-दर्शन पर आ जाता है। किन्तु अफलातून ने अपने गुरु से यह सीख रक्खा था कि धर्म ज्ञान है और राज्य का धर्म-परायण होना इस बात पर निर्भर करता है कि शासकों को धर्म का पूर्ण ज्ञान हो। इसलिए तीसरा प्रश्न यह खड़ा होता है—वह निरपेक्ष ज्ञान कौन सा है जो शासको को प्राप्त करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है दर्शनशास्त्र। इसी प्रसग मे एक अन्य प्रश्न और भी उठता है—राज्य किस ढंग से अपने नागरिकों को अन्तिम धर्म को प्राप्त करने में सहायता दे सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में शिक्षा सिद्धान्त निहित है। अब क्योंकि राज्य के अन्तिम लक्ष्य, उसकी शिक्षा पद्धति तथा उसके सामाजिक और आर्थिक ढांचे मे तारतम्य और तालमेल होना चाहिए, इसलिए अन्तिम प्रश्न अफलातून के सामने यह आया कि राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए। इस प्रकार उसकी 'रिपब्लिक' एक ही साथ आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, शिक्षाशास्त्र तथा समाजशास्त्र का ग्रंथ बनगई। अफलातून का कौशल और उस ग्रन्थ का सौंदर्य इस बात मे है कि इसमे ये विविध विषय इस प्रकार एक दूसरे से गुथे हुए हैं कि देखने वालो को उसमें एक ही सम्पूर्ण विषय दिखाई पड़ता है। यह चमत्कार इसलिए उत्पन्न हो सका क्योंकि

अफलातून ने मानव जीवन का, उसके कर्म और विचार का, एक पूर्ण दर्शन देने का प्रयास किया।

हम एक पहिले अध्याय में बता चुके है कि यूनानी राजनीतिक विचार का एक दृष्टिकोण व्यवहारिक है। 'रिपब्लिक' के बारे मे तो यह बात और भी अधिक सत्य है क्योंकि इसे अफलातून ने एक निश्चित व्यवहारिक उद्देश्य मन में लेकर रचा है। उसका उद्देश्य था सोफिस्ट्स द्वारा प्रतिपादित आत्म-तृप्ति के सिद्धान्त को झुठलाना और नष्ट करना जिसे भ्रष्टाचारी तथा जनतन्त्री दोनों प्रकार के राज्यों ने अपना लिया था। उनके अनुसार राज्य एक साधन मात्र है जिसका साध्य है अपने शासकों की आत्म-तृष्णा को तृप्त करना। इसीलिए उनका विश्वास था कि सबल का हित ही न्याय है और एक शासक का स्वार्थ-सिद्धि के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करना स्वाभाविक और न्यायपूर्ण है। इस प्रकार के उच्छृखल व्यक्तिवाद का विरोध करते हुए अफलातून ने राज्य के जैविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि एक व्यक्ति के लिए न्याय अपने उस कर्त्तव्य का पालन करना है जिसके लिए उसके स्वभाव तथा उसके लालन-पालन ने उसे समर्थ बनाया है और जिससे समस्त समाज का हित होता है। इस प्रकार राज्य और व्यक्ति के हित मे कोई संघर्ष नही है। एक बुद्धिमान् और न्यायशील शासक वह है जो जनहित के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर सकता है और उसी मे आनन्द अनुभव करता है। साराश यह कि उसने उस युग की उस हिंसात्मक व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को रोकने का प्रयास किया जो तत्कालीन राजनीति पर बुरी तरह छाई हुई थी। धनतन्त्रो में अमीर और जनतन्त्रो मे गरीब अन्य वर्ग का शोषण करने की चेष्टा करते थे; बार्कर के शब्दों मे "अफलातून के राजनीतिक दर्शन का लक्ष्य एक ऐसे शासनाधिकार की स्थापना करना था जिसमें न तो अमीर गरीब पर और न गरीब अमीर पर शासन कर सके बल्कि जो दोनो के ऊपर हो या कम से कम जिसमें दोनों का भाग हो।"*

राजनीतिक स्वार्थपरता के अतिरिक्त जो धनतन्त्र और जनतन्त्र दोनों ही के माथे पर एक कलंक था, एक अन्य दोष के विरुद्ध अफलातून ने अपने देशवासियों को चेतावनी दी। यह दोष केवल जनतन्त्र की ही विशेषता था जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक पद के योग्य समझा जाता था और लाटरी द्वारा नियुक्तियाँ की जाती थी। यह प्रथा क्षमता और कुशलता की घातक थी और इसके कारण शासन यन्त्र मूर्खों के हाथों मे जा पड़ा। जनतन्त्र के ऊपर अज्ञान और अकुशलता का अपराध लगाना अफलातून पर सुकरात के इस सिद्धान्त की छाप सिद्ध करता है कि शासन एक ललित कला है जिसके लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता है (सोफिस्ट्स द्वारा प्रतिपादित

*"It became the mission of political philosophy in the hands of Plato, to rehabilitate a strong and impartial authority, which should mean, not the rule of the rich over the poor, or of the poor over the rich, but of somethi[illegible] either above or at any rate combining both." —Barker : *Ibid*, p. [illegible]

विशिष्ट ज्ञान की नही)। उसका राजनीतिक उद्देश्य एक ऐसे शासन यन्त्र का निर्माण करना था जिसमे स्वार्थपरता के स्थान मे सर्वोदय का भाव हो, परस्पर फूट की जगह एकता हो और अनुभवहीन शासको की अकुशलता की जगह क्षमता और योग्यता का शासन हो। इस ध्येय की पूर्ति के लिए 'रिपब्लिक' मे जिन दो साधनो का अनुमोदन किया गया है वे है विशेषीकरण (Specialisation) और एकीकरण (Unification)। अफलातून के इस व्यवहारिक उद्देश्य को ध्यान मे रक्खे बिना हम रिपब्लिक की युक्तियो को पूर्णरुपेण नही समझ पायेंगे। अपने आदर्श राज्य मे विशेषीकरण लाने के लिए अफलातून उसकी जनसख्या को तीन वर्गों मे विभक्त करता है जिनमे प्रत्येक अपने निर्धारित कार्य मे तत्पर है। जिन मनुष्यों के स्वभाव मे लोहा है उन्हे वह आर्थिक-वर्ग मे रखता है जिनका कार्य धन उत्पादन है; जिन मनुष्यों की प्रकृति मे चाँदी है उन्हे वह सैनिक-वर्ग मे रखता है जिनका कर्त्तव्य देश की रक्षा करना है। जिन लोगो का स्वभाव स्वर्णमय है उन्हे वह शासक-वर्ग मे स्थान देता है और उसे शासन भार सौप देता है। यदि प्रत्येक वर्ग अपने निर्धारित कर्त्तव्य को सेवा भाव से करे तो स्वार्थ का विनाश और एकता की स्थापना अपने आप ही हो जाय। राज्य में एकता स्थापित करने के लिए वह एक और अनोखा उपाय सोचता है, वह है सम्पत्ति तथा पत्नियो का साम्यवाद। इसके साथ-साथ वह एक विशेष प्रकार की शिक्षा, दीक्षा की व्यवस्था करता है।

पूर्व-ईसा ५वी शताब्दी मे ऐथन्स ही नही बल्कि प्राय समस्त यूनानी नगर-राज्यो मे जो दोष पाये जाते थे उनके उपरोक्त विवरण मे हमने उस हिंसापूर्ण स्वार्थ-परता पर जोर दिया था जो कि जनतन्त्र और धनतन्त्र, दोनो के शासक-वर्गो पर समान रूप से आच्छादित थी। क्रॉसमैन ने इसे वर्ग सघर्ष कहकर पुकारा है। प्राय प्रत्येक नगर-राज्य मे धनी और दरिद्र मे संघर्ष था। एक राज्य के धनिक दरिद्र के विरुद्ध सघर्ष मे दूसरे राज्यो के धनिको की सहायता लेते थे और इसी प्रकार एक राज्य के लोकतन्त्रवादी धनिको के विरुद्ध लडाई मे दूसरे राज्यों के लोकतन्त्रवादियो की सहायता लेते थे। लोकतन्त्रवादी राजनीतिज्ञ ऐथन्स की ओर और धनिकतन्त्री स्पार्टा की ओर देखते थे। इस वर्ग-सघर्ष का आवश्यक परिणाम था कुशासन; हर कही शासक-वर्ग शासन यन्त्र का प्रयोग अपने वर्ग के हितों की सिद्धि के लिए करता था। यूनानी राज्यो का तीसरा गम्भीर दोष था कुशासन। ऐथन्स तथा अन्यत्र राज्य की ओर से शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था; माता-पिता को अपने पुत्रो की शिक्षा का प्रबन्ध अपने साधनो तथा अपनी रुचियो के अनुसार स्वय करना पड़ता था। अफलातून ने अपने महान् ग्रन्थ 'रिपब्लिक' मे इन तीनो रोगो का उपचार करने का प्रयास किया। उसे आशा थी कि राजनीतिक शक्ति को निस्वार्थ और जनहित की भावना से भरे हुए व्यक्तियों के हाथो मे सौंपने से वर्ग-सघर्ष तथा राजनीतिक स्वार्थपरता का रोग दूर हो जायगा। उसका यह विचार उसकी दार्शनिक-राजाओ द्वारा शासन की प्रसिद्ध धारणा में अभिव्यक्त हुआ। विशिष्ट आर्थिक स्वार्थों के प्रभाव का अन्त करने के

लिए उसने शासक-वर्ग के लिए पत्नियों तथा सम्पत्ति के साम्यवाद की प्रस्थापना की और दार्शनिक-राजाओं द्वारा शासित राज्य के लिए अभीष्ट व्यक्तियों का निर्माण करने तथा उन्हे प्रदीक्षित करने के लिए उसने राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षा का प्रस्ताव किया। उसके सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना करने के पूर्व हम 'रिपब्लिक' और 'जस्टिस' इन दो शब्दो के बारे मे कुछ कहना चाहते है ; ये दो शब्द उसकी उस महान् कृति के शीर्षक में आते है जिसमें कि वह इन समस्याओं की समीक्षा करता है।

न्याय तथा रिपब्लिक का अर्थ—अपने इस लक्ष्य को अफ़लातून ने रिपब्लिक मे किस प्रकार प्राप्त किया इसका विस्तृत विवरण देने से पूर्व 'रिपब्लिक' और 'न्याय' शब्दो का अर्थ समझना आवश्यक है। ये दोनो शब्द रिपब्लिक के दो अलग-अलग शीर्षक हैं। ग्रीक भाषा मे रिपब्लिक का पर्यायवाची शब्द पोलीटीशिया (Politeia) अथवा पोलीटी (Polity) है। इसका अर्थ है सविधान जिसमे एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और गणतन्त्र जो एकतन्त्र के विरोध मे रक्खा जाता है, शामिल हैं। इससे जाहिर है कि अफलातून की रिपब्लिक का अर्थ इस शब्द के आधुनिक अर्थ मे कही विस्तृत है। उसने इसका प्रयोग सामान्य संविधान के लिए किया है जबकि हम इसका प्रयोग सविधान के एक विशेष रूप के लिए करते है। रिपब्लिक की आधारभूत समस्या है, राज्य क्या है ? इसी प्रकार न्याय शब्द को भी उसने एक व्यापक अर्थ में लिया है। उसके न्याय का अर्थ केवल उस गुण से नही जिसे राज्य के कानूनो मे न्याय कहा जाता है और जिसकी व्याख्या न्यायालय करते है। उसका न्याय सामान्य नैतिकता और श्रेय का पर्यायवाची है। परस्पर व्यवहार मे जिस धर्म का पालन हम करते है या हमें करना चाहिए वही अफलातून के लिए न्याय है। न्याय की इस व्याख्या के अनुसार वह एक विद्यार्थी को जो गलत हथकण्डे प्रयोग करके परीक्षा मे उत्तीर्ण होने की चेष्टा नही करता और एक ऐसे व्यापारी को जो पूर्ण तौल तोलता है और चोरबाजारी या वस्तुओं में मिलावट नही करता न्यायशील कहेगा। आज की शब्दावली मे हम [illegible] परीक्षार्थी और व्यापारी के गुणों को न्याय की संज्ञा नही दे सकते। [illegible] अध्ययन करते समय हमे रिपब्लिक और न्याय शब्द की इसी व्यापक [illegible] सामने रखना चाहिए।

अफलातून राज्य की रचना तथा मानव अच्छाई के दो विषयों [illegible] एक ही पुस्तक में करता है क्योंकि वह इन दोनों के बीच एक [illegible] है। जैसा कि 'रिपब्लिक' के प्रथम अध्याय मे ही स्पष्ट है, [illegible] न्याय के स्वरूप का विश्लेषण करना है ; वह एक व्यक्ति [illegible] की खोज करना चाहता है। वह अन्य यूनानियों की भाँति [illegible] व्यक्ति एक आदर्श जीवन की सिद्धि राज्य मे और [illegible] सकता है, इसलिए उसे इस सम्बन्धित प्रश्न के [illegible] राज्य का आदर्श स्वरूप क्या है। अफलातून [illegible]

का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध था। मानव जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण हमारी अपेक्षा अधिक सरल परन्तु अधिक व्यापक था।

अब हम 'रिपब्लिक' मे दिये हुए अफलातून के विचारों की समीक्षा करेंगे; हम फिर से इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि अफलातून के समक्ष मुख्य प्रश्न एक आदर्श राज्य का चित्र खीचना नही वल्कि मानव अच्छाई के मूल तत्वों की खोज करना था। रिपब्लिक मूल रूप से मानव आचार के उन शाश्वत सिद्धान्तों की खोज है जिनका पालन करने से मनुष्य, समाज मे रहते हुए, न्याय अर्थात् सर्वोपरि शुभ की प्राप्ति कर सकते है। अरस्तु के शब्दो मे न्याय, जिस के स्वरूप की विवेचना इस मे की गई है, वह सम्पूर्ण सदाचार है जो दूसरो के साथ हमारे व्यवहार मे अभिव्यक्त होता है।

द्वन्द्ववादी पद्धति के अनुसार अफलातून सब से पहिले प्रचलित धारणाओं की विवेचना करता है जिनमे प्रथम स्थान परम्परावादी धारणा का है। सभी जानते हैं कि बूढे आदमी अधिक परम्पराभक्त और रूढ़िवादी होते है। इसलिए न्याय की परम्परा सिद्ध धारणा का समर्थन अफलातून ने सिफालस (Cephaulus) के द्वारा कराया है जिसके घर में यह वार्तालाप चला है। सिफालस के अनुसार न्याय का अर्थ है 'सत्य बोलना और अपना ऋण चुका देना'। थोडी ही देर मे वह तो अपने धार्मिक संस्कारो को सम्पन्न करने के लिए चला जाता है और उसका पुत्र पोलीमार्कस (Polemarchus) उसकी जगह ले लेता है। वह अपने पिता द्वारा दी हुई न्याय की परिभाषा मे थोड़ा सा संशोधन करते हुए कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित अधिकार देना ही न्याय है। इस कथन का अर्थ लगया जाता है मित्रो के साथ भलाई करना और शत्रुओं को कष्ट देना। सुकरात इस परिभाषा का खण्डन करता है क्योकि न्याय का अर्थ परपीडन तो कभी नही हो सकता। उसकी सारी युक्ति पोलीमार्कस की धारणा की मूर्खता सिद्ध करने का एक प्रयास है। इस वार्तालाप द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि परम्परागत धारणायें एक सीमा तक और आंशिक रूप से तो उपयोगी हो सकती है, किन्तु यदि हम उनकी गहराई मे जाये तो कठिनाइयां और परस्पर विरोधी तत्व हमारे सामने आयेंगे।

सोफ़िस्ट्स का न्याय सिद्धान्त—इस समय थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) वादविवाद मे पदार्पण करता है; वह एक क्रान्तिकारी सोफिस्ट है और न्याय के बारे मे नवीन और आलोचनात्मक विचार रखता है। एक सच्ची सोफिस्टवादी भावना और ढग मे वह सुकरात पर केवल शाब्दिक आडम्बर और वाक्लीला का अपराध लगाता है और उससे सुनिश्चित और स्पष्ट तर्क देने का आग्रह करता है। न्याय सम्बन्धी उसकी धारणा को व्यक्त करने के लिये हम उसी के शब्दों को उद्धरित करना उचित समझते हैं क्योकि उसका निरूपण उससे संक्षिप्त और सुन्दर शब्दों में नहीं किया जा सकता :—

"विभिन्न प्रकार की सरकार जनतंत्री, कुलीनतंत्री तथा आततायीतंत्री कानून बनाती हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य उनकी अपनी-अपनी स्वार्थसिद्धि होता है। उन्हीं कानूनों को, जिनका पालन वे अपनी प्रजा से करवाती हैं, वे न्याय की संज्ञा देती हैं और जो उनकी अवहेलना करता है उसे अन्यायी और कानून का शत्रु कह कर दण्ड दिया जाता है। मेरे ऐसा कहने का कि सारे राज्यों में न्याय का एक ही सिद्धान्त है और वह सरकार का हित, यही अर्थ है। और क्योंकि सरकार के हाथ में शक्ति है इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि हर कहीं न्याय का एक ही सिद्धान्त है और वह है सबल का हित, शक्तिमान का स्वार्थ।"

न्याय की इस परिभाषा के स्वाभाविक परिणाम महत्वपूर्ण हैं; हमें उन्हें भली भाँति समझ लेना चाहिये। पहली बात यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार सत्य और शक्ति एक ही चीज हैं। सरकार द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार कार्य करना ही न्याय है, चाहे वे कानून कैसे भी क्यों न हों। और कानूनों को सरकार सदा स्वहित के दृष्टिकोण से बनाती है और पशुबल से उन्हें लागू करती है; इसलिये न्याय वह है जो शक्तिमान अपने हित के लिये उचित समझता है। आगे चल कर हॉब्स (Hobbes) और स्पिनोज़ा (Spinoza) ने न्याय के सम्बन्ध में जो धारणा प्रकट की उससे उक्त धारणा बहुत कुछ मिलती-जुलती है। एक हद तक कार्ल मार्क्स भी ऐसा ही मानता है। दूसरे यह कि साधारण मनुष्य के दृष्टिकोण से न्याय परहित में ही निहित है; कानून तोड़ कर स्वहित की साधना करना अन्याय है। परन्तु प्रकृति के नियम के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपनी भलाई चाहता है। इसलिये थ्रेसीमेकस के अनुसार समस्त विचारशील मनुष्यों के लिये जीवन का सच्चा सिद्धान्त अन्याय है न्याय नहीं। यदि हम न्याय और अन्याय का परम्परासिद्ध अर्थ लें, तो प्रत्येक व्यक्ति को राज्य का कानून केवल तभी मानना चाहिये जबकि वह ऐसा करने के लिये विवश हो, यदि हो सके तो अपने सुख के लिये उसे तोड़ना चाहिये। इस प्रकार उसकी दृष्टि में अन्याय न्याय से श्रेष्ठ है और अन्यायी व्यक्ति न्यायशील व्यक्ति की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और सुखी है। यह है नैतिक शून्यवाद (Nihilism) का उग्रतम रूप। इससे न्याय और अन्याय शब्दों का अर्थ ही खाक में मिल जाता है, इसके नजदीक प्राकृतिक अधिकार जैसी कोई चीज नहीं; अधिकार वह है जो राज्य की महत्तम शक्ति द्वारा प्रतिष्ठित किया जाये।

कुछ इसी से मिलते-जुलते सिद्धान्त का प्रतिपादन कैलीक्लीज ने गोर्जिया में किया है। उसने न्याय को सबल का हित नहीं, वरन् निर्बल की आवश्यकता बताया है। परन्तु वह थ्रेसीमेकस की इसी धारणा को पूर्ण रूप में मानता है कि न्याय प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। प्रकृति का नियम यह है कि मनुष्य को अपनी इच्छाओं का दमन करने के बजाय उन्हें अधिक से अधिक बढ़ाना और उनको तृप्त करना चाहिये और जब ये अत्यधिक बढ़ जायें तो उसमें उनको तृप्त करने के लिये समुचित बुद्धि और साहस होना चाहिये। किन्तु अधिकांश व्यक्ति निर्बल होते हैं, वे

ऐसा नहीं कर पाते और उन्हे बलवानो के हाथो कष्ट उठाना पड़ता है। इस दुखद स्थिति से बचने के लिये वे संगठित हो जाते है और तृष्णापूर्ति को बुरा बताने लगते है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वे बलवान व्यक्तियो को कानून के शिकंजे में कस देते हैं ताकि वे उनसे आगे न बढ़ने पावें, ऊंचे न उठने पावें। प्रकृति के धर्म के अनुसार तो शक्तिसम्पन्न को शक्तिहीन पर शासन करना ही चाहिये और उसकी अपेक्षा अधिक सुखोपभोग करना चाहिये। निर्बलो द्वारा बनाये हुए कानून इस प्राकृतिक न्याय को अन्याय का रूप दे देते हैं। इसलिये अपने पड़ोसी की अपेक्षा अधिक ग्रहण कर लेना पाप और हेय समझा जाता है। इस प्रकार न्याय का यह खोटा सिक्का बाजार में चलता है; इसका आधार परम्परा है और यह प्रकृति के विरुद्ध है।

थ्रेसीमेकस और कैलीक्लीज दोनो ही स्वीकार करते हैं कि राजनैतिक समाज के लिये न्याय अथवा राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन करना आवश्यक है क्योंकि वह राज्य के विभिन्न सदस्यो को एक माला मे गूथने वाला सूत्र है। यही तो वह गुण है जो मनुष्य को सामाजिक बनाता है। अफलातून की भी यही धारणा है, किन्तु उसके बिलकुल भिन्न कारण है। सोफिस्ट्स और अफलातून में एक महत्वपूर्ण तथा अधिक मौलिक अन्तर और भी है। सोफिस्ट्स यह तो मानते थे कि न्याय एक राजनैतिक समाज के लिये नितान्त आवश्यक है; किन्तु मानवता का सौन्दर्य वे उसमें न देखते थे; उनके अनुसार न्यायपालन मनुष्य को श्रेष्ठ नही निकृष्ट बनाता है। "एक दृष्टान्त से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। एक ऐसे जगली और शानदार घोडे की कल्पना कीजिये जिसका शरीर तगड़ा है और हृदय बलवान है। यदि आप उसे दूसरे घोडों की टीम मे रखकर काम लेना चाहते है तो आपको उसको पालकर उसके हृदय को कुठित करना होगा। परन्तु उसके पालतू बन जाने से वह एक श्रेष्ठतर घोडा नही बन जायगा; वह निश्चित रूप से हीनतर होगा चाहे उसकी उपयोगिता क्यो न बढ गई हो। मनुष्य के ऊपर लगाये गये नैतिक बन्धन भी उसके प्राकृतिक सौन्दर्य और वैभव के लिये उतने ही घातक है जितना कि घोडे को लगाम लगाया जाना उसके साहस के लिये। अन्य मनुष्यों के साथ रहकर जीवन व्यतीत करने के लिये कानून, नीति, न्याय, सब कुछ आवश्यक हैं; किन्तु यह दावा हमे भूलकर भी नही करना चाहिये कि उनसे मानव का सौन्दर्य और धर्म कुछ बढता है।"* इसके विपरीत अफलातून की धारणा थी कि न्याय न केवल मनुष्य के सामाजिक जीवन का सघटन सूत्र है बल्कि वह मानवता का सौन्दर्य है। 'यह वह गुण है जो कि एक ही साथ मनुष्य को श्रेष्ठ तथा सामाजिक बनाता है।'

अफलातून थ्रेसीमेकस के विचारो को जड मे उखाड़ना चाहता था। ऐसा करने के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक था कि व्यक्ति समाज से अलग एक इकाई नही है; वह सम्पूर्ण समाज का एक अभिन्न अंग है जिसमे रहकर उसे अपने निर्धारित कर्तव्य का पालन करना है। सारी रिपब्लिक मे यही धारणा ओत प्रोत है। परन्तु शुरू-शुरू मे अफलातून तर्क द्वारा थ्रेसीमेकस को निरुत्तर करने की चेष्टा करता है;

* Foster: *Masters of Political Thought*, Vol. I, page 45.

वह उसकी दो धारणाओं को अलग-अलग लेकर उनकी अमान्यता सिद्ध करता है। वह कहता है कि शासन प्रबन्ध एक कला है और शल्य तथा नाविक कला की तरह इसका भी उद्देश्य अपनी विषय सामग्री की भलाई है। एक डाक्टर का धर्म अपने मरीज का इलाज करना और उसके रोग का निवारण करना है न कि धन इकट्ठा करना; एक गडरिये का कार्य अपने पशुओं की सेवा करना है, उनका मांस भक्षण करना नही। इसी प्रकार एक शासक का धर्म शासित की भलाई करना है, न कि स्वार्थसिद्धि करना। इसके अतिरिक्त अफलातून ने यह सिद्ध करने का भी प्रयास किया है कि एक न्यायशील व्यक्ति एक अन्यायी की अपेक्षा सदा सुखी रहता है क्योंकि वह सदा मर्यादा तथा अपने कर्तव्य का पालन करता है।

इस तर्क के सामने शायद थ्रेसीमेकस तो निरुत्तर हो गया, वह बहस से अलग हो गया। किन्तु मण्डली के अन्य घटक उससे सन्तुष्ट न हो सके। ग्लॉकन (Glaucon) और ऐडीमेंटस दोनों ही असंतोष प्रकट करते हैं। रिपब्लिक के आधुनिक पाठको को भी यह मान्य नही प्रतीत होता, क्योंकि यह कुछ धारणाओ के अमूर्त अर्थ में से किया गया तर्क है, जबकि थ्रेसीमेकस ने सदैव जीवन के ठोस तथ्यो का उल्लेख किया था। नेटलशिप के शब्दों मे, 'थ्रेसीमेकस द्वारा जीवन के तथ्यो को यदि हम मान लें तो प्रश्न यह उठता है कि क्या वे कुछ अमूर्त धारणाओ को सन्तुष्ट करते हैं, उदाहरण के लिए, यदि सरकार स्वार्थी है तो क्या उसे सरकार कहलाने का कोई अधिकार है।' वे फिर से तर्क करते है और अपनी आशंकाओ और जिज्ञासाओं का कोई नया उत्तर चाहते है। वे सोफिस्ट्स नही है; *न्याय में उनका हार्दिक विश्वास है*; वे इसे मानव जीवन का आवश्यक कर्म मानते हैं किन्तु सोफिस्ट्स और उनके अनुयाइयो की युक्तियों के सामने वे निरुत्तर हो जाते है। नवीन धारा से वे खिन्न अवश्य है किन्तु रोग का कोई निदान उनके पास नही। इसलिए वे सुकरात की ओर देखते है और चाहते है कि वह न्याय तथा अन्याय शब्दों की मीमांसा करे और यह सिद्ध करे कि इन गुणों के वास्तविक परिणाम को छोडते हुए भी न्याय अन्याय मे श्रेष्ठतर है अर्थात् वह एक सापेक्षिक नही वलिक निरपेक्ष सत्य है। इसी लक्ष्य को दृष्टि मे रखते हुए ग्लॉकन थ्रेसीमेकस की भांति यह तर्क करता है कि न्याय एक कृत्रिम चीज है, उसका मूल परम्परा है, वह शाश्वत नही है, मनुष्य और समाज का वह स्वाभाविक गुण नही है, तथापि वह इस बात को नही मानता कि सबल का हित ही न्याय है।

ग्लॉकन के विचार—ग्लॉकन के विचारो का आधार उसकी यह मान्यता है कि मनुष्य एक स्वार्थ-प्रधान प्राणी है और किसी भी प्रकार आत्म-तृप्ति करना उसका धर्म है। इसलिए एक व्यक्ति अन्याय कर सकता है, यदि उसमें कोई संगतिहीनता न हो। परन्तु प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में निर्वल जिनका कि बहुमत होता है अधिक कष्ट उठाते है; *अन्याय से उन्हें इतना लाभ नही होता जितनी कि हानि* हो जाती है। इसी प्रकार यह अवस्था उनके लिए असह्य हो उठती है। इसीलिये वे आपस में यह समझौता करते है कि वे न तो अन्याय स्वय करेंगे और न किसी को

करने देंगे। उसका परिणाम होता है कानूनों का बनना जो मानव व्यवहार तथा न्याय का मानदण्ड निर्धारित करते है। यह है मानवकृत कानून तथा राज्य की उत्पत्ति का सुविख्यात सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त (Social Contract Theory)। ग्लॉकन के अनुसार न्याय का स्रोत भय है। सर्वोत्तम और आदर्श स्थिति तो यह है कि मनुष्य अन्याय करे किन्तु दण्ड से बच निकले और निकृष्टतम तथा सबसे अधिक असह्य स्थिति है अन्याय सहना किन्तु बदला लेने की शक्ति का अभाव होना। न्याय मानो इन दोनों के बीच में एक समझौता है, एक माध्यम है। इसलिये न्याय कोई शाश्वत शुभ नही है; इसका तो केवल वे लोग सम्मान करते रहे है जो अन्याय करने की शक्ति ही नही रखते। जैसा कि हम कह चुके है थ्रेसीमेकस के अनुसार न्याय सबल का हित है; उसका आधार शासन भावना है। ग्लॉकन के अनुसार यह निर्बल का सहारा है; उसका आधार भय की भावना है। परन्तु एक बात मे वे दोनों सहमत हैं और वह यह कि न्याय कृत्रिम है; परम्परागत है और समयानुसार आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिए उसे बनाया गया है; यह कोई नित्य और शाश्वत नैतिक सिद्धान्त नही है। ग्लॉकन के विचारो की समीक्षा सुकरात ने (चाहे अफलातून कह लीजिये) उस औपचारिक और तर्कसंगत ढंग मे नही की जिस तरह मे उसने थ्रेसीमेकस की की थी। उसने उसकी बाल की खाल नही निकाली। इसका कारण यह है कि ग्लॉकन उससे इस समस्या की समीक्षा कराना चाहता था कि न्याय और अन्याय का वास्तविक स्वरूप क्या है और व्यक्ति के आन्तरिक जीवन पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। उसे अपनी शक्ति पर यह भी सिद्ध करना था कि न्याय तत्वतः अन्याय से कही अधिक श्रेष्ठ है और उसके शुभ फल को छोड़ते हुए भी हमें उसका पालन करना चाहिये। (उसका मीठा फल तो न्याय का केवल ढोंग रचने वाला व्यक्ति भी प्राप्त कर सकता है।) सारांश यह कि सुकरात को यह सिद्ध करना था कि न्याय एक निरपेक्ष सत्य है; वह स्वयं अपने मे ही श्रेयस्कर है; वह स्वयं अपना पुरस्कार है।

सुकरात इस चुनौती को स्वीकार करता है; किन्तु वह यह सुझाव पेश करता है कि न्याय की समीक्षा व्यक्तिगत धरातल की अपेक्षा राज्य के स्तर पर करनी अधिक सरल और लाभदायक होगी। उसकी धारणा है कि राज्य मे पाया जाने वाला न्याय व्यक्ति की बुद्धि के न्याय का केवल वृहत्तर रूप है। इन दोनो मे भेद आकार का है, स्वरूप का नही। किन्तु राज्यगत न्याय से कही बडा होने के कारण हम उसे अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। इस धारणा का आधार यह मान्यता है कि राज्य की चेतना उसके व्यक्तियों की चेतना है; उसका न्याय उसके सदस्यो का न्याय है और उसका साहस और ज्ञान उनका साहस और ज्ञान है। राज्य व्यक्ति का ही वृहत्तर रूप है (State is individual writ large)। मानव बुद्धि के आन्तरिक सिद्धान्त ही राज्य में अभिव्यक्त होते है; वे उसमें अधिक स्पष्ट और साकार हो उठते है। इसीलिए उनका अध्ययन करना अपेक्षाकृत सरल है। परन्तु किसी यथार्थ राज्य को लेकर यह उद्देश्य सिद्ध नही किया जा सकता है क्योंकि सभी राज्य अपूर्ण है; उनके कार्यकलाप

मे न्याय के वास्तविक स्वरूप की झाकी हमे नही मिल सकती। इसलिए न्याय की उत्पत्ति और उसका वास्तविक स्वरूप दिखलाने के लिए सुकरात ने एक आदर्श राज्य की कल्पना की और उसके क्रमिक विकास का पर्यवेक्षण किया। कहने की आवश्यकता नही कि सुकरात का उद्देश्य किसी वास्तविक राज्य का वर्णन करना और उसकी ऐतिहासिक समीक्षा करना नही, वरन् राज्य के आदर्श स्वरूप का विश्लेषण कर उसके नित्य और शाश्वत सिद्धान्तो की खोज करना है। उसके सामने जो समस्या पहिले नैतिक थी वही अब राजनैतिक हो उठी।

आदर्श राज्य की रचना—सुकरात की राज्य-रचना का मूल तत्व यह है कि मानव जाति की आवश्यकतायें राज्य को जन्म देती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की बहुत सी आवश्यकतायें हैं जिनमें खाना, कपड़े और मकान की आवश्यकतायें प्रमुख हैं, किन्तु कोई भी मनुष्य अपनी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति अकेला और बिना दूसरों की सहायता और सहयोग के नही कर सकता क्योकि कोई भी स्वय अपने मे पूर्ण नहीं है। इसी के साथ-साथ जहां एक ओर एक व्यक्ति को अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर करना पडता है वहां दूसरो की इच्छा पूर्ति की शक्ति भी उसमे है। यह परस्पर अन्योन्याश्रितता और आदान-प्रदान की आवश्यकता ही समाज का आधार है; इसी के ऊपर सारा सामाजिक जीवन टिका है और इसकी प्रक्रिया स्वय श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने लिए आवश्यक भोजन, कपड़ा तथा मकान तैयार करना अत्यन्त दुष्कर तो है ही साथ ही साथ वह एकदम अवाछनीय भी है। इससे कही अधिक सुगम, सरल, उपयोगी तथा श्रेयस्कर यह है कि कुछ लोग समस्त समाज के लिए भोजन उत्पन्न करें, कुछ कपडा तैयार करें, कुछ मकान बनायें और कुछ लोग अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करें। सुकरात द्वारा समाज की उत्पत्ति के इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि अफलातून के अनुसार राज्य का मौलिक आधार आर्थिक निर्भरता है, सामान्य जन्मभूमि, धर्म या रक्त नही। आगे चलकर ये बातें भी राज्य की एकता को दृढ बनाने में सहायक होती है किन्तु उसके मूल में आर्थिक निर्भरता और परस्पर आदान-प्रदान का सिद्धान्त ही है।

अफलातून ने केवल भोजन, वस्त्र और मकान की आवश्यकताओ पर ध्यान दिया है किन्तु तुरन्त ही उसने यह भी अनुभव कर लिया कि इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए केवल किसान, जुलाहे और मकान बनाने वाले से ही काम नही चल सकता। खेती तथा अन्य कामो के लिए आवश्यक यंत्रो को बनाने और उनकी मरम्मत करने के लिए लुहार, बढ़ई और अन्य शिल्पकारो की भी आवश्यकता पड़ती है। और जिस समाज मे विभिन्न वर्ग विभिन्न कार्यों में लगे हुए हों और सब की कुछ सामान्य आवश्यकतायें हों तो वहां व्यापारियो, वणिकों तथा अन्य श्रमिकों का उत्पन्न हो जाना तो स्वाभाविक ही है। प्रारम्भ में ये सब आवश्यकतायें सरल होती है और इनका चरित्र प्रधानतः आर्थिक होता है। किन्तु सभी लोग तो स्थूल मे सन्तुष्ट होने वाले नही होते; बहुत से लोग जीवन की ललित, सुरम्य और विलासपूर्ण वस्तुओं के लिए लालायित

रहते है। इस प्रकार आवश्यकतायें अधिकाधिक और जटिलतर होती जाती हैं। ऐसी स्थिति में राज्य आत्म-निर्भर नहीं रह पाता, वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपने पड़ोसी राज्यों के भू-भाग की ओर ताकने लगता है जिसका परिणाम होता है युद्ध। इस प्रकार विलासिता युद्ध का मूल है। युद्ध की सम्भावना तथा उससे रक्षण की आवश्यकता के फलस्वरूप राज्य मे सैनिक-वर्ग का आविर्भाव होता है। अफलातून, जो एक सरल राज्य में भी श्रम-विभाजन और विशेषीकरण के सिद्धान्त को मानता है, इस विलासपूर्ण राज्य मे तो उसे और भी अधिक कठोरता के साथ लागू करना चाहता है। यदि यह बात सही है कि खेती करने, मकान बनाने, जूता बनाने इत्यादि-इत्यादि कार्य समाज के अलग-अलग वर्गों के हाथ मे होने चाहियें तो यह बात और भी अधिक सही और उचित है कि राज्य की रक्षा का कार्य एक ऐसे विशेष वर्ग के हाथ मे होना चाहिये जिसने उस कार्य के लिए विशेष शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की है। इसके साथ ही साथ एक शासक-वर्ग की आवश्यकता भी प्रत्यक्ष ही है जिसका कार्य विभिन्न वर्गों की क्रियाओं को नियन्त्रित करना तथा उनको एक दूसरे से सम्बन्ध करना है। यह शासन कार्य उन्ही लोगो के हाथ मे होना चाहिये जिनमे इस कार्य के लिए आवश्यक प्रकृतिदत्त गुण हैं और जिन्होने इसके लिए विशेष शिक्षा प्राप्त की है। अफलातून ने शासक-वर्ग की शिक्षा-दीक्षा के ऊपर विशेष ध्यान दिया है और 'रिपब्लिक' का दूसरा तथा तीसरा अनुच्छेद उसके विवरण से भरे हुए हैं। अफलातून का ऐसा करना स्वाभाविक ही था क्योंकि शासक-वर्ग की कर्तव्यपरायणता और क्षमता पर तो राज्य का जीवन मुख्य निर्भर करता है, इसी के ऊपर तो राज्य की सारी सफलता का दारोमदार है।

जिस आदर्श राज्य का चित्र हमने ऊपर अंकित किया है उसका बड़ा गहरा सम्बन्ध मानव आत्मा की प्रकृति के विषय में उस धारणा से है जो अफलातून ने पाइथैगोरस के अनुयाइयों (Pythagoreans) से अपनाई थी। उसकी धारणा थी कि मानव आत्मा मे तीन तत्त्व या अंश वर्तमान हैं—सर्वप्रथम है इन्द्रिय तृष्णा (Appetite), जिसमे से भूख, प्यास, मोह तथा अन्य कामनायें उत्पन्न होती हैं। राज्य के प्रारम्भिक तथा सरलतम रूप मे जहां कि लोगो का संघटन सूत्र केवल आर्थिक होता है, केवल यह तत्त्व वर्तमान रहता है, अन्य तत्त्व प्रकट नही होते। जाहिर है कि यह राज्य अधूरा है क्योंकि समस्त मानव बुद्धि की अभिव्यंजना इसमे नही होती। जब राज्य अधिक विकसित होता है और उसका वैभव बढ जाता है तो सैनिक-वर्ग का आविर्भाव होता है और शौर्य (Spirit) नामक गुण का उद्भव होता है। यह आर्थिक समाज जिसका आधार केवल इन्द्रिय तृष्णा थी एक सैनिक संघटन मे बदल जाता है जिसका आधार शौर्य है। किन्तु राज्य अब भी अपूर्ण ही है क्योंकि मानव आत्मा के बुद्धि तत्त्व को वहन करने वाला कोई वर्ग उसमे नही है। इस तत्त्व का उद्भव शासक-वर्ग के आविर्भाव के साथ होता है। जो चरित्र इस वर्ग का होता है वही समस्त राज्य का होता है। बार्कर के शब्दों में 'हो सकता है कि अपनी इन्द्रियपरक आवश्यकताओ की

पूर्ति के लिए मनुष्यों ने आर्थिक बन्धन में बध कर एक समूह बनाया हो और शौर्य ने उसे एक नवीन सैनिक बन्धन प्रदान किया हो परन्तु बुद्धि ही मनुष्यो को एक दूसरे को समझना और समझा कर एक दूसरे से प्रेम करना सिखा कर उन्हे एकता के सूत्र मे गूथती है।'* कहने का तात्पर्य यह है कि केवल उसी राज्य को पूर्ण कहा जा सकता है जिसमें मानव आत्मा के समस्त गुण वर्तमान हों। अन्ततोगत्वा, राज्य न तो केवल आर्थिक सगठन है जिसका कार्य जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है; और न ही यह केवल सैनिक सघटन है जो देश रक्षा के लिए बनाया गया है; यह एक बुद्धिपरक सगठन है जो मनुष्यो के एक दूसरे को जानने और प्रेम करने के लिए बनाया गया है। मनुष्यों का यह परस्पर ज्ञान और प्रेम ही राज्य की एकता का आधार है। राज्य की एकता का स्रोत न इन्द्रिय तृष्णा है और न शौर्य, वह एकमात्र बुद्धि है। ध्यान रहे कि अफलातून के अनुसार बुद्धि हमें न केवल एक दूसरे को समझने का सामर्थ्य देती है बल्कि प्रेम करने के लिए भी प्रेरित करती है। इस प्रकार से प्रेम भी बुद्धि का ही एक पहलू है। बार्कर के इन चुने हुए शब्दो में 'शौर्य से सम्बन्ध होकर बुद्धि एक सिपाही को अपने द्वारा रक्षित नागरिको को जानने, चाहने और उनकी रक्षा करने को प्रेरित करती है; किन्तु विशुद्ध बुद्धि शासक को तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा देती है और उसी तत्त्व ज्ञान से राज्य के प्रति प्रेम और सेवा का भाव उत्पन्न होता है।'†

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अफलातूनी राज्य में तीन विभिन्न वर्ग है जिनमें न केवल जन्म और धन की विशिष्टतायें है बल्कि जिनके आन्तरिक गुण और कार्य भी विभिन्न है। ये वर्ग इस प्रकार है— (१) उत्पादक वर्ग, (२) सैनिक वर्ग, (३) शासक वर्ग। इन तीन वर्गों के अतिरिक्त दास भी ऐसे राज्य मे होगे, किन्तु अफलातून ने उनका कही उल्लेख नही किया है। यह वर्ग विभाजन वर्ण व्यवस्था के कितना निकट है। अफलातून का उत्पादक, सैनिक तथा शासक क्रमश: भारत का वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण हो सकता है। किन्तु भारत के शूद्र वर्ण को हम अफलातूनी राज्य के दासों के समकक्ष नही रख सकते क्योंकि इन दोनों के चरित्र और सामाजिक प्रतिष्ठा मे गहरा अन्तर है। अफलातूनी राज्य के वर्गों के विभिन्न मानसिक गुण भी भारतीय गुण विभाजन के अनुरूप ही है। जिन प्रवृत्तियो को अफलातून ने सोना, चाँदी, लोहा कह कर पुकारा है, वे क्रमश. भारतीय परिभाषा में

* 'Appetite may have drawn men together by an economic nexus; spirit may have added a new military bond; it is reason that holds men together by teaching them to understand, and through their understanding, to love one another.' —Barker: *Op. Cit*, page 169.

† 'Reason in its alliance with spirit has caused the soldier to know and to like, and therefore to protect, the citizens whom he guards; but reason in its purity causes the ruler to comprehend and out of his comprehension to love and serve, the state which he governs.' —Barker: *Ibid*, page 169.

सात्विक, राजसिक तथा तामसिक गुण है। जिस प्रकार हमारे प्राचीन ऋषियों ने ब्राह्मणों को भौतिक सुख सामग्री तथा वैभव से अलग रह कर केवल ज्ञान प्राप्त करने और जनता की सेवा करने का आदेश दिया था, इसी प्रकार अफलातून के आदर्श शासकों का कार्य भी केवल विशुद्ध शुभ की खोज और जन-सेवा है। दोनो मे कोई अन्तर ही न हो, ऐसी बात नही ; किन्तु यहाँ पर तो हमारा तात्पर्य दोनो में जो समान है उसे दिखाना है। हमारी धारणा है कि उपरोक्त वर्ग विभाजन मानव स्वभाव के बिल्कुल अनुरूप है। इसमे कोई सन्देह नही कि किसी व्यक्ति मे सत्, किसी मे रजस् तथा किसी मे तमस् की प्रधानता होती है। इस गुण-भेद का स्वाभाविक परिणाम वर्ग-भेद है। जो लोग वर्गहीन समाज की कल्पना करते हैं उन्हे सोचना चाहिये कि क्या ऐसा समाज मानव प्रकृति के अनुरूप होगा। हाँ, इसमे कोई सन्देह नही कि वर्ग का आधार जन्म या धन कदापि नही होना चाहिये। वर्ग-भेद का स्वाभाविक तथा न्याय-संगत आधार प्रकृतिदत्त गुण है न कि मानवकृत विषमतायें।

(1) **आदर्श राज्य में न्याय**—अब हम उस मौलिक प्रश्न पर आते है जिसका उत्तर देने के लिए ही अफलातून ने 'रिपब्लिक' की रचना की। प्रश्न है : न्याय क्या है ? आदर्श राज्य मे यह कहा पाया जाता है ?

प्राचीन यूनानियो के अनुसार एक अच्छे समाज मे चार गुण होने चाहियें : ज्ञान, साहस, संयम तथा न्याय। एक आदर्श राज्य मे ये समस्त गुण वर्तमान होने चाहिये, क्योंकि इन्हे आधारभूत धर्म माना गया है। जिस राज्य मे शासक-वर्ग शासन-प्रबन्ध मे ज्ञान तथा विवेक का परिचय देता है वह बुद्धिमान है ; जिस राज्य का सैनिक वर्ग शांति तथा युद्ध मे साहस से काम लेता है वह वीर है और जिस राज्य मे उत्पादक वर्ग तथा सैनिक-वर्ग शासक-वर्ग के नियन्त्रण को सहर्ष स्वीकार करते हैं और शासक-वर्ग विवेकपूर्ण शासन प्रबन्ध करता है उसी में आत्म-संयम का गुण पाया जाता है। साराश यह कि उसी राज्य मे आत्म-सयम तथा आत्म-नियन्त्रण पाया जाता है जिसके विभिन्न वर्गों मे एक ही सामान्य लक्ष्य मे भक्ति रखने के कारण तालमेल है। और यह सिद्धात कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्रकृतिस्थ गुणो के अनुसार ही कार्य करना चाहिये अर्थात् स्वधर्म का पालन करना चाहिये, न्याय है। आदर्श राज्य की रचना के प्रारम्भ मे ही न्याय का उदय होता है। यदि प्रत्येक वर्ग अपने स्वधर्म का पालन करता है और दूसरो के कार्य में कोई हस्तक्षेप नही करता और शासक-वर्ग अन्य वर्गों में सतुलन रखता है, उन्हें नियन्त्रित रखता है, एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से उन्हें रोकता हैं तथा 'परम शुभ' के ज्ञान के प्रकाश में शासन प्रबन्ध करता हैं तो समझ लीजिये कि उस राज्य में पूर्ण न्याय वर्तमान है। सैंइवान के शब्दो मे 'न्याय समाज का एकता सूत्र है ; यह उन व्यक्तियों के परस्पर तालमेल का नाम है जिनमे से प्रत्येक ने अपनी प्रकृति एवं शिक्षा-दीक्षा के अनुसार अपने कर्तव्य को चुन लिया है और उसका पालन करता है। यह व्यक्तिगत धर्म भी है और सामाजिक धर्म भी क्योंकि इसके द्वारा राज्य तथा

इसके घटकों को परम कल्याण की प्राप्ति होती है।'* प्रो० बार्कर ने इसी विचार को अधिक विस्तार के साथ इस प्रकार व्यक्त किया है : 'समाज मे विभिन्न प्रकार के लोग होते हैं (उत्पादक, सैनिक तथा शासक) जो एक दूसरे की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सगठित हुए हैं और एक समाज में संगठित होकर तथा स्वधर्म का पालन करके उन्होने समाज को एक ऐसी इकाई बनाया है जो पूर्ण है, क्योकि यह सम्पूर्ण मानव मानस की उपज एव उसी का प्रतिबिम्ब है। सामाजिक जीवन के इसी मूलभूत सिद्धांत का नाम न्याय है। ऐसे समाज का एक सिद्धांत होने के नाते न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति का उस कर्तव्य का पालन करना जो उसके प्रकृतिस्थ गुणो एवं सामाजिक स्थिति के अनुकूल है। नागरिक की स्वधर्म की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन मे उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।'†

सारांश यह है कि जो व्यक्ति स्वधर्म का पालन करता है वह न्यायशील है और जिस राज्य या समाज में विभिन्न वर्ग हों और वे अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते हुए एकता के सूत्र में बंधे हुये हो तो समझ लीजिये कि उसने न्याय की पूर्ण अनुभूति कर ली है। *एक न्यायपूर्ण समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करता है ;* गीता के शब्दों में वह स्वधर्म का निर्वाह करता है और दूसरों के स्वधर्म मे हस्तक्षेप नही करता। इसका अभिप्राय यह है कि न्याय एक ही साथ एक विशेषीकरण का सिद्धात है, एक हस्तक्षेपहीनता का सिद्धांत है और एक समन्वय का सिद्धात है। जहाँ तक कि यह इस बात की मांग करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने निर्धारित कर्तव्य पर एकाग्रनिष्ठ रहना चाहिये यह विशेषीकरण है ; जहाँ तक कि यह इस बात की मांग करता है कि समाज के किसी भी अंग को दूसरों के कार्यों को नहीं हथियाना चाहिये यह हस्तक्षेप-हीनता है। एक ऐसा समाज जिसमें प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य को निष्काम कर्तव्य तक ही सीमित रखता है अवश्य ही आन्तरिक रूप से सतुलित और सामंजस्यमय होगा। इस धारणा में यह निहित है कि व्यक्ति और समाज के हितों में कोई विरोध नही है। इसीलिये प्रवृत्ति और कर्तव्य मे भी कोई सघर्ष नही है। यदि इन दोनों मे कोई विरोध दिखलाई पड़ता है तो उसका कारण दूषित शिक्षा और सामाजिक असंतुलन है ; सुशिक्षा और सामाजिक संतुलन से उसे दूर किया जा सकता है ; न कि शक्ति और दमन द्वारा। एक समाज विरोधी व्यक्ति को आवश्यकता इस बात की है कि उसे अपनी प्रकृति का पूर्ण ज्ञान कराया जाये और उस ज्ञान के अनुसार उसकी अन्तर्निहित शक्तियों का विकास किया जाये। जो लोग वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा तानाशाही (**Dictatorship of the Proletariat**) के द्वारा एक नवीन

* 'Justice is the bond which holds society together, a harmonious union of individuals each of whom has found his life work in accordance with his natural fitness and his training. It is both a public and private virtue because the highest good both of the state and its members is hereby conserved.'

—*Sabine* : *op. ct.*, page 54

† Barker : *op, ct*, pages 176—77.

समाज की स्थापना करना चाहते हैं उन्हें अफलातून की धारणाओं तथा परिणामों पर विचार करना चाहिये। हो सकता है ऐसा करने से उन्हें तथा समाज को कुछ लाभ हो।

जिस न्याय का ऊपर वर्णन किया गया है वह सामाजिक न्याय है, अथवा वह न्याय है जो राज्य मे पाया जाता है। किन्तु सुकरात के सामने समस्या व्यक्तिगत न्याय की थी। अफलातून की धारणा है कि न्याय एक ही होता है, चाहे उसकी अभिव्यक्ति सामाजिक स्तर पर हो, चाहे व्यक्ति में। व्यक्ति मे न्याय उस प्रवृत्ति का द्योतक है 'जिसके कारण मनुष्य अपनी तृष्णा अथवा स्वार्थ से ऊपर उठता है।' इसका अर्थ यह है कि एक न्यायशील मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार अनुशासित करना चाहिये कि तृष्णा और ओज बुद्धि के अधीन रहें और उसकी आज्ञा का पालन करें। तृष्णा और ओज को पूर्ण रूप से नष्ट नही करना है; उन्हे मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट तत्व अर्थात् बुद्धि द्वारा नियन्त्रित करना है। इस प्रकार से कर्म करते हुए एक मनुष्य केवल एक मनुष्य के रूप में कार्य करेगा, बहुत के रूप में नही। उसके जीवन मे सामजस्य और आन्तरिक सन्तुलन होगा; और वह मानव सामर्थ्य के अनुसार सर्वोच्च शुभ को प्राप्त करेगा; वह आत्म-मगत और शुभ बन जायेगा। एक न्यायशील मनुष्य अपने आपको उसी कार्य विशेष मे लगायेगा जिसके लिए वह स्वभाव से सर्वाधिक योग्य है, और आन्तरिक सामजस्य प्राप्त करेगा।

न्याय के सामाजिक और व्यक्तिगत, इन दो पहलुओ को मिलाकर हम कह सकते हैं कि अफलातून के अनुसार न्याय वह सूत्र है जो कि मनुष्यों को राज्यों मे सघटित करता है और उन्हे अच्छा बनाता है। यह एक और वही गुण है जो कि मनुष्यों को सामाजिक बनाता है और उन्हे अच्छा बनाता है।

इस बात मे कि न्याय वह सूत्र है जो एक राज्य के घटकों को सघटित रखता है सोफिस्ट्स भी सहमत थे, यद्यपि ऐसा करने के उनके कारण दूसरे थे। किन्तु अफलातून न्याय को एक मानवी धर्म भी समझता था जिसका पालन करने से मनुष्य मनुष्य बन जाता है और शुभ की प्राप्ति करता है। सोफिस्ट्स ऐसा नही मानते थे। आइये देखें कि न्याय किस प्रकार मनुष्य को शुभ बना देता है।

एक व्यक्ति एक अच्छा विद्वान, एक अच्छा वक्ता, एक अच्छा संगीतज्ञ, एक अच्छा शिल्पकार, एक अच्छा प्रशासक, एक अच्छा खिलाडी इत्यादि हो सकता है। एक विशेष प्रकार का गुण व्यक्ति को एक विशेष कार्य मे सिद्धहस्त बना देता है। किन्तु एक या कई विशिष्ट कामो या कलाओ मे कौशल प्राप्त करने से ही कोई व्यक्ति एक अच्छा मनुष्य नही कहा जा सकता। यह आवश्यक नही कि एक अच्छा वक्ता या एक अच्छा अध्यापक एक अच्छा मनुष्य भी हो। जो गुण मनुष्य को अच्छा अथवा शुभ बनाता है वह है उसकी 'न्याय' भावना। किन्तु 'न्याय' का कार्यक्षेत्र कोई विशिष्ट नही है; वह जीवन के किसी विभाग विशेष से ही सम्बद्ध नही है; वह तो सम्पूर्ण जीवन का निर्माता है। जिस प्रकार एक Architect का कार्य अपने अधीनस्थ कार्य

करने वालों की देखभाल करना और यह देखना है कि सब लोग इस प्रकार कार्य करें जिससे आदर्श और सुन्दर भवन का निर्माण हो, इसी प्रकार न्याय का कार्य भी समस्त मानवी गुणों को प्रभावित और प्रेरित करके एक अच्छे मनुष्य का निर्माण करना है।

दूसरे शब्दों मे हम यह कह सकते हैं कि अफलातून के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति मे कोई विशेष गुण होता है और उसकी कोई विशेष प्रवृत्ति होती है जिसके अनुसार वह सामाजिक जीवन मे अपना विशिष्ट योग दे सकता है। न्याय की माग यह है कि उसे अपने उस कार्य को यथाशक्ति सर्वोत्तम ढंग से तथा एकाग्रचित होकर करना चाहिये। इस प्रकार जीवन व्यतीत करना आध्यात्मिक स्वास्थ्य का लक्षण है; इसके विपरीत आचरण करना आध्यात्मिक रोग का द्योतक है।

अन्त में, इस सम्बन्ध में याद रखने की बात यह है कि अफलातून ने 'न्याय' शब्द को उस कानूनी अर्थ में प्रयोग नही किया है जिसमें कि हम करते हैं। व्यक्ति के अधिकार और न्यायालय द्वारा उन्हें प्रतिष्ठित करने से अफलातून के 'न्याय' का कोई सम्बन्ध नही है। शांति और व्यवस्था स्थापित रखने से भी इसका कोई सम्बन्ध नही है। अफलातून के लिए तो न्याय एक सामाजिक धर्म है; यह वह सिद्धात है जो समाज के विभिन्न वर्गो के पारस्परिक सम्बन्धो को नियंत्रित करता है। यह उन साधनो का प्रतिपादन करता है जिनके अपनाने से समाज एक सुखी, सुन्दर और शुभ जीवन की प्राप्ति कर सकता है। सोफिस्ट्स को जो कि सिद्धांत तथा व्यवहार मे व्यक्तिवाद का प्रचार करते थे, अफलातून का यह अन्तिम उत्तर है। वह सिद्ध यह करना चाहता है कि व्यक्ति समाज से अलग रह कर कोई महत्त्व नही रखता; वह समाजरूपी सम्पूर्ण का एक अभिन्न अंग है; उससे हटकर वह अपना जीवन सुखी और सुन्दर नही बना सकता। उसका समस्त जीवन ही समाज के प्रति अपने कर्तव्य अर्थात् स्वधर्म का पालन करना है।

अफलातून के न्याय सिद्धान्त की आलोचना—अफलातून के न्याय सिद्धांत की आलोचना विभिन्न दृष्टिकोणों से की गई है। कुछ आलोचकों ने तो उस उद्देश्य को समुचित महत्व नहीं दिया जो कि रिपब्लिक की रचना करते समय अफलातून के मन में था। और कुछ लोगों की आपत्तिया वास्तव में उसके राज्य के सिद्धांत के विरुद्ध हैं, उसकी न्याय की धारणा के विरुद्ध नही। उदाहरण के लिए, अरस्तु का यह कहना कि यह सिद्धांत राज्य का अत्यधिक एकीकरण करता है वास्तव मे राज्य के सिद्धांत की ही आलोचना है। यहां पर हम केवल एक मुख्य आपत्ति पर विचार करेंगे जो कि उसकी न्याय की धारणा के विरुद्ध उठाई जाती है।

अफलातून की न्याय की धारणा के विरुद्ध एक आपत्ति आमतौर से यह उठाई जाती है कि इसके अनुसार व्यक्ति पूर्ण रूप से राज्य के अधीन हो गया है। तीसरे और सबसे बड़े वर्ग, अर्थात् उत्पादक वर्ग, के लोगो को कई राजनीतिक अधिकार नही दिये गये; वे अपने स्वभाव के केवल वासनामय पक्ष के आश्रय रहते हैं; उनके स्वरूप के ओज तथा बुद्धि तत्व पूर्ण रूप से अतृप्त रहते है। वे उच्च वर्गों के लिए केवल

टहलुए और सेवक है। इसी प्रकार उच्च दो वर्गों के घटकों को पारिवारिक जीवन का भोग करने का निषेध कर दिया गया है; वे किसी ऐन्द्रिक सुख का भोग नहीं कर सकते। जैसा कि वेपर ने इतने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है, 'निम्नतम वर्ग बिना किसी आपत्ति के शासकों की आज्ञा का पालन करते है ताकि निकृष्ट मनुष्यों की इच्छायें थोडे से सुसस्कृत व्यक्तियों की इच्छाओं और बुद्धि द्वारा नियंत्रित हो जायें; और वह सुसस्कृत व्यक्तियो से अपने समस्त व्यक्तिगत हितों का राज्य के लिए परित्याग कराता है।' अफलातून के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का जीवन केवल उस कार्य के कारण सार्थक और महत्वपूर्ण है जो कि वह राज्य की सेवा के लिए करता है। अफलातून इस आपत्ति को पहिले से ही जानता है और उसने 'रिपब्लिक' मे उसका उत्तर देने की चेष्टा की है। वह एडीमेण्टस से यह कहलवाता है कि यह सारा प्रश्न ही कि क्या न्याय लाभप्रद है या न्याय अलाभप्रद है, हास्यास्पद है। आदर्श राज्य की रचना का उद्देश्य शासक-वर्ग का सुख नही है, बल्कि समाज का कल्याण है। अफलातून लिखता है 'हमारा विरोधी उत्सवमग्न कृषकों के बारे में सोच रहा है जो कि जीवन की बहार ले रहे है, उसे उन नागरिकों का ध्यान नहीं है जो कि राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे है।' दूसरी बात जो हमें याद रखनी चाहिये वह यह है कि सारी 'रिपब्लिक' मे अफलातून का सम्बन्ध आत्माओं से है और उसका उद्देश्य एक ऐसे राज्य का चित्र अंकित करना है जिसमे कि व्यक्ति सच्चे अर्थों में अपने जीवन साध्य की सिद्धि कर सकता है। हम कह सकते है कि जिस प्रकार कि ईश्वर का एक सच्चा भक्त ईश्वर के साथ एकाकार होकर अपना अस्तित्व नही खो देता बल्कि अपने सर्वोत्कृष्ट रूप की प्राप्ति करता है, इसी प्रकार अफलातून का नागरिक भी राज्य की सेवा में लगकर अपने आपको खो नही देता बल्कि पा लेता है। आदर्श राज्य मे व्यक्ति का निषेध नही है, बल्कि उसकी सिद्धि हो जाती है। यदि 'प्रत्येक से उसकी सामर्थ्य के अनुसार लो और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार दो', इस सिद्धान्त का अर्थ व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान करना है तो अफलातून पर अवश्य ही यह आरोप लगाया जा सकता है; परन्तु इस सिद्धान्त की इस प्रकार व्याख्या करना गलत है। हमें यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि अफलातून के लिए एक अच्छा राज्य स्वयं में एक साधन नही है; इसका अस्तित्व व्यक्ति की पूर्णता के लिए है। सारांश यह कि व्यक्ति की आत्मा के इतना प्रसरण हो जाने का कि उसमें सम्पूर्ण समाज सम्मिलित हो जाये, अर्थ उसका निषेध अथवा बलिदान नही है, वरन् उसका अधिक भव्य होना और उसकी सिद्धि है। अफलातून के अनुसार राज्य की महानता का निर्णय उसके नागरिकों के चरित्र की उत्कृष्टता से होना चाहिए, उनके धन, विलास, सुख इत्यादि से नही। इसलिए यह आपत्ति अनुचित है।

अफलातून के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपत्ति उठाना अधिक संगत होगा कि व्यक्ति की सिद्धि की स्थितियाँ वह केवल दार्शनिक राजाओं को ही प्रदान करता है जो कि बुद्धि द्वारा आचरण करते हैं; उत्पादक-वर्ग के घटकों को बुद्धि के अनुसार

आचरण करने की समस्त सुविधाओं का निषेध कर दिया गया है। वे राज्य में है, किन्तु उसके नहीं हैं। यही बात सैनिक-वर्ग पर लागू होती है, यद्यपि अपेक्षाकृत कुछ कम। एक वास्तविक रूप से अच्छे राज्य मे आत्म-विकास का अवसर प्रत्येक नागरिक को मिलना चाहिए।

रिपब्लिक मे शिक्षा सिद्धान्त

परिचयात्मक—यह हम बता चुके हैं कि अफलातून के अनुसार मनुष्यों का समाज में तालमेल के साथ रहना और प्रत्येक व्यक्ति का स्वधर्म का पालन करना ही न्याय है। इसी प्रसंग मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसा तालमेल किस प्रकार स्थापित किया जाये। एक व्यक्ति को किस प्रकार अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए अनुप्रेरित किया जाये ? अफलातून इस ध्येय की पूर्ति के लिए दो महान् संस्थाओं, एक सामान्य शिक्षा तथा साम्यवाद के ऊपर आधारित नवीन सामाजिक व्यवस्था, का सुझाव रखता है जिनमे से पहिली दूसरी से कही अधिक महत्वपूर्ण है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन करके शिक्षा हमारे जीवन की भूलो को सुधारती है ; वह दोष की जड़ पर ही प्रहार करती है। बार्कर के सुन्दर शब्दो मे शिक्षा 'मानसिक रोग को मानसिक औषधि द्वारा ठीक करने का प्रयास है।'* साम्यवाद की व्यवस्था अफलातून बतौर अहतियात करता है। साम्यवाद उन परिस्थितियो को दूर करने के लिए है जो स्वार्थपूर्ण व्यक्तिवाद को जन्म देती हैं। शासकों के सामने से जीवन सम्बन्धी मुख्य प्रलोभनों को दूर करना ही साम्यवाद का उद्देश्य है। शिक्षा और साम्यवाद का हम यहाँ पर बारी-बारी से वर्णन करेंगे।

शिक्षा का स्वरूप तथा उद्देश्य—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है है कि अफलातून शिक्षा को 'एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया समझता है जिसके द्वारा समाज के घटक एक सामाजिक चेतना से भर कर समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना सीखते है।'† शिक्षा वह अभिकरण है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना उचित स्थान पाता है, अपने को उसके अनुसार ढालता है और तत्सम्बन्धी कर्तव्य का नि.स्वार्थ भाव से पालन करता है। शिक्षा के सामाजिक पहलू पर बल देना सोफिस्ट्स की धारणा के एकदम विपरीत है कि शिक्षा व्यक्तिगत सफलता का साधन है, न कि सामाजिक धर्म-शीलता का। आज भी हम शिक्षा को अपनी व्यक्तिगत सफलता की कुंजी ही समझते है, समाज सेवा और धर्मशीलता का साधन नहीं। शिक्षा विषयक अफलातून की समाज प्रधान धारणा को आज के सर्वभक्षी (Totalitarian) राज्यों ने अधिक अपनाया है जहाँ कि शिक्षा को व्यक्ति तथा समाज में सामजस्य स्थापित करने का साधन समझा जाता है।

---

* '...... attempt to cure a mental malady by mental medicine'

† '.. .. ..a social process by which the units of a society become instinct with social consciousness and learn to fulfil all social demands.'

—Barker : *Ibid*, page 182.

किन्तु अफलातून ने शिक्षा के व्यक्तिगत पहलू को भी नहीं भुलाया है। उसके लिए शिक्षा न केवल समाज सेवा का साधन है बल्कि वह व्यक्ति के लिए सत्य अनुसधान का भी यत्र है। इसका उद्देश्य मनुष्य के ज्ञान चक्षु को आलोकित करना है ताकि वह इन्द्रिय जगत से परे वास्तविक सत्य को देख सके। इस प्रकार सामाजिक धर्म के एक साधन तथा सत्य प्राप्ति के एक अवयव के रूप में शिक्षा के दो स्वरूप अफलातून के सम्पूर्ण सिद्धात मे बडी सुन्दरता के साथ मिले हुये हैं।

अफलातून की शिक्षा पद्धति—अफलातून की धारणा है कि मानव आत्मा एक अनुकरणशील पदार्थ है क्योकि वह अपने आपको अपने परिवेश के अनुसार स्वाभाविक रूप से ढाल लेती है, वह अपने विकास की विभिन्न स्थितियो में विभिन्न रूप से कार्य करती है। मानव आत्मा की यह धारणा ही अफलातून की शिक्षा पद्धति का आधार है। उसके लिए शिक्षा का अर्थ यह है कि आत्मा का जैसा स्वरूप हम बनाना चाहें वैसा ही परिवेश हमे उसके लिए तय्यार करना चाहिये। एक शिक्षाशास्त्री का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य एक समुचित वातावरण को निर्धारित करना है।

आत्मा को एक अनुकरणशील चीज कहने का तात्पर्य यह नही कि वह निष्क्रिय है। नही, अफलातून उसे मूलतः क्रियाशील समझता है। शिक्षक का कार्य इसमे विचारो या ज्ञान को ठूसना नही बल्कि उसी मे अन्तर्हित सर्वश्रेष्ठ तत्व को जाग्रत करना है, विकसित करना है। आत्मा पर अपने परिवेश का प्रभाव निरन्तर और प्रत्येक स्थिति मे पडता रहता है इसलिये शिक्षा का क्रम आजीवन चलना चाहिये, हाँ, उसके साधन, अधिकरण और माध्यम अवस्थानुसार बदलते रहते है। बाल्यावस्था मे आत्मा पर कल्पना का सर्वाधिक प्रभाव पडता है, इसीलिये प्रारम्भिक शिक्षा कल्पना को परिमार्जित बनाना है, भावनाओं को परिष्कृत करना है। किशोरावस्था को प्राप्त होने पर तर्क का उदय होता है और आत्मा तर्क द्वारा ग्राह्य बन जाती है, इसलिये इस अवस्था मे शिक्षा विज्ञान तथा दर्शन द्वारा तर्क शक्ति को प्रखर करके दी जानी चाहिये। प्रारम्भिक शिक्षा का स्वभाव तथा स्वरूप प्रधानत. सामाजिक है; उसका उद्देश्य व्यक्ति को समाज के प्रति अपने कर्तव्यो को जानना तथा समुचित रूप से उनका पालन करने की दीक्षा देना है। आगे चलकर शिक्षा का यह सामाजिक चरित्र कुछ धूमिल पड़ जाता है; वह सत्य साधना तथा ब्रह्म दर्शन का एक साधन बन जाती है। प्रारम्भिक शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के कारण अफलातून उस पर बहुत अधिक ध्यान देता है। 'रिपब्लिक' के एक बडे भाग मे प्रारम्भिक तथा उच्च शिक्षा की तफसीलें भरी पडी है और उसमें नवीन प्रणालिया तथा सुधार सुझाये गये हैं। रूसो का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि 'रिपब्लिक' शिक्षाशास्त्र का एक महानतम ग्रंथ है।

अफलातून की शिक्षा पद्धति की एक अन्य विशेषता भी ध्यान देने योग्य है। वह इस बात का आग्रह करता है कि शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये और उसके ऊपर राज्य का अधिकार होना चाहिये। शिक्षा से जो कार्य वह लेना चाहता है उसे देखते हुये उसका यह आग्रह करना स्वाभाविक है। शिक्षा के द्वारा ही तो शासक व्यक्तियों

के चरित्र का निर्माण कर सकता है और उन्हें निःस्वार्थ भाव से समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित कर सकता है। तो फिर ऐसी महत्वपूर्ण चीज को राज्य भला कैसे व्यक्तिगत हाथों मे छोड़े। उसे तो स्वय ही उसका निर्देशन तथा नियंत्रण करना चाहिये और इसी कारण से उसे समस्त नागरिको के लिए अनिवार्य भी बनाना चाहिये। राज्याश्रित अनिवार्य शिक्षा अफलातून का एक नवीन आविष्कार थी, ऐथन्स में ऐसी कोई चीज कभी नही पाई गई। इसलिये सैबाइन के शब्दो मे हम इसे 'उस जनतंत्री प्रथा की एक समालोचना कह सकते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने बच्चो के लिए ऐसी शिक्षा खरीदने की स्वतन्त्रता देती है जो या तो उसे अच्छी लगती हो या जो बाजार मे उपलब्ध हो।'* उसकी प्रणाली स्पार्टा का आदर्शीकरण था जहाँ कि राज्य इस बात का प्रबन्ध करता था कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी शिक्षा मिले जिससे वह अपने कर्तव्यों का पालन कर सके।

ऐथन्स की तत्कालीन पद्धति मे अफलातून ने एक दूसरी नवीन उद्भावना यह की कि उसने स्त्री पुरुषो के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया। उसकी कल्पना के आदर्श राज्य में स्त्री पुरुषो के राज्य सम्बन्धी कामो मे कोई भेद नही है; स्त्री पुरुष समान रूप से प्रत्येक पद के अधिकारी हैं। याद रहे कि उस जमाने के ऐथन्स मे सार्वजनिक जीवन से स्त्रियों को बिल्कुल अलग रखखा जाता था।

इस प्रसंग में अन्तिम बात यह है कि अफलातून ने अपनी शिक्षा योजना मे उत्पादक वर्ग का कोई उल्लेख नहीं किया; उसने इस बात की कोई विवेचना नही की कि उसे किस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिये। शासको तथा सैनिकों के दो उच्च वर्गों में उसका मन इतना रमा हुआ था कि तीसरे वर्ग की ओर उसका ध्यान ही नही गया यह कमी अत्यन्त महत्वपूर्ण है; इससे शिक्षा के उद्देश्य के विषय मे अफलातून की धारणा और हमारी अपनी धारणा का अन्तर इतना स्पष्ट हो जाता है जितना कि अन्य किसी बात से नही। अपनी शिक्षा योजना अफलातून ने अभीष्ट प्रकार का शासक वर्ग उत्पन्न करने के लिए बनाई थी; इसलिये उसने धन के उत्पादकों के तीसरे बड़े वर्ग की अवहेलना की। हमारा, अर्थात् बीसवी शताब्दी के लोकतन्त्रवादियो का, उद्देश्य शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार करना है ताकि समस्त व्यक्तियों की संस्कृति और ज्ञान की निहित सम्भावनाओ का विकास हो सके। इसीलिये हम इसे उदार कहते है।

शिक्षा का पाठ्यक्रम (Curriculum)—जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं अफलातून नागरिको की शिक्षा को दो भागों मे विभक्त करता है; प्रारम्भिक तथा उच्च। इस वर्गीकरण का मुख्य आधार आयु भेद है; किन्तु इसमें वर्ग भेद भी सम्मिलित है। प्रारम्भिक शिक्षा एक ओर तो किशोरावस्था के लिए है और दूसरी ओर सैनिक वर्ग के लिए। इसी प्रकार उच्च शिक्षा एक ओर तो प्रौढ़ावस्था के लिए और

---

* '.... a running criticism upon the democratic custom of leaving every man to purchase for his children such education as he fancies or as the market affords.' —Sabine: *op. cit.*, page 60

दूसरी ओर शासक वर्ग के लिए। पहिली प्रकार की शिक्षा का ध्येय भावनाओं का परिमार्जन करके चरित्र का निर्माण करना है और दूसरी का उद्देश्य है विज्ञान तथा ज्ञान द्वारा बुद्धि का परिष्कार करना।

(१) **प्रारम्भिक शिक्षा**—प्रारम्भिक शिक्षा की जो योजना अफलातून ने हमारे सामने रखी है वह सर्वथा नवीन नहीं है, बल्कि उसने ऐथन्स तथा स्पार्टा की पद्धतियों में से कुछ बातों को लेकर एक नवीन सम्मिश्रण तैयार किया है। उसका तत्त्व तो ऐथन्स से ही लिया गया था ; किन्तु स्पार्टा की भावना का अनुसरण करते हुये उसने उसे एक सामाजिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधन बनाया। परन्तु स्पार्टा की शिक्षा प्रणाली का ध्येय जबकि एक शक्तिशाली सैनिक-वर्ग को उत्पन्न करना था जो युद्ध मे विजय प्राप्त कर सके, अफलातून का ध्येय उससे कहीं अधिक विस्तृत और सामान्य था। वह था व्यक्ति को राज्य मे उसकी स्थिति के योग्य बनाना और उसमे बौद्धिक तथा नैतिक गुणों का विकास करना।

ऐथन्स की परम्परा के अनुसार ही अफलातून ने भी सोचा कि सर्वश्रेष्ठ शिक्षा आत्मा के लिये संगीत और शरीर के लिये व्यायाम है। परन्तु संगीत और व्यायाम शब्दो का अफलातून ने उससे कही अधिक व्यापक अर्थ लगाया है जो इन शब्दों का ऐथन्सवासी लगाते थे या हम आज लगाते है। संगीत केवल गायन, वादन तक ही सीमित न था ; उसमे साहित्य के श्रेष्ठतम ग्रन्थों का अध्ययन, काव्य, राग अलापना, इत्यादि भी सम्मिलित थे। यहाँ तक कि अन्य ललित कलाये भी उसके अन्तर्गत थी। इसी प्रकार व्यायाम शब्द मे भी शारीरिक व्यायाम के अतिरिक्त भोजन-शास्त्र तथा औषधि-शास्त्र भी सम्मिलित थे। इन दोनो प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण करना है ; यह एक नैतिक उद्देश्य है। व्यायाम द्वारा एक ऐसे शरीर का निर्माण करना है जिसमे एक स्वस्थ और विशुद्ध मन का विकास हो सके ; जिसमें साहस तथा धैर्य के गुण पनप सकें। इसका मूल ध्येय एक सैनिक जीवन की तैयारी करना है। सैनिक के शौर्य गुण को संतुलित रखने के लिये ही काव्य तथा अन्य साहित्य के अध्ययन की व्यवस्था की गई है। 'इसका उद्देश्य तरुण आत्मा की उन समस्याओं के बारे में जिन्हे कि इसे हल करना है, सही अनुभूति करने की प्रेरणा तथा सामर्थ्य देना है और उस अनुभूति को इतना तीव्र तथा प्रबल बनाना है कि वह अपने वाञ्छनीय कर्तव्यों का पालन बिना किसी शंका के करता रहे।'* संगीत तभी सार्थक हो सकता है जबकि शिक्षक अपरिपक्व मस्तिष्क के सामने ऐसी कोई चीज ही न आने दे जो आगे चलकर उसके लिए वांछनीय या हितकर न हो। इसी लिए संगीत और काव्य में अफलातून एक जबर्दस्त सुधार करना चाहता है और उनके ऊपर राज्य का कड़ा नियन्त्रण लगाता है। वह सुधार संगीत के अंतरंग और बहिरंग अथवा भाव तथा कला दोनो पक्षों में होना चाहिये। तरुण बुद्धि के सामने देवताओं के

---

* 'It is meant to habituate the young soul, which is still in the stage of

सम्बन्ध मे मिथ्या धारणाये नही आनी चाहिये और कविता की शैली वर्णनात्मक तथा रूप महाकाव्य होना चाहिये। साराश यह कि साहित्य तथा संगीत अपने विशुद्ध नैतिक उद्देश्य की पूर्ति तभी कर सकते है जबकि उनका रूप सरल हो और राज्य का उन पर पूर्ण नियन्त्रण हो।

अफलातून द्वारा कवि और कलाकार को राज्य के शिकजे मे जकड़ने के इस प्रयत्न की बहुत से लोग कटु आलोचना तथा घोर निन्दा करते है। उनका कहना है कि इस प्रकार के नियन्त्रण मे तो कला का स्वतन्त्र विकास हो ही नही सकता। कला-कामिनी के सौदर्य के प्रस्फुटन के लिए स्वाधीनता पहिली शर्त है। 'नैतिक उपदेश के पाश मे जकड़ी हुई कला मानव हृदय को स्पर्श नही कर सकती और जो कला विशुद्ध कला के रूप मे मानव हृदय को नही गुदगुदा सकती वह उसके आचार को भी प्रभावित नही कर सकती।'*

(2) उच्च शिक्षा—जिस प्रारम्भिक शिक्षा की रूपरेखा हमने ऊपर दी है उसके उपरान्त दो वर्ष का एक पाठ्यक्रम सैनिक शिक्षा का होगा। इसके समाप्त होने पर उन व्यक्तियो को छांटा जायेगा जिनमे विज्ञान के लिये एक विशेष और स्पष्ट अभिरुचि होगी। पहिले प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य तरुणावस्था में नागरिक गुणों का आरोपण तथा विकास करना था ; उच्च शिक्षा प्रौढ़ावस्था की शिक्षा है, इसका लक्ष्य कुछ चुनीदा व्यक्तियो को राज्य का योग्य अभिभावक (Guardians) या शासक बनाना है। यह २० वर्ष की आयु मे आरम्भ होकर ३० वर्ष तक की आयु तक अर्थात् १० वर्षों तक चलेगी। जिस प्रकार कि एक सैनिक का विशेष गुण साहस अथवा शौर्य है, एक शासक का आवश्यक गुण ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता है। इसलिए उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम विद्यार्थियो में ज्ञान का सचार करके उन्हे बुद्धिमान बनाना है। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए गणित तथा तत्कालीन ज्योतिष शास्त्रों को आवश्यक और उपयुक्त समझा गया है। दस वर्ष तक इन विषयो का अध्ययन करने के उपरान्त द्वन्द्ववाद (Dialectic) का अध्ययन आरंभ होता है जो पाच वर्ष तक चलता है। द्वन्द्ववाद ही वह साधन है जिसके द्वारा विशुद्ध तत्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तत्त्व सम्बन्धी समस्त विचारो में सर्वोच्च विचार शुभ (Good) की समीक्षा है जो समस्त प्राण का कारण और ज्ञान का लक्ष्य है। अफलातूनवाद में शुभ सम्बन्धी विचार का वही स्थान है जो वेदान्त मे ब्रह्म का है। जिस तत्त्ववेत्ता ने परम शुभ को जान लिया है, वह सच्चा ज्ञानी है और केवल वही शासन करने का अधिकारी है। साराश यह कि उच्च शिक्षा का उद्देश्य दार्शनिक-राजा तथा अभिभावको को उत्पन्न करना है जिनका राज्य में सर्वोच्च स्थान होगा। सैबाइन का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि 'रिपब्लिक की यह सबसे अधिक मौलिक तथा

* 'Art cabined and confined by the state to a moral purpose, will lose its appeal to the emotions, and failing to touch the hearer or the reader as art it will fail to touch him as ethics.' —Barker; *Ibid*, page 195.

विशिष्ट योजना है।' उच्च शिक्षा की जो रूपरेखा हमने यहाँ दी है उसके बहुत बडे भाग पर अकादमी में अमल होता था जो ३८६ ई० पू० में 'रिपब्लिक' की रचना समाप्त होने के पहिले खोली जा चुकी थी। हमें यह याद रखना चाहिये कि अकादमी की स्थापना प्रशासक और राजनीतिज्ञ उत्पन्न करने के लिए की गई थी, केवल विद्वान नहीं। हमारे आज के विश्वविद्यालय शासक उत्पन्न करने के लिये नहीं बनाये गये है।

आदर्श राज्य में शासन के सिद्धान्त—प्रारम्भिक तथा उच्च-शिक्षा की उपरोक्त विवेचना से यह तो स्पष्ट ही होगा कि दोनों प्रकार की शिक्षा का अन्तिम और प्रधान लक्ष्य ऐसे दो वर्गों की सृष्टि करना है जिनमें एक में शौर्य और साहस तथा दूसरे में ज्ञान तथा बुद्धि का प्राबल्य हो जिनके कारण वे राज्य की निष्काम सेवा कर सकें। इन वर्गों के घटक उत्पादक-वर्ग के घटकों से कहीं श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनमें धर्माचरण की शक्ति अधिक है। इन दोनों वर्गों मे भी शासक-वर्ग सैनिक-वर्ग की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है; अधिक पुण्यशील होने के कारण ही वह राजनैतिक शक्ति वहन करने का पात्र है। इस प्रकार हम देखते है कि अफलातून के सिद्धान्त तथा अन्य सिद्धान्तों में मुख्य भेद यह है कि अफलातून के अनुसार 'शासन कार्य के लिए आवश्यक योग्यता का आधार आचार (Virtue) की श्रेष्ठता है।' इसे हम शासन का सर्वप्रथम सिद्धान्त कह सकते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त में से ही अफलातून के विचार की एक अन्य विशेपता उत्पन्न होती है। सभी मनुष्य बराबर धर्मात्मा नही होते; इसलिए समता के आधार पर मनुष्यों को शासन प्रबन्ध में भाग लेने का कोई अधिकार नही है। धर्मशील व्यक्तियो को धर्मविहीन प्राणियों पर शासन करना चाहिए। इसके विपरीत कोई भी व्यवस्था अन्यायपूर्ण तथा घातक है। न्याय की माग यह है कि धर्मात्मा और ज्ञानी का धर्महीन और अज्ञानी पर प्रभुत्व होना चाहिये। जिस प्रकार एक आदर्श व्यक्ति वह है जो बुद्धि और साहसपूर्वक अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, इसी प्रकार आदर्श राज्य वह है जिसमें ज्ञानी और शूरवीर दूसरो के ऊपर शासन करते हैं। जाहिर है कि ऐसे व्यक्तियो की संख्या कोई बहुत बडी नही हो सकती इसलिए अफलातून का आदर्श राज्य स्वाभाविक रूप से कुलीनतन्त्री होगा। आज की जनतन्त्री धारा से अफलातून की यह धारणा कितनी दूर है। आज का लोकतन्त्रवादी अफलातून की इस धारणा को स्वीकार नही करता कि शासन को एकाकी रूप से एक छोटे से वर्ग को सौंप दिया जाये जो कि आचार की श्रेष्ठता मे दूसरों से विशिष्ट हो; वह अफलातून की इस बात को मानने के लिए तय्यार नही कि शासन एक पूर्ण-काल का कार्य है और उसके लिए विशिष्ट प्रकार की योग्यता की आवश्यकता है जो कि एक विशिष्ट सामाजिक-वर्ग में ही पाई जाती है। इसलिए वह दार्शनिक राजाओं के सारे सिद्धान्त को ठुकराता है।

अफलातून के आदर्श राज्य मे शासन का दूसरा मुख्य सिद्धान्त यह है कि उसमें शासक-वर्ग के हित राज्य के हितो के बिल्कुल अनुरूप हो जाते हैं, या यों कहिये कि

राज्य के कल्याण से अलग शासको का कोई निजी हित है ही नही । समष्टि के कल्याण मे ही वे परमानन्द का अनुभव करते हैं । शासको की शिक्षा-दीक्षा और उनकी चुनाव पद्धति का स्वाभाविक परिणाम ही इस प्रकार की निष्काम प्रवृत्ति का उदय होना है । यह कहा जा सकता है कि वे गीता की भाषा मे कर्मयोगी, मुमुक्षु बन जाते हैं शिव भाव का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य न केवल बुद्धिमान हो जाता है बल्कि वह उसे प्राप्त करने के लिए इच्छुक हो उठता है क्योंकि ज्ञान की सदा कर्म मे निष्पत्ति होती है । किन्तु हो सकता है कि इन्द्रियजनित प्रलोभन मनुष्य को ज्ञान मार्ग से विचलित कर दे । इसी शंका को दूर करने के लिए अफलातून ने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की योजना की है . यह है सुविख्यात पत्नियो तथा सम्पत्ति का साम्यवाद । इसकी विवेचना हम आगे चलकर करेंगे ।

दार्शनिक राजाओं का शासन—यह धारणा कि आदर्श राज्य में शासन-कार्य परम बुद्धिमान व्यक्तियो के हाथ मे रहना चाहिए उपरोक्त सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम है । विशेषज्ञों द्वारा शासन की इस धारणा का प्रतिपादन अफलातून इस विख्यात और प्रायः उद्धृत अवतरण में करता है

"जब तक कि दार्शनिक राज्य नही होते, अथवा इस ससार के राजाओं और शासको मे दर्शन शास्त्र की भावना और शक्ति नही हो जाती, और राजनीतिक महानता तथा बुद्धिमत्ता एक मे नही मिल जाती, और वे साधारण मनुष्य जो कि इनमें से केवल किसी एक गुण को (दूसरे की पूर्ण रूप से अवहेलना करते हुए) प्राप्त करने की चेष्टा करते है, अलग हट जाने के लिए विवश नही कर दिये जाते, तब तक नगर-राज्य बुराइयों से मुक्त नही हो सकते—और न ही, जैसा कि मेरा विश्वास है, सम्पूर्ण मानव जाति को शान्ति प्राप्त हो सकती है—और केवल तब ही हमारे इस राज्य को जीवन की सम्भावना प्राप्त होगी और यह दिन का प्रकाश देखेगा ।"

दार्शनिक-राजाओ द्वारा शासन की यह धारणा अफलातून की समस्त धारणाओं में सबसे अधिक मौलिक और गहरी है, इसकी हमें कुछ विस्तृत समीक्षा करनी चाहिए । यह हमारे लोकतत्री विश्वास और व्यवहार के एकदम विपरीत है और स्वतन्त्र नागरिकता के आदर्श वाले नगर-राज्य के राजनीतिक विश्वास का भी यह निषेध है, इसलिए यह हमारे विस्तृत अध्ययन का और भी अधिक पात्र है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह विचार कि शासन-कार्य आवश्यक रूप से ही कुछ विशिष्ट विशेषज्ञों के हाथ मे रहना चाहिये उपरोक्त सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम है, अर्थात् यह कि शासन-कार्य के लिए आवश्यक और पर्याप्त योग्यता आचार की श्रेष्ठता है, और इस कार्य के लिए विशिष्ट प्रकार की योग्यता की आवश्यकता है जो कि केवल थोड़े से ही व्यक्तियों मे पाई जाती है । इन सिद्धान्तो की सत्यता स्वीकार की जा सकती है परन्तु अफलातून कुछ ऐसी बातें भी कहता है जो कि आधुनिक जनतन्त्रवादी को मान्य नही हैं और जो न इतना सत्य ही है । वह यह मानता है कि ऐसी दार्शनिक प्रवृत्तियां केवल कुलीनतन्त्री-वर्ग मे ही पाई जा सकती है, कृषकों और शिल्पकारों में

इसीलिए वह धन के उत्पादकों के वर्ग को जो कि राज्य मे सबसे बड़ा वर्ग होता है अपनी शिक्षा योजना से बाहर रखता है। निसंदेह वह यह तो मानता है कि अपने स्वभाव में स्वर्ण रखने वाला व्यक्ति ऐसे माता-पिता के यहां भी उत्पन्न हो सकता है जिसके स्वभाव मे चाँदी या लोहा हो परन्तु ऐसे व्यक्तियों को उत्पादक-वर्ग के शेष घटको से अलग छाटने का कोई उपाय तो नही है। परन्तु अफलातून की योजना के इस दोष पर अत्यधिक बल देना आवश्यक नही है ; हम इसके लोकतन्त्र-विरोधी स्वरूप को देखकर दूसरी और अधिक महत्वपूर्ण बात पर आते है।

यह है दार्शनिक राजाओं का निरकुश शासन। दार्शनिक राजा निरंकुश है क्योंकि किसी लिखित कानून की उनके ऊपर कोई सीमायें नही है और जनमत के प्रेति वह उत्तरदायी है, और न ही वह उसका आदर करता है। इस शासन को एक दूसरे अर्थ मे भी निरकुश कहा जा सकता है। वह यह कि इसमें सर्वसाधारण का कोई भाग नही है ; उन्हे चुपचाप शासक-वर्ग की आज्ञाओ का पालन करना पडता है। नागरिको को दार्शनिक राजा के सामने उसी प्रकार समर्पण कर देना चाहिये जिस प्रकार कि एक रोगी को अपना उपचार करने वाले वैद्य के सामने करना पडता है। अफलातून ने शासन की तुलना कलाओ से प्राय की है।

इस बात को देखकर कि आदर्श राज्य के नागरिको से दार्शनिक राजाओं के निरंकुश शासन के सामने समर्पित करने की प्रत्याशा की जाती है और राज्य की नीति के निर्धारण मे उनका कोई भाग नही होता, कोई आवाज नही होती, कुछ लोग यह कहते है कि हॉब्स के लेवियाथन (Leviathan) की प्रजा के सदृश अफलातून के नागरिक भी दासता की स्थिति में हैं ; उन्हे केवल शासक-वर्ग की इच्छाओ का पालन करना पड़ता है। चाहे यह बुद्धि की दासता ही सही, पर है तो दासता ही ; सोने की जंजीरें भी वैसे ही बांधती हैं जैसे की लोहे की जजीरें। इसीलिए विशेषज्ञों द्वारा शासन की यह धारणा स्वतंत्र नागरिकता के यूनानी आदर्श का निषेध है जिसका अर्थ यह था कि प्रत्येक नागरिक कभी न कभी शासन के कर्तव्यों और अधिकारो मे भाग ले सकता था, और आधुनिक लोकतंत्री भावना के विरुद्ध है। नागरिको की तुलना रोगियों मे करना, जो कि स्वयं अपनी देखभाल नही कर सकते और इसलिए जिनकी देखभाल एक विशेषज्ञ को ही करनी चाहिये, गलत है।

दार्शनिक राजाओ के शासन के आदर्श रूप मे सर्वश्रेष्ठ होने की अफलातूनी धारणा के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि यह निर्बाध निरंकुशता है, यूनानियो की आततायीतंत्र (Tyranny) तो यह निश्चित रूप से ही नही है। लिखित कानून और जनमत के बन्धनों से यह स्वतंत्र हो सकता था, किन्तु संविधान के मूलभूत सिद्धातो मे स्वतंत्र यह नहीं था। दार्शनिक राजाओं का यह देखना परम कर्तव्य है कि राज्य संविधान के आधारभूत सिद्धांतो के अनुसार चले जिनमे अफलातून चार गिनाता है। इस प्रसंग में हमे यह याद रखना चाहिये कि दार्शनिक राजा के जो आवश्यक नैतिक गुण हैं उनके कारण उसके शासन के नमनकारी और निरकुश हो जाने की सम्भावना

नहीं है। वह स्पष्ट रूप से अपने साध्य और उसके प्राप्त करने के लिए उपयुक्त साधनों को जानता है। उसे सत्य से प्रेम है जिसमे वे समस्त सद्गुण सम्मिलित है जो कि आदर्श मानव प्रकृति का अंग है। इसमे वास्तविक तत्व के लिए तीव्र उत्कठा और प्रत्येक जानने योग्य वस्तु को जानने की इच्छा निहित है। जब सच्ची दार्शनिक प्रकृति वाले मनुष्य मे पूर्ण आत्म-सयम होगा और उसका हृदय घृणा, द्वेष, क्षुद्रता आदि अवगुणों से सर्वथा रहित होगा। स्पष्टत वह न्यायप्रिय भी होगा। साराश यह है कि दार्शनिक तत्त्व मूल रूप से मानवीय तत्त्व है ; यही मनुष्य को सच्चा मानव बनाता है। ऐसा मनुष्य वास्तव में शासन करने योग्य है ; इसके प्रति अधीनता एक निरकुश आततायी के अधीन होना नही है।

यदि हम उन बातो को समझ लें जिनके कारण अफलातून ने लिखित कानून तथा लोकमत को अपने आदर्श राज्य मे बाहर रक्खा तो उपरोक्त अनुच्छेद मे जिस बात पर जोर दिया गया है उसे हम कदाचित अधिक समझ सकें। यह किसी सनक अथवा मनमानेपन का परिणाम नही था ; तर्क इसकी माग करता था। यदि ये मान्यतायें अर्थात् (१) आचार की ज्ञान के साथ एकरूपता, (२) वास्तविक अथवा वैज्ञानिक ज्ञान का विश्वास अथवा मत से विभेद, और उपरोक्त की अपेक्षा पूर्वोक्त की श्रेष्ठता (जो कि अफलातून के चिंतन का आरम्भ बिन्दु है) सही मान ली जाती हैं तो रिपब्लिक के सारे ढाचे को हमे उसका तार्किक परिणाम मानकर स्वीकार करना होगा जिसके शिखर पर दार्शनिक राजा बैठे हुए है जो कि प्रदीक्षित बुद्धि द्वारा शासन करते हैं और और जिन्हे जनमत और लिखित कानून के निर्देशन की कोई आवश्यकता नही। शुभ की धारणा के ज्ञान से प्रसूत बुद्धि से हम यह आशा नही कर सकते कि वह कानून के सामने झुके जो कि परम्परा के ऊपर आधारित होता है। बार्कर के शब्दों में, "दार्शनिक राजा ऊपर लादा हुआ या एक दावा मात्र नही है : वह उस सम्पूर्ण पद्धति का तर्कसंगत परिणाम है जिसके ऊपर राज्य की रचना चली है।"

दार्शनिक राजा की धारणा में मौलिक सत्य—फोस्टर (Foster) का कहना है कि अफलातून के सम्पूर्ण राजनीतिक विचार मे दार्शनिक राजा की धारणा सबसे अधिक मौलिक है। यदि हम देख ही चुके हैं कि जनतंत्र की दृष्टि में यह [illegible] है ; ऐथन्स के स्वतंत्र नागरिकता के आदर्श से भी यह ताल नहीं [illegible]। अरस्तू ने इस विचार का पूर्ण तिरस्कार किया ; उसके आदर्श राज्य में दार्शनिक राजा के लिए कोई स्थान नही है। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या अफलातून की यह सबसे अधिक नवीन और मौलिक धारणा [illegible] है ? क्या विशेषज्ञ बुद्धि द्वारा शासन में सत्य का कुछ अंश नहीं है ? नहीं। ऐसा [illegible] नहीं है। अफलातून के सिद्धान्त में नि संदेह एक आधारभूत सत्य है जिसे प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में अपनाया जा सकता है। अफलातून की इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि शासन एक कठिन कला है जिसके लिए एक विशेष शिक्षा और दीक्षा आवश्यक है। शासन की समस्याओं का वैज्ञानिक ज्ञान ग्रहण करने और उन्हें सुलझाने की विशेष

योग्यता रखने वाले व्यक्तियों के अभाव में तो स्वय जनतंत्र भी विफल हो जायेगा। इस तत्व का प्रतिपादन करना अफलातून की एक महान् महत्ता थी कि जब तक राजनीतिक सत्ता बुद्धिमान के हाथ मे नहीं आ जाती और बुद्धिहीन व्यक्तियो को राजनीतिक शक्ति से अलग नही कर दिया जाता तब तक राज्य के दोष दूर नही किये जा सकते। हमारे आज के संकटों और विनाश का प्रधान कारण शक्ति का बुद्धि से अलग होना है। अत अफलातून का यह मूल सिद्धान्त कि बुद्धि को ही शासन करने का अधिकार है सही है। हाँ, जिस प्रकार उसने इसे क्रियान्वित करने की चेष्टा की है वह अवश्य ही दोषपूर्ण है। उसका कुछ वर्गों को राजनीतिक सत्ता के लिए वंचित कर देना अनुचित और अन्यायपूर्ण है।

दार्शनिक राजाओं का शासन न केवल राज्य के उच्चतम अंग में बुद्धि और राजनीतिक शक्ति का सम्मिश्रण कर देता है, बल्कि यह वर्ग-संघर्ष का, जिसमें प्रत्येक युग में राज्य ग्रस्त रहे है, अन्त करने का भी सर्वोत्तम उपाय है। वर्ग-संघर्ष तब खड़ा होता है जबकि शासक-वर्ग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग करता है; एक ऐसे समाज मे यह नही पाया जा सकता जिसमे कि शासक-गण अपने को सम्पूर्ण समाज की सेवा मे लगा देते हैं और जहाँ सार्वजनिक सेवा में पद प्राप्त करने का एकमात्र आधार योग्यता, सच्चरित्रता तथा उत्तरदायित्व को वहन करने की सामर्थ्य होती है। दार्शनिक राजा तथा अभिभावको की धारणा मे ही यह बात निहित है कि वे अपने निजी सुखो से ऊपर उठ जाते है और सामान्य हित की साधना में रत होकर ही उन्हें सच्चा परमानन्द प्राप्त होता है। सार्वजनिक हित के वेष मे निजी स्वार्थ सिद्ध करना उनके लिए असम्भव है। यह कहना कि यह शासन भ्रष्ट और स्वार्थी हो सकता है अफलातून की धारणा के दार्शनिक स्वभाव से अनभिज्ञता का परिचय देना है।

अन्त में, हमें यह भी याद रखना चाहिये कि दार्शनिक राजाओं तथा अभिभावकों का जीवन त्याग और समर्पण का जीवन है। यदि उन्हें राजनीतिक शक्ति प्राप्त है तो उसके लिए उन्हे धन का मोह, ऐन्द्रिक सुख तथा पारिवारिक जीवन इत्यादि व्यक्तिगत हितो का बलिदान करना पडता है। अफलातून किसी वर्ग से नहीं, बल्कि समाज के समस्त वर्गों से बलिदान चाहता है। यदि आर्थिक-वर्ग को राजनीतिक शक्ति का परित्याग करना पडता है और वह अपनी नागरिक स्वतंत्रताये खो देता है तो दो उच्च वर्गो को आर्थिक शक्ति से वंचित कर दिया जाता है। एक ऐसे समाज मे जिसकी प्रधान तान सर्वहित है, वर्ग-संघर्ष का होना और पनपना सम्भव नही। इस प्रकार हम देखते है कि इस धारणा मे कई तत्व ऐसे हैं जिनका महान् और स्थायी मूल है। किन्तु इसका सबसे बडा दोष यह है कि इसके लिए अपेक्षित मनुष्य बहुत कम मिलते हैं। इतिहास मे दार्शनिक राजाओं का कोई उदाहरण नहीं मिलता। पहिले तो पर्याप्त संख्या में ऐसे मनुष्य नही मिल सकते जिन्हे कि शुभ की धारणा का ज्ञान हो और जिनका स्वभाव ऐसा दार्शनिक हो जैसा कि ऊपर बताया गया है। यदि किसी

समाज में ऐसे व्यक्ति हो भी तो उन्हें छांटना और इस बात की व्यवस्था करना कि राजनीतिक शक्ति उन्ही तक सीमित रहे असम्भव होगा। अन्य नागरिक अपने आप को स्थायी रूप से शक्ति से वंचित किये जाने को सहन नही करेंगे। मनुष्य जैसे यथार्थ मे है, उन्हें देखते हुए कोई भी व्यक्ति इतना अच्छा नही है जिसे कि निरंकुश शक्ति सौंपी जा सके, और अधिकतर मनुष्य ऐसे निरपेक्ष रूप से आज्ञाकारी भी नहीं रहेंगे जैसा कि अफलातून चाहता है। कदाचित यही कारण है कि अफलातूनी आदर्श कही भी यथार्थ नही हुआ है।

जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, अफलातून की दार्शनिक राजाओ द्वारा शासन की धारणा के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण आपत्ति यह उठाई जाती है कि ऐसे शासन के अत्याचारी तथा दमनकारी होने की सम्भावना रहती है। यह कहा जाता है कि सत्ता का उपभोग मनुष्य को भ्रष्ट कर देता है, और निरंकुश सत्ता का उपभोग तो पूर्णरूप से ही भ्रष्ट कर देता है। इस बात का कोई आश्वासन नही हो सकता कि अफलातून की धारणा के दार्शनिक शासक इस नियम का अपवाद सिद्ध होंगे, अर्थात् वे, अन्ततोगत्वा, अपनी सत्ता का प्रयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नही करेंगे। कहा जाता है कि स्वयं अफलातून भी इस प्रकार की सम्भावनाओं तथा आशकाओ को सर्वथा निराधार नही समझता था ; उसे भय था कि कही ऐसा न हो जाये कि उसके ग्रंथ 'रिपब्लिक' का प्रयोग सुधार के बजाय भ्रष्टाचार तथा निरंकुश सत्ता के समर्थन के लिए किया जाये। प्रो० आर० के० मिश्र लिखते है : "यह भोले-भाले लोगो को जाल मे फंसा सकता है और आततायियो को इससे प्रोत्साहन मिल सकता है। इसलिये तथाकथित दार्शनिक राजाओ के व्यक्तिगत शासन का परित्याग करके उसके स्थान में कानून का अव्यक्तिगत शासन अपनाया जाना चाहिये।"*

हमें इस प्रकार की आपत्तियों मे कोई अधिक औचित्य दिखाई नही पड़ता ; हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इनके उठाये जाने का कारण दार्शनिक राजाओं के वास्तविक स्वरूप को न समझ पाना है। जिन दार्शनिक राजाओ का स्वप्न अफलातून ने देखा था वे साधारण मानव प्राणी नही है जिनमें साधारण मानवीय दुर्बलतायें पाई जाती हों और जो निरंकुश सत्ता के प्रयोग से भ्रष्ट हो सकते हो ; वे तो मनुष्यो के मध्य देवता हैं जिन्होने कि विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र के अध्ययन द्वारा तथा परम सत्ता के दर्शन के फलस्वरूप उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वे ऐसे मनुष्य है जिन्होंने पूर्णता की उच्चतम अवस्था प्राप्त करली है ; हम उन्हे ब्रह्म-ज्ञानी अथवा ब्रह्म-ऋषि कह कर पुकार सकते है। परम सत्ता के दर्शन ने उनकी सम्पूर्ण वासना तथा तृष्णा को भस्म कर डाला है ; गीता के शब्दों में हम उन्हे स्थित प्रज्ञ अथवा त्रिगुणातीत कह सकते हैं। जो कि सांसारिक प्रलोभनो से ऊपर उठ गये हैं। उनका पतन होना उतना

---

* "It might act as a trap for the innocent and a sign-post for the guilty Hence the personal rule of the so called philosopher-kings must be sacrificed for the impersonal rule of law."

—R. K. Misra : *Political Legacy of Plato and Aristotle*, page 61.

ही असम्भव है जितना कि एक वृत्त के व्यासार्धो का असमान होना। इसके अतिरिक्त आलोचकगण यह भी भूल जाते है कि जिस व्यक्ति के हाथो में राजनीतिक सत्ता होती है उसे उसका दुरुपयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति करने का प्रलोभन तभी हो सकता है जबकि वह राजनीतिक सत्ता के साथ-साथ आर्थिक हितों की पूर्ति भी करना चाहता है। सत्ता केवल अपवित्र तथा दुर्बल व्यक्तियों को ही भ्रष्ट करती है ; एक निर्मल तथा उदात्त आत्मा पर उसका ऐसा कोई प्रभाव नही पड़ सकता। अपनी कल्पना के दार्शनिक राजाओ के लिए समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था करके तथा यह आग्रह करके कि उनके कोई आर्थिक हित नही होंगे, अफलातून उनके जीवन की निर्मलता को सुरक्षित रखने की चेष्टा करता है।

प्रो० मिथ्र की आपत्ति के विषय मे यह कहा जा सकता है कि अफलातून के अपने ग्रथ 'लॉज' (Laws) में दार्शनिक राजाओ के निरंकुश शासन की धारणा का परित्याग करके उसके स्थान पर विधि द्वारा दर्शन के परोक्ष शासन की धारणा को प्रतिस्थापित करने का कारण यह नही था कि उसे यह आशका थी कि उसकी 'रिपब्लिक' का प्रयोग एक सर्वाधिकारवादी शासन का समर्थन करने के लिए किया जायेगा, अथवा उससे 'भ्रष्टाचार तथा निरंकुश शासन को प्रोत्साहन मिल सकता है, बल्कि उसकी यह अनुभूति थी कि उसकी धारणा का एक दार्शनिक राजा कही मिल नही सकता। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, उसने 'रिपब्लिक' मे प्रतिपादित आदर्श को गलत समझकर उसका परित्याग नही किया ; उसने तो केवल यह अनुभव किया कि उसको व्यावहारिक रूप नही दिया जा सकता था।

रिपब्लिक में साम्यवाद का सिद्धान्त

परिचयात्मक—हम पहले ही सकेत कर चुके है कि अपने आदर्श राज्य में न्याय की सिद्धि के लिए अफलातून ने दो बातों की व्यवस्था की है। एक है राज्याधिकृत शिक्षा और दूसरी है सैनिकों तथा शासकों के लिए पत्नियों तथा सम्पत्ति का साम्यवाद। इन दोनो वर्गो को सामूहिक रूप से अभिभावकगण कह कर पुकारा गया है। यहा पर हम साम्यवाद की विवेचना करेंगे।

सम्पत्ति का साम्यवाद—अफलातून का विश्वास है कि एक समुचित तथा स्वस्थ शिक्षा प्रणाली द्वारा अभिभावक वर्ग को अपने विशेष कार्य करने तथा समाज के प्रति निःस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए तय्यार किया जा सकता है। यह उनके अन्दर यह भावना उत्पन्न करेगी कि राज्य की एकता और सुदृढता कायम रखना उनका परम धर्म है और उसके अतिरिक्त उनका अपना कोई हित नही है। किन्तु हो सकता है कि विपरीत वातावरण मे पहुच कर शिक्षा द्वारा उत्पन्न हुए ये सस्कार उनके हृदय से मिट जाये। हो सकता है कि उनकी जीवन पद्धति ऐसी हो जिसमे उनके अपने हित तथा समाज हित मे सघर्ष होने लगे और वे स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने सामाजिक कर्तव्यो की अवहेलना करें। अफलातून इस खतरे से अनभिज्ञ नही है। इसलिए अपने उद्देश्य की सिद्धि को सर्वथा निर्बाध तथा निश्चित

बनाने के लिए अभिभावक वर्ग के लिए एक ऐसी जीवन पद्धति का आविष्कार करता है 'जो कि न तो उनके अभिभावक धर्म के पालन में बाधक हो और जिसमें न उनके लिए अन्य नागरिकों का शोषण करने के लिए कोई प्रलोभन हो। उस जीवन पद्धति का वर्णन उसी के शब्दों में सुनिये "पहिली बात तो यह कि उनके पास केवल उतनी ही सम्पत्ति होगी जो जीवन के लिए नितान्त अनिवार्य है। न तो उनके पास अपना कोई घर होगा और न कोई ऐसा गोदाम जो सबके लिए खुला न हो। उनको वही वस्तुयें दी जायेंगी जो कि कुशल सैनिकों के लिए आवश्यक हैं जो धीर तथा साहसी मनुष्य होते हैं। उन्हें नागरिकों से केवल यही निर्धारित वेतन लेना चाहिये जो उनकी वर्ष भर की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, उससे अधिक कुछ नहीं लेना चाहिये। उन्हें सामान्य भोजनालय में भोजन करना चाहिये और सिपाहियों की तरह डेरों में रहना चाहिए : ········ और केवल ये ही ऐसे नागरिक हैं जिन्हें सोना चांदी छूना तक न चाहिये और न उनके बर्तनों में पीना चाहिए। इसी में उनकी मुक्ति है और ऐसा ही करने से ये राज्य के रक्षक बन सकेंगे। परन्तु यदि उन्होंने घर या भूमि या धन का संचय कर लिया तो वे अभिभावक की जगह गृहस्थी और कृषक बन जायेंगे, दूसरे नागरिकों के मित्र न रह कर उनके शत्रु बन जायेंगे और उनके ऊपर अत्याचार करने लगेंगे। वे दूसरों से घृणा करेंगे और दूसरे लोग उनसे घृणा करेंगे; वे दूसरों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचेंगे। इस प्रकार आजीवन उनके ऊपर बाहरी शत्रुओं की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं का ही भय अधिक छाया रहेगा और उनका तथा समस्त राज्य का विनाश होने में कोई देर न लगेगी।"

अफलातून के उपरोक्त कथन में सम्पत्ति के साम्यवाद के राजनीतिक तथा व्यावहारिक आधार पर जोर दिया गया है। उसे पूर्ण विश्वास है कि शासन की स्वच्छता तथा कुशलता के लिए कोई चीज इतनी घातक नहीं होती जितनी कि राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति का एक ही हाथ में इकट्ठा हो जाना। राज्य में जिन लोगों के हाथ में राजनीतिक शक्ति है यदि उनके कुछ निजी आर्थिक हित भी हों तो हो सकता है कि वे निःस्वार्थ तथा ज्ञान का मार्ग छोड़कर अपना पेट भरना तथा दूसरों का शोषण करना शुरू कर दें। यह वही तो सिद्धान्त है जिसके ऊपर कार्ल मार्क्स ने इतना बल दिया है कि वह आर्थिक-वर्ग जिसके हाथ में राजनीतिक शक्ति होती है अन्य वर्गों का अपने स्वार्थ के लिए शोषण करता है। इसीलिए अफलातून राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों को अलग-अलग रखना चाहता है। वह चाहता है कि जो लोग आर्थिक क्रियाओं में लगे हों उनका राजनीतिक शक्ति में कोई भाग नहीं होना चाहिए और जिन लोगों के हाथ में राजनीतिक सत्ता हो उनके कोई आर्थिक हित नहीं होने चाहियें। इसी तथ्य को मनोवैज्ञानिक भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : यदि अभिभावकगण अपने शौर्य तथा बुद्धि द्वारा विहित कार्यों को तत्परता तथा एकाग्रता के साथ करना चाहते हैं तो उन्हें तृष्णाजनित (Appetitive) आर्थिक जीवन व्यापार का परित्याग करना ही पड़ेगा। बिना साम्यवाद के बुद्धि या तो निष्क्रिय पड़ी रहेगी

या तृष्णा उसे उद्वेलित करती रहेगी। धन की लालसा अभिभावकों के समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन के मार्ग में एक गम्भीर बाधा होगी।

अभिभावक-वर्ग के इस अपरिग्रह का विधान करने का एक दूसरा कारण भी है। हम पहिले ही कह चुके हैं कि अफलातून केवल उन्ही व्यक्तियों को रक्षा तथा शासन की बागडोर सौपना चाहता है जिनमे क्रमश. साहस और बुद्धि है, अर्थात् वह धर्म की श्रेष्ठता को सरकार में भाग लेने के लिए एकमात्र योग्यता मानता है। अब यदि राज्य मे सभी नागरिको को सम्पत्ति सग्रह की छूट दे दी जावे तो हो सकता है कि राजनीतिक पदो के लिए चुनाव का आधार धर्म (Virtue) न रह कर सम्पत्ति हो जावे। इसलिए यदि राजनीतिक योग्यता का आधार स्वय मनुष्य को रखना है न कि उसके बाहरी उपकरणो को, तो उच्च-वर्गों को निजी सम्पत्ति से वंचित ही कर देना चाहिए। निजी सम्पत्ति का विनाश इस बात की गारण्टी है कि सरकारी पदो पर लोग अपने गुणो के कारण आयेगे न कि अपने धन के बल पर। इसी युक्ति को सैबाइन ने इस प्रकार व्यक्त किया है : "सरकार के ऊपर धन के खतरनाक प्रभाव का अफलातून को इतना दृढ विश्वास था कि उसे दूर करने के लिए उसे स्वयं सम्पत्ति का ही विनाश करना पड़ा, जहाँ तक कि सिपाहियो और शासकों का सम्बन्ध है।"* इस प्रसग में यह बात दिलचस्पी से खाली नही है कि अफलातून आदर्श राज्य के उत्तरोत्तर अध.पतन का कारण राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति का सम्मिश्रण बतलाता है।

अफलातून के इस मन्तव्य को कि सैनिको तथा शासको का न कोई अपना घर होना चाहिये और न निजी सम्पत्ति, साधारणतया साम्यवाद की संज्ञा दी जाती है। इस संज्ञा के औचित्य मे सन्देह हो सकता है क्योंकि अफलातून ने अभिभावको के लिए परिवार तथा उसके लिए अपरिहार्य धन का सर्वथा निषेध कर दिया है। उनको बहुत थोडी सी सामान्य सम्पत्ति उसने दी है। यह कहना अधिक उचित होगा कि उनका सम्पत्ति पर सामान्य अधिकार नही बल्कि सम्पत्ति त्याग मे वे समान भागीदार है। यही त्याग तो राज्य की एकता का सूत्र है। यदि इस शब्द के औचित्य को स्वीकार भी कर लिया जाये तो भी हमे यह याद रखना चाहिये कि अफलातून के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद मे आकाश-पाताल का अन्तर है। उस अन्तर को समझना उपयोगी होगा। अत. उनके मुख्य-मुख्य भेदो की हम यहाँ विवेचना करेंगे।

अफलातूनी साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद—पहिली बात जो हमें याद रखनी चाहिये वह यह है कि अफलातून ने सम्पत्ति का विनाश केवल अभिभावक वर्ग के लिए किया है ; उत्पादक वर्ग को उसने अछूता छोड दिया है। इसलिए राज्य के आर्थिक ढांचे के ऊपर इसका कोई प्रभाव नही पड़ता ; उत्पादन की व्यक्तिवादी

* ... Plato convinced of the ...

व्यवस्था में यह कोई परिवर्तन नहीं करता ; एक भी उत्पादक के ऊपर रत्ती भर प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत आधुनिक समाजवाद तथा साम्यवाद का लक्ष्य राज्य के आर्थिक ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन करना है ; वे उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का पूर्ण विनाश करके उन्हें सामूहिक हाथों में सौंप देना चाहते हैं। इसलिए जहाँ तक उत्पादन प्रणाली के ऊपर प्रभाव का सम्बन्ध है अफलातून का साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद दो बिल्कुल अलग-अलग चीज हैं ; उनमें नाम के अतिरिक्त कुछ भी साम्य नहीं है। अफलातून का साम्यवाद केवल उपभोग सामग्री को प्रभावित करता है, उत्पादन के भौतिक साधनों को नहीं। अभिभावकगण खाने, कपड़े तथा रहने की बैरकों में समान भागीदार हैं, भूमि और पूंजी पर उनका समानाधिकार नहीं। उनका साझा धन में नहीं गरीबी में है। इसके विपरीत आधुनिक समाजवाद तथा साम्यवाद उपभोग की वस्तुओं पर निजी प्रभुत्व का सिद्धान्त स्वीकार करता है जो अफलातून को मान्य नहीं है। अभिभावकगण को जीवन-निर्वाह के लिए उत्पादक-वर्ग जो कुछ देता है उसके ऊपर अभिभावकों का निजी स्वामित्व नहीं हो सकता, उसका वे सामान्य उपभोग ही कर सकते हैं। दूसरी बात यह कि अफलातून के साम्यवाद का स्वरूप राजनीतिक है क्योंकि उनका लक्ष्य राज्य की एकता प्राप्त करना है, धन का समान वितरण करना नहीं। उनकी योजना में उत्पादक-वर्ग में आर्थिक विषमतायें रहेंगी। वह निजी सम्पत्ति का विनाश राजनीति में आर्थिक उद्देश्य को नष्ट करने के लिए ही करना चाहता है। आधुनिक साम्यवाद तथा समाजवाद का प्रधान चरित्र आर्थिक है, आधुनिकतम समाजवादी तथा साम्यवादी तो श्रमिकों के हाथ में ही राज्यशक्ति दे देना चाहते हैं। तीसरी बात यह जैसा कि पहिले बार-बार कहा जा चुका है कि अफलातून का साम्यवाद अपूर्व साम्यवाद है ; वह नागरिकों के छोटे से ही वर्ग को प्रभावित करता है। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद सर्वव्यापी है। सर्वव्यापी वह दो अर्थ में है। एक तो इसलिए कि वह राज्य के समस्त नागरिकों को प्रभावित करता है, दूसरे उसका स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय है। आज का साम्यवादी एक ऐसे विश्व समाज की कल्पना करता है जिसमें कोई राष्ट्रराज्य न होंगे। उसका नारा है : संसार के मजदूरो, एक हो जाओ ! अफलातून ने ऐसे विश्व संगठन का, नगर-राज्य जिसके [illegible], कभी सपना भी न देखा था ; वह तो स्वतंत्र सेवक दासों स्वतन्त्र नगरराज्य को सामाजिक संघटन का सर्वोत्कृष्ट रूप समझता था। अन्तिम बात यह कि अफलातून का साम्यवाद त्यागप्रधान है ; 'यह एक त्याग का मार्ग है और उस त्याग की मांग सर्वोत्तम और केवल सर्वोत्तम मनुष्य से की गई है।'* अफलातून क्योंकि सम्पत्ति को बाधा समझता है इसलिए वह अभिभावक-वर्ग से उसका परित्याग करने को कहता है जबकि आधुनिक साम्यवाद धन सम्पत्ति की सार्वजनीनता से कोई [illegible]

* 'It is the way of surrender; and it is surrender [illegible] and only on the best.' —Barker: *Ibid*, page 212.

करता ; वह उनका अधिक न्याय-संगत वितरण चाहता है। इसीलिए तो हम देखते हैं कि अफलातून उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण की कोई मांग नहीं करता। वह तो केवल उत्पत्ति के अंश का समाजीकरण करना चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवाद अफलातून के लिये गौण है ; उसका लक्ष्य राजनीतिक है। हां, उसके लिए वह एक विशिष्ट प्रकार की आर्थिक प्रणाली को आवश्यक समझता है, इसीलिए उसकी व्यवस्था वह करता है। विपरीत इसके आधुनिक साम्यवादियों का प्रधान लक्ष्य आर्थिक है, उनके राजनीतिक उद्देश्य उसके परिणामस्वरूप हैं। इस प्रकार इन दोनों में राजनीतिक तथा आर्थिक पक्षों का बिल्कुल विपर्यय हो गया है। दोनों मे इतना विभेद होते हुए भी इतना तो मानना ही होगा कि इन दोनो का आदर्श एक है और वह है एक ऐसे समाज की स्थापना करना जिसका आधार सामान्य जनसेवा है, जिसमें जन्म या सम्पत्ति की दीवारें नहीं हैं।

पत्नियों का साम्यवाद—अभिभावकगण के लिये निजी सम्पत्ति का निषेध करने के साथ ही साथ अफलातून उन्हे निजी परिवार से वंचित कर देता है। सम्पत्ति और परिवार अन्योन्याश्रित हैं, एक के बिना दूसरा टिक ही नही सकता। सम्पत्ति के साम्यवाद की अपेक्षा पत्नियों के साम्यवाद का अफलातून ने अधिक विस्तार से साथ निरूपण किया है और आलोचना के घात से इसकी रक्षा करने में उसने अधिक तत्परता दिखाई है। शायद वह जानता था कि वह एक ऐसी बात कह रहा है जो एकदम नवीन तो है ही, साथ ही साथ विरोधाभासी (Paradoxical) भी है।

परिवार के उन्मूलन के पक्ष मे अफलातून ने कई युक्तियां दी हैं। उसका विचार है कि परिवार का संकुचित जीवन, घर की चारदीवारी में बन्द स्त्रियां और धन संग्रह की भावना राज्य की एकता और उसके समस्त घटकों के स्वतन्त्र विकास की शत्रु हैं। पारिवारिक मोह और राज्य-भक्ति मे घोर प्रतिस्पर्धा है और अनुभव हमें बतलाता है कि पहिले की दूसरे के ऊपर साधारणतया विजय होती है। अपने बच्चों के भविष्य की चिंता के आवरण मे माता-पिता का घोर स्वार्थ और संकुचित दृष्टिकोण छिपा रहता है इसलिए अफलातून निजी परिवार को स्वार्थपरता का अड्डा समझता है। इसके अतिरिक्त वह एक ऐसा स्थान है जहां मनुष्य की प्रतिभा का हनन और शक्तियों का दमन होता है। यह दो तरह से होता है। एक तो यह कि परिवार पुरुषों और स्त्रियों को, विशेष रूप से स्त्रियों को, अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने से रोकता है। स्त्रियों को घर की चार-दीवारी में बन्द कर दिया जाता है जहां उनका कार्य केवल बच्चों का प्रजनन और पालन-पोषण होता है। इस प्रकार राज्य अपने लगभग आधे नागरिकों की सेवाओं से वंचित रह जाता है। दूसरी बात यह है कि घरों मे बच्चों को जो शिक्षा मिलती है, वह उससे कहीं हीन और निकृष्ट है जो राज्य द्वारा निर्धारित प्रणाली में उन्हें दी जा सकती है। परिवार का उन्मूलन न केवल स्वार्थपरता के गढ़ को गिरा देना बल्कि स्त्रियों को घर के सीमित परिधान से मुक्त करके उन्हें राज्य सेवा का अवसर प्रदान करेगा। अफलातून

स्त्री और पुरुष में लिंग भेद के अतिरिक्त और कोई अन्तर नही देखता ; वह दोनों को राजनीतिक जीवन मे भाग लेने का बराबर अधिकारी समझता है। जिस प्रकार एक कुतिया भी उतनी ही अच्छी पहरेदार हो सकती है जितना कि एक कुत्ता, उसी प्रकार स्त्री भी उन कामो को कर सकती है जिनको कि पुरुष, भले ही उसकी कार्यमात्रा पुरुष से कुछ कम रहे। पशु-जगत का यह दृष्टान्त मानव जीवन पर लागू नहीं हो सकता है। एक कुत्ते और कुतिया में शारीरिक बल के भेद के अतिरिक्त कोई मौलिक अन्तर भले ही न हो ; किन्तु यह बात कदापि मान्य नही हो सकती कि पुरुष और स्त्री में कोई बुनियादी अन्तर नही है और एक स्त्री केवल एक दुर्बलतर पुरुष है। "स्त्री की प्रकृति मे लिंग एकागी तथ्य नही है जिसमे वह पुरुष से भिन्न है। उसे हम दूसरे तथ्यों से अलग नही कर सकते वह तो उसके जीवन को प्रभावित करता है।"*

अफलातून ने परिवार का उन्मूलन करने का प्रयास न केवल इसलिए किया कि उके वह स्वार्थपरता का केन्द्र और राज्य का एक घोर प्रतिद्वन्द्वी समझता था, बल्कि इस कारण भी कि उसके परिणामस्वरूप स्त्रियों का स्थान हीन था। प्राचीन यूनान में पत्नी आर्थिक रूप से पति के ऊपर निर्भर करती थी और उसे कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। उसका स्थान एक गृह-प्रबन्धक और शिशु-जननी से बढ़कर और कुछ न था। फ्रॉसमैन के शब्दो मे, "इस बात के लिए कि वह विवाह किससे करे वह अपने माता-पिता की दास थी और उनकी दया पर निर्भर करती थी, और विवाह होने पर वह अपने पति की दास हो जाती थी। ऐसे दासों को अपने शासक-वर्ग के घटक बनने और अपने सर्वोत्तम वर्ग के साथ रहने की अनुमति अफलातून नही दे सकता था। उसके शासक वर्ग को ऐसी स्त्रियो की आवश्यकता थी जो कि अपने पुरुषों के समान हो।" इसलिए सर्वोत्कृष्ट स्त्रियो को राज्य की सेवा के लिए भरती करने और उन्हे उच्चतम शिक्षा प्रदान करने के लिए अफलातून उन्हे गार्हस्थ्य की चाकरी से स्वतन्त्र करना चाहता था। इस प्रकार विवाह के संस्थान का उन्मूलन नारी के अधिकारो का एक जबरदस्त दावा था। यह उसे पुरुष के स्तर पर उठाता था, और उसके विवेक-प्रधान स्वभाव को स्वीकार करता था।

अफलातून परिवार का उन्मूलन संतति सुधार के लिए भी करना चाहता था। विवाह सुधार की योजना मे उसने अपना यह उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। परिवार का उन्मूलन करके वह इस प्रश्न पर आता है कि जाति (Race) को किस प्रकार जीवित रखा जाये और अभिभावकों में बच्चों का प्रजनन तथा पालन-पोषण किस प्रकार हो। ब्रह्मचर्य उसका ध्येय न था। वह कहता है कि उचित ऋतु और काल मे राज्य की ओर से विवाह संस्कार सम्पन्न कराये जायेंगे और केवल उतने ही

*The fact of sex is not one isolated thing in a woman's nature, in which and in which alone, she differs from man: it colours her whole being."

—Barker: *Ibid* page 225

विवाह कराये जायेंगे जो राज्य के लिए आवश्यक बालकों को उत्पन्न कर सकें। उचित आयु के केवल सर्वोत्तम पुरुषों और स्त्रियों को ही विवाह सूत्र में बांधा जायेगा। केवल इसी प्रकार जाति का परिमार्जन हो सकेगा। अफलातून चाहता है कि इस मामले में राज्य को उसी सिद्धान्त पर अमल करना चाहिये जिस पर कि एक पशु-पालक करता है, अर्थात् एक श्रेष्ठ नर को उतने मादीनों और एक श्रेष्ठ मादीन को उतने नरो के साथ जोड़ देना चाहिये जितने कि वह सुगमता-पूर्वक संभाल सके। इस प्रकार के क्षणिक ससर्ग से उत्पन्न होने वाले बच्चों का राज्य द्वारा शिशु-गृहो (Creches) में पालन-पोषण होगा ताकि न तो किसी बालक को यह पता चलेगा कि उसके माता-पिता कौन है और न किसी माता-पिता को ही पता चलेगा कि उनके बच्चे कौन है। एक ऋतु में उत्पन्न होने वाले सभी शिशु उस समय विवाहित हुए व्यक्तियो के सामान्य पुत्र-पुत्री होंगे। इस तरह से पूर्ण एकता स्थापित हो सकेगी। ऐसा राज्य स्वयं ही एक वृहत् परिवार होगा जिसमें समस्त प्रौढ़ समस्त बच्चों को अपना समझेंगे और 'मेरे' 'तेरे' का अन्तर बिलकुल मिट जायेगा। ऐसे राज्य में, जिससे शासक-गण का एक ही परिवार होगा और जो सब प्रेम के सूत्र मे गुथे होंगे, राज-द्रोह का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार हम देखते हैं कि अफलातून की विवाह सुधार की योजना एक साथ कई उद्देश्यों की पूर्ति करती है। इससे राज्य मे एकता आती है; इससे सतति का सुधार होता है और यह स्त्रियों को राज्य सेवा के लिए मुक्ति प्रदान करती है। निस्सन्देह पत्नियो का यह साम्यवाद एक नवीन कल्पना है; संसार के साहित्य मे इसका जोड़ मिलना प्राय असम्भव है।

अफलातून की विवाह सुधार की योजना के जो कतिपय उद्देश्य है उनको हम सभी पसन्द करेंगे। भला कौन ऐसा व्यक्ति है जो स्त्री स्वतन्त्रता, राज्य की एकता तथा सतति सुधार जैसे उद्देश्यो पर आपत्ति करे। परन्तु इनकी प्राप्ति के जो साधन उसने सुझाये है उन्हे शायद ही कोई स्वीकार करे। पुरुष और स्त्री का संसर्ग केवल प्रजनन के लिए नही होता; पति-पत्नी का सम्बन्ध एक गहरा आध्यात्मिक सम्बन्ध है और वह समस्त जीवन का विषय है। इसी प्रकार माता और संतान का स्नेह भी क्षणिक नही बल्कि आजीवन का विषय सम्बन्ध है। क्षणिक ससर्ग की योजना बनाते समय न जाने क्यों अफलातून ने इस स्वयंसिद्ध सत्य की अवहेलना कर डाली। बालक को जिस चीज की सबसे बडी आवश्यक्ता है वह है माता का प्रेम और स्नेह। सार्वजनिक शिशुगृह में वह उसे कहा मिलेगा? माना कि परिवार बहुधा पृथकता और स्वार्थ की भावनाओं का पोषण करता है; प्राय. वह उसे राज्य के प्रति कर्त्तव्य मे भी विमुख कर देता है और अपने विकृत रूप में वह स्त्रियो के लिये जीवन को एक भार बना देता है। यह उसका अन्धकार पक्ष है; किन्तु हमें उसके उज्ज्वल पक्ष को न भूलना चाहिये। जैसा कि आगे चलकर अरस्तु ने कहा है परिवार वह स्थान है जहा प्रेम का विकास होता है और जहा दूसरे मानवी गुण

प्राप्त किये जाते है। यहाँ स्त्री पुरुष जीवन साथी के रूप मे एक दूसरे से मिलते है न कि एक क्षणिक कामना की तृप्ति के लिए।[1]

राज्य की एकता भी अत्यन्त वाञ्छनीय है; किन्तु इस बात में सन्देह है कि उसकी सिद्धि राज्य को परिवार बनाकर ही की जा सकती है। यदि राज्य को परिवार बना दिया गया तो फिर राज्य कहाँ रह जायगा? राज्य और परिवार में आधारभूत अन्तर है; इन दोनों को एक दूसरे का समानार्थक समझना भूल है। अफलातून की यह मांग कि एक व्यक्ति को राज्य के अतिरिक्त समाज के किसी अन्य समूह को अपना नही समझना चाहिये राज्य की एकता पर आवश्यकता से अधिक बल देना है। मानव स्वभाव के यथार्थ रूप से यह ताल नही खाता। मानव स्वभाव अपनी तृप्ति के लिये अनेक समुदाय चाहता है। परिवार तथा सम्पत्ति के समर्थन के लिये पाठकों को अरस्तु का अध्ययन करना चाहिये।

जो बात हम दार्शनिक राजा के विषय में कह चुके हैं वही पत्नियों तथा सम्पत्ति के साम्यवाद के बारे में भी सही है। यहाँ भी अफलातून का ध्येय निर्दोष है और सिद्धान्त अकाट्य है। इसमे कोई सदेह नही कि समाज मे से स्वार्थ-भावना और भ्रष्टाचार को तब तक दूर नही किया जा सकता और राज्य मे एकता तब तक स्थापित नही की जा सकती जब तक कि अभिभावक-वर्ग के ऐसे निजी आर्थिक हित मौजूद है जो प्रजा-जन के हितों से टकराते हैं। मुट्ठी भर हाथो मे राजनीतिक सत्ता तथा आर्थिक शक्ति एकत्रित हो जाने के कारण ही तो जनतंत्र को यह सफलता न मिल सकी जो मिल सकती थी और मिलनी चाहिये थी। राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति में पृथक्करण का सुझाव देना अफलातून की महान् राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचायक है। परन्तु इस बात में सन्देह है कि परिवार का उन्मूलन इस लक्ष्य को प्राप्त करने का सब से अच्छा साधन है। परिवार और सम्पत्ति स्वभावतः पापमय नही है, उनमें अच्छाई भी है। अरस्तु इनको व्यक्तित्व के विकास तथा नैतिक मूल्यो की प्राप्ति का आधार मानता है। अफलातून ने सही सिद्धान्तो को गलत रूप से लागू किया। जैसा कि बार्कर ने कहा है 'आत्मा का विस्तार करने की धुन में वह यह भूल गया कि उसमें पूर्ण तीव्रता भी होनी चाहिये।' परिवार तथा निजी सम्पत्ति *का उन्मूलन करके अफलातून उस वस्तु को ही नष्ट कर देता है जिसके द्वारा व्यक्ति* एक व्यक्ति के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता है। इसके अतिरिक्त मानव स्वभाव के लिए यह अव्यावहारिक तो है ही।

परिवार का उन्मूलन अफलातून के आधारभूत सिद्धान्तों का एक आवश्यक उप-सिद्धान्त है। प्रथम, उसकी इस धारणा मे कि राज्य सच्चे अर्थों में एक समाज है यह बात निहित है कि स्त्रियों को पुरुषों की भांति ही सार्वजनिक जीवन में भाग लेना चाहिये। एक आदर्श समाज मे किसी भी व्यक्ति की कोई भी निजी या व्यक्तिगत वस्तु नही रहनी चाहिए; प्रत्येक व्यक्ति का समस्त वस्तुओं में भाग होना चाहिये। एक व्यक्ति का जीवन जितना ही अधिक सामान्य होगा, उसकी आत्मा

उतनी ही अधिक ऊँची होगी। दूसरे, यदि हम उसकी यह धारणा स्वीकार करलें कि आत्मा का त्रिगुणात्मक स्वभाव है, ज्ञान ही धर्म है और शासन एक कला है, तो हम निश्चित रूप मे उन परिणामो पर पहुँचेंगे जिन पर कि वह पहुँचा था। राजनीति के ऊपर बहुत थोड़ी ही पुस्तकें इतनी युक्तियुक्त तथा संश्लिष्ट हैं जितनी कि 'रिपब्लिक'। वह बिना किसी हिचकिचाहट के अपने सिद्धान्त को तर्क की अंतिम सीमा तक ले जाने को तैयार था। रीति-रिवाज और परम्पराओं की उसे कोई परवाह न थी; तभी तो सैबाइन ने कहा है कि 'रिपब्लिक' एक पंडित की वाणी है, उस ऋषि के विश्वास की अभिव्यंजना है जो ज्ञान में ही सामाजिक प्रगति की शक्तियो को देखता है।

आगे बढने से पहिले यहा पर एक आपत्ति का उल्लेख कर देना वाछनीय दिखाई पडता है जो कि कभी-कभी अफलातून के सम्पत्ति तथा पत्नियों के साम्यवाद के विरुद्ध उठाई जाती है; यह कहा जाता है कि परिवार का उन्मूलन करके तथा उच्च दो वर्गो को सम्पत्ति से वंचित करके अफलातून व्यक्ति को समाज पर बलिदान कर देता है और व्यक्तित्व के अधिकारो की अवहेलना करता है। यह आपत्ति उचित प्रतीत नही होती, यह व्यक्तित्व के संकुचित और इसलिए गलत अर्थ पर आधारित है। व्यक्ति का व्यक्तित्व मनमानी करने, या अपने आप को समाज के विरुद्ध खड़ा करने मे नही है। हमे याद रखना चाहिये कि एक निर्विकल्प (Abstract) व्यक्ति जैसी कोई चीज नही होती, व्यक्ति और समाज में कोई विरोध नही है। प्रत्येक-व्यक्ति जो कुछ भी है सामाजिक सम्बन्धों के कारण ही है; हम अपने व्यक्तित्व का विकास समाज के जीवन में भाग लेकर और उसमे योग देकर करते हैं। एक जनसेवक जो कि सच्चे मन से सर्वहित की साधना मे लगा हुआ है और जिसका जीवन दूसरो के लिए है उसका व्यक्तित्व घटता नही, बल्कि ऐसा करने से अधिक उदात्त हो जाता है। भारत, बल्कि सम्पूर्ण ईश्वर सृष्टि के लिए जीवित रहकर और कार्य करके गांधी जी ने अपना व्यक्तित्व खोया नही, वरन् उसका प्रसरण किया और उसे अधिक उदात्त बनाया। वह ईश्वरभक्त जो कि अपने आप को परमात्मा के हाथ का एक यन्त्र मात्र बना लेता है और ऐसा करके अपने को दैविकता के स्तर पर ले जाता है, अपना व्यक्तित्व खो नही देता बल्कि उसे पूर्ण बना लेता है। अफलातून ने इस सत्य को पूर्ण रूप मे जान लिया था कि उच्चतर 'स्व' (Self) के जीवित रहने के लिए निम्नतर 'स्व' को मारना ही पडेगा। अफलातून ऐन्द्रिक निकृष्ट 'स्व' को उत्कृष्ट 'स्व' के आधीन करता है, मनुष्य के उत्कृष्ट 'स्व' को समाज के आधीन नही करता।

अफलातून के विरुद्ध उचित आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि सर्वहित के लिए एकागी समर्पण जो कि वह अपने अभिभावको से चाहता है, सामान्य मनुष्य के लिए एक अत्यधिक उत्कृष्ट आदर्श है कि अधिकतर मनुष्य निम्नतर स्तर पर रहते हैं और दार्शनिक राजा की महान् ऊँचाई तक पहुचने में असमर्थ हैं। परन्तु आदर्श तो

सभी ऊँचे होते हैं, यदि उन्हें सर्वसाधारण प्राप्त कर सके तो वे आदर्श ही न रह जायें। हाँ, अफलातून के विरुद्ध यह आपत्ति उठाना युक्तिसगत होगा कि उसकी राज्य की एकता की धारणा एकपक्षीय है और इसलिए वह दोषपूर्ण है। राज्य के अन्तर्गत कतिपय समुदाय रहते हुए भी उसकी एकता रह सकती है ; मानव समाज में एकता की स्थापना विविधता द्वारा हो सकती है और होनी चाहिये। जैसा कि आगे चलकर अरस्तु ने कहा, राज्य को एक वृहद परिवार बनाना गलत है ; राज्य की एकता और परिवार की एकता मे गुणात्मक भेद है। पारिवारिक जीवन को राज्य की सेवा के लिए एक तय्यारी के रूप मे माना जा सकता है और ऐसा ही माना जाना चाहिये।

रिपब्लिक एक आदर्श के रूप में—'रिपब्लिक' के सम्बन्ध में हमने [illegible] जो कुछ कहा है उसका निष्कर्ष यह है कि यह ग्रन्थ कुछ मूल सिद्धान्तों का [illegible] है ; किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही कि वह एक कल्पना मात्र है जिसका [illegible] की वास्तविकताओं से कोई सम्बन्ध नही। 'रिपब्लिक' यूनानी जीवन के [illegible] रित है। इसे एक व्यावहारिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए लिखा गया है। [illegible] ऐथन्स के राजनीतिक जीवन मे अफलातून ने जो रोग देखे, 'रिपब्लिक' [illegible] निदान है। उसने देखा कि राजनीति के क्षेत्र मे अज्ञान और [illegible] बुद्धि को ध्याभूत कर रक्खा है। वह बुद्धि की प्रभुता स्थापित [illegible] अत्यन्त सुन्दर तथा सारगर्भित शब्दों मे अफलातून द्वारा [illegible] निक तथा दार्शनिक शिक्षा द्वारा तर्क को ज्ञानमय बनाता है [illegible] तृष्णा से मुक्त करता है और एक सुदीक्षित तर्क द्वारा [illegible] है।'* स्वय रोग में उपचार का संकेत मिलता है। [illegible] मे बहुत सी बातें ऐसी थी जो 'रिपब्लिक' का [illegible] ने 'रिपब्लिक' की रचना वास्तविक जीवन को [illegible] याद होगा कि उसने साइरेक्यूज के निरंकुश [illegible] किया था, यद्यपि वह विफल रहा। [illegible] आदर्श की प्राप्ति को असम्भव नहीं [illegible] की वह स्थापना कर रहा है वह [illegible] उसकी आयु बढती गई वह [illegible] सकता। उसने स्वयं ही स्वीकार [illegible] क्योंकि मेरे विचार में इस [illegible]

* '..... the tra[illegible] and philosophic edu[illegible] by a system of comm[illegible] free working of a [illegible]

† 'The city [illegible] exists.'

कि यह केवल एक स्वप्न है जिसका मानव विचार और व्यवहार पर कोई प्रभाव नही। यद्यपि 'रिपब्लिक' के आदर्शो की पूर्ण और साकार अभिव्यक्ति किसी वास्तविक राज्य मे नही हो सकती है, तथापि यह सत्य है कि किसी न किसी अश मे उसकी अन्तर्निहित भावना की अनुभूति प्रत्येक राज्य में की जा रही है। यह तो यूक्लिड (Euclid) के उस पूर्ण वृत्त के सदृश है जिसमे मनुष्य द्वारा बनाये गए सभी वृत्त न्यूनाधिक अंश में मिलते-जुलते होते है किन्तु उसके पूर्ण अनुरूप कोई नही होता। यह सही है कि यथार्थ जगत मे दार्शनिक राजा का मिलना दुर्लभ है, किन्तु इसमे भी कोई सन्देह नही कि कोई भी राज्य राज्य नही रह सकता यदि उसमे बुद्धि सर्वोपरि न हो। इस दृष्टिकोण से इस धारणा की अनुभूति हम वास्तविक जीवन मे प्रतिक्षण कर रहे है। इसी प्रकार यद्यपि शासको के जीवन मे से आर्थिक प्रलोभन को बिल्कुल दूर करना तो असम्भव है तथापि इसमे कोई सन्देह नहीं कि राजनीतिक सत्ता तथा आर्थिक प्रलोभन का एक जगह मिलना राज्य के लिए घातक है। याद रखने की बात यह है कि 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्त यथार्थ जगत के है और इस ससार को न केवल अधिक बोधगम्य बल्कि रहने के योग्य भी बनाते हैं। इसके अतिरिक्त आदर्श यथार्थ का मापदण्ड होने के नाते भी उपयोगी है।

राज्य का अध पतन तथा इसके भ्रष्ट रूप—आदर्श राज्य की रूपरेखा अकित करने और संरक्षको की शिक्षा तथा जीवन का वर्णन करने के उपरान्त अफलातून उसके अध-पतन तथा उत्तरोत्तर निकृष्ट रूपो का वर्णन करता है और अन्त मे राज्य के सबसे अधिक निकृष्ट तथा सबसे अधिक भ्रष्ट रूप को हमारे सामने रखता है। इस अध्ययन का उद्देश्य मानव आत्मा के अध पतन का चित्र दिखला कर अन्याय के स्वरूप का दिग्दर्शन कराना है। हमे यह न भूलना चाहिये कि ग्लॉकन तथा दूसरे लोगो ने सुकरात के सामने जो समस्या रक्खी है वह न्याय तथा अन्याय का विशुद्ध रूप दिखाना अर्थात् वाह्य जगत में उनके प्रभाव से अलग उनके स्वरूप की विवेचना करना तथा अन्याय की अपेक्षा न्याय की श्रेष्ठता सिद्ध करना है। 'रिपब्लिक' के आठवें और नवें प्रकरण मे अफलातून ने अन्याय का अध्ययन करने का प्रयास किया है जो एक अन्यायी राज्य मे अपने बृहत्तर स्वरूप मे पाया जाता है। यद्यपि अफलातून ने भ्रष्टाचार के इस वर्णन को एक अर्द्ध-ऐतिहासिक रूप दिया है तथापि उसका यह चित्र मुख्य रूप से तार्किक और वियोजक (*a'priori*) है। जिस प्रकार मानव आत्मा के एक के बाद दूसरे विभिन्न मनोवैज्ञानिक गुणों का समावेश करके उसने एक आदर्श राज्य का पूर्ण भवन खड़ा किया था उसी प्रकार वह उन तत्वों को निकाल लेता है। राज्य मे इन तत्वो का ह्रास उनके महत्व के क्रम मे होता है। आदर्श राज्य का आधार तीनों तत्वो का सामजस्य तथा बुद्धि का अन्य दो गुणों के ऊपर शासन था। जब बुद्धि को पदच्युत करके शौर्य उसका स्थान-ग्रहण कर लेता है तो राज्य का पहिला भ्रष्ट रूप हमारे सामने आता है जिसे अफलातून सैनिकतन्त्र (Timocracy) कह कर पुकारता है। इसमे पहली और स्वाभाविक स्थिति वह होती है जब कि बुद्धि और शौर्य दोनो को

पराभूत करके तृष्णा स्वयं शासक बन बैठती है, यह धनतन्त्र (Oligarchy) है। अगली अधोन्मुखी स्थिति वह है जब कि वित्तैषणा का प्रभुत्व नष्ट हो जाता है और विभिन्न तृष्णायें प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए आपस मे संघर्ष करती है। यह जनतन्त्रवाद (Democracy) है। पतन की अन्तिम सीढ़ी वह है जब कि निकृष्टतम इच्छायें हावी हो जाती हैं और काम तथा लोभ इत्यादि व्यक्तियो और समाज को वशीभूत कर लेते है। यह है आततायीवाद (Tyranny) जो राज्य का निकृष्टतम रूप है और जिसमे मानव आत्मा पतन के गहरे गर्त मे जा गिरती है। यह है पाप का आदर्श इतिहास जैसे कि आदर्श राज्य की रचना पुण्य का आदर्श इतिहास है। वास्तव मे यह इतिहास नही है बल्कि मानव समाज मे संचरित कुछ निश्चित सिद्धान्तो के प्रकाश मे इतिहास को समझाने का एक प्रयास है।

मानव इतिहास के कार्य-क्रम मे सबसे पहिला सिद्धान्त जो हम देखते हैं वह यह है कि समाज का पतन आन्तरिक कारणो से होता है, किसी दैवयोग या बाह्य कारणो से नहीं। मानव समाज मे भी विकास और विनाश का वही कानून लागू होता है जो कि वनस्पति जगत मे हम देखते है। आदर्श राज्य पतित हो कर सैनिकतन्त्र इसलिए बन जाता है क्योंकि जीवन के अटल कानूनो की जानकारी न होने के कारण स्त्री पुरुष गलत समय मे समागम कर बैठते हैं जिसका परिणाम होता है एक निकृष्ट सन्तान का जन्म। इसी प्रकार आन्तरिक शक्तियों के कारण ही यह पतन होता रहता है और राज्य का एक से एक अधिक भ्रष्ट रूप हमारे सामने आता है।

दूसरा सिद्धान्त जो स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है यह है कि अति सर्वत्र वर्जित है। अति का निश्चित रूप से पराभव होता है। प्रत्येक राज्य का नियामक सिद्धान्त अति को पहुंच जाता है और वही उसके विनाश का कारण होता है। धनतंत्र धन के पीछे ही पड़ा रहता है जब तक कि धन ही उसका विनाश न कर दे। इसी प्रकार जनतन्त्र के विनाश का कारण भी यही है कि वह स्वतन्त्रता तथा समता के सिद्धान्त को अति तक पहुचा देता है।

अन्तिम सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक राज्य एक विशेष प्रकार के मस्तिष्क की उपज है। जितना निष्कृष्ट मस्तिष्क होगा उतना ही निष्कृष्ट राज्य होगा। धनतन्त्र सैनिकतन्त्र की अपेक्षा इसलिए हीन है क्योंकि धनलोलुप व्यक्ति सम्मान पर मरने वाले व्यक्ति की अपेक्षा कहीं नीचा है। इसी प्रकार जनतन्त्र धनतन्त्र से निकृष्ट है क्योंकि धनतन्त्रवादी मनुष्य मे आवश्यक और व्यवस्थित इच्छायें प्रधान होती हैं जबकि जनतन्त्रवादी मनुष्य में कोई विशेष इच्छा प्रधान नही होती जिसका परिणाम यह होता है कि जनतन्त्र में कोई निरपेक्ष सिद्धान्त ही नही होता।

राज्य के विभिन्न भ्रष्ट रूपों में से प्रत्येक की विशेषतायें और प्रत्येक मे लोगों की जीवन पद्धति का वर्णन करना आवश्यक नही। इतना ही कहना काफी होगा कि अफलातून ने जनतन्त्र को एक बहुत ही नीचा स्थान दिया है ; वह निकृष्टतम रूप के सबसे अधिक निकट है। 'लाज' मे अफलातून ने जनतन्त्र के विषय में अपनी धारणाओं

मे कुछ परिवर्तन कर लिया है ; वहाँ उसने उसे कुछ ऊँचा स्थान दिया है। 'रिपब्लिक' मे उसने जनतन्त्र को इतना नीचा स्थान इसलिये दिया है क्योकि उसे वह अराजकता का ही दूसरा रूप समझता है ; वह उसमे व्यवस्था और अनुशासन नही पाता। वह जनतन्त्र के दो आधारभूत सिद्धान्तो, स्वतन्त्रता तथा समता, की घोर निन्दा करता है क्योकि जनतन्त्री समानता सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक स्तरो (Hierarchy) का निषेध है और स्वतन्त्रता सामाजिक दक्षता और नमूने की शत्रु है। समान, असमान दोनो को समता प्रदान करके यह इस बात की घोषणा करती है कि किसी व्यक्ति को शासन करने के लिए योग्य होने या योग्यता प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नही है। अफलातून जब 'रिपब्लिक' की रचना कर रहा था तो अपने श्रद्धेय गुरु सुकरात का अभियोग तथा मृत्यु-दण्ड की स्मृति उसके मन में ताजा थी।

अन्त मे, आततायी के आन्तरिक जीवन को चित्रित करके और यह दिखा कर कि वह अतृप्त कामनाओ की साकार मूर्ति है और अपने साथियों से बिल्कुल अलग-अलग है और पूर्ण आत्मा को संतुष्ट करने वाली इच्छाओ को तृप्त करने की सामर्थ्य उसमे नही है, अफलातून यह सिद्ध करता है कि एक अन्यायी मनुष्य सबसे कम सुखी और सबसे अधिक दुखी होता है। यदि न्याय आत्मा के विभिन्न गुणों के परस्पर उचित सम्बन्ध मे अर्थात् रज तथा तम पर सत् के प्रभुत्व मे निहित है तो इस सम्बन्ध के विकृत होते ही अर्थात् सत् और रज पर तम का शासन होते ही अन्याय की निष्पत्ति हो जाती है। मन की यह स्थिति कभी भी सुखद नही हो सकती।

५

अफलातून (क्रमशः) स्टेट्समैन तथा लॉज़
(The Statesman and The Laws)

परिचयात्मक—'स्टेट्समैन' अथवा पॉलीटिकस (Politicus) तथा 'लॉज़' अफलातून के जीवन के उत्तर काल की कृतियाँ है। उनमें वह बौद्धिक बल तथा साहित्यिक-शैली देखने को नही मिलती, जिनके कारण 'रिपब्लिक' अफलातून की महानतम कृति और प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल की महानतम कृतियो मे से एक बनी। उनका यहाँ पर संक्षिप्त विवरण ही दिया जायेगा यद्यपि अरस्तु तथा उससे पीछे होने वाले विचारको पर इनका 'रिपब्लिक' की अपेक्षा कही अधिक गहरा प्रभाव पडा है। 'लॉज' 'स्टेट्समैन' की अपेक्षा न केवल आकार में बडा है बल्कि उसका चरित्र भी उससे अधिक राजनीतिक है; इसमे कानून की अधिक पूर्ण अभिव्यंजना हुई है। 'स्टेट्समैन' की मान्यता इसलिए है कि उसमें अफलातून ने कानून पर एक नये दृष्टिकोण से विचार किया है और जनतन्त्र की उतनी निन्दा नहीं की जितनी कि 'रिपब्लिक' में। इसमे मिश्रित सविधान का संकेत भी मिलता है जिसका पूर्ण विकास 'लॉज़' मे हुआ है।

रिपब्लिक से स्टेट्समैन पर—आदर्श राज्य की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमे कानून का सर्वथा अभाव है, दार्शनिक राजा अपनी कुशल बुद्धि से शासन करता है; वह रीति-रिवाज तथा लिखित कानून से बाध्य नहीं है। यद्यपि कानून की अवहेलना अफलातून के मूल सिद्धान्तो का स्वाभाविक परिणाम है और उसके आदर्श राज्य मे शासन की एक प्रमुख विशेषता है; किन्तु वह नगर-राज्य के राजनीतिक विश्वास और परम्पराओ के विरुद्ध है। अफलातून आदर्श और यथार्थ के इस संघर्ष को जानता था। वह महसूस करता था कि राज्य को एक शिक्षा संस्थान बना कर उसमें दार्शनिक राजा का निरंकुश शासन स्थापित करना और नागरिको का स्थायी रूप से उसके अधीन हो जाना एक ऐसी कल्पना है जो राजनीतिक वास्तविकताओं से दूर है। इसलिए 'स्टेट्समैन' मे उसने इसी बुनियादी प्रश्न की विवेचना की है कि आया कि आदर्श राज्य मे नागरिकों को अपने शासकों पर इतना ही निर्भर करना चाहिए जितना कि बालकों को अपने माता-पिता पर या उन्हे उत्तरदायी और स्वनियंता बनाना चाहिए; अर्थात् दार्शनिक राजा को अनिच्छुक अथवा इच्छुक नागरिकों के ऊपर शासन करना चाहिए अथवा नही। इस प्रश्न का गहरा-विश्लेषण करने के उपरान्त अफलातून इस परिणाम पर पहुंचा कि एक बुद्धिमान शासक को

जिसे कि शुद्ध तत्व का ज्ञान प्राप्त है, शासित की रजामन्दी लेने की या रीति या परम्परा का पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार 'स्टेट्समैन' 'रिपब्लिक' के आदर्श की ही पुष्टि करता है किन्तु साथ ही साथ यह भी स्वीकार करता है कि यह आदर्श केवल स्वर्ग का है, इस भूतल पर इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस पुस्तक के अन्त में अफलातून यह मान लेता है कि यथार्थ राज्यों में निरंकुश शासक से काम नहीं चलेगा और इसलिए उनके राजनीतिक जीवन में कानून और रजामन्दी आवश्यक हो सकते हैं। जीवन की वास्तविकताओं के सामने वह झुक जाता है और 'लॉज़' में वह राज्य में कानून को उसके उचित स्थान पर फिर प्रतिष्ठित कर देता है।

अफलातून के दृष्टिकोण में जो यह परिवर्तन आया है वह 'स्टेट्समैन' में दिये हुए राज्यों के वर्गीकरण में स्पष्ट अभिलक्षित है। यह 'रिपब्लिक' के वर्गीकरण से दो महत्वपूर्ण बातों में भिन्न है। 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य सर्वोत्कृष्ट है और सैनिकतंत्र, धनतंत्र, जनतंत्र तथा आततायीतन्त्र उसके विभिन्न भ्रष्ट रूप हैं। किन्तु 'स्टेट्समैन' में उसने आदर्श राज्य को वर्गीकरण से अलग रक्खा है; उसमें केवल वास्तविक राज्यों का वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के दो आधार हैं, एक रूप में कानून का स्थान और दूसरा शासकों की संख्या। अफलातून ने मोटे रूप से राज्यों को दो वर्गों में विभक्त किया है: १. कानूनप्रिय राज्य, २. कानूनहीन राज्य। इनमें से प्रत्येक के तीन रूप हो सकते हैं . १. एक का शासन कुछ का शासन तथा ३. बहुतों का शासन। कानूनप्रिय राज्य में यदि एक का शासन है तो वह राजतंत्र कहलाता है; परन्तु यदि कुछ का है तो कुलीनतंत्र और बहुतों का है तो नम्र जनतंत्र कहलाता है; एक कानूनहीन राज्य में ये रूप क्रमशः आततायीतंत्र, धनतंत्र तथा उग्र जनतंत्र बन जाते हैं। कानूनप्रिय राज्य कानूनहीन राज्य की अपेक्षा सदैव अधिक श्रेष्ठ है इसलिए नम्र जनतंत्र एक धनतंत्र की अपेक्षा सर्वदा अधिक मान्य और ग्राह्य है। इसी वर्गीकरण को आगे चलकर अरस्तू ने अपनाया है जो उसी नाम से सम्बद्ध है। कानूनहीन राज्यों में भी उसने जनतंत्र को धनतंत्र की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा है। इस प्रकार जनतंत्र कानून-विहित राज्य का निकृष्टतम किन्तु कानूनहीन राज्यों में सर्वोत्कृष्ट है। धनतंत्र से तो यह दोनों ही अवस्थाओं में अच्छा है। 'रिपब्लिक' में जनतंत्र की जो घोर निन्दा अफलातून ने की है उसका उसने 'स्टेट्समैन' में पूर्ण परित्याग कर दिया है। 'अनुभव के फल तथा बुद्धि के आविष्कार के रूप में कानून के गुण को समझ लेने पर अब अफलातून जनतंत्र का, जो कि कानून द्वारा शासन के सिद्धान्त पर आधारित है, मूल्य जान सकता है।'*

उपरोक्त पैरा में जिसे हमने कानूनी राज्य कहा है वह कानून के रूप में ज्ञान द्वारा संचालित राज्य है। इसमें लोग कानून के अनुसार व्यवहार करते हैं। एक

* 'Seeing the virtue of law, as the fruit of experience and invention of wisdom, Plato can now see the value of democracy which is based on the rule of law.' —Barker: *op, ct.*, page 291.

कानूनहीन राज्य वह है जिसमें शासक और शासित कोई भी कानून का पालन न करे बल्कि अपनी मनमानी करे। इसलिए ऐसे राज्य मे कर्म पर ज्ञान का अधिकार नहीं होता।

लॉज (The Laws)—राजनीतिक वास्तविकताओं का राजनीतिक कल्प-विकल्प मे उचित स्थान देने तथा कानून को उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित करने की जो प्रवृत्तियाँ 'स्टेट्समैन' में उदय हुई थी उनका पूर्ण विकास 'लॉज' मे हुआ है। 'स्टेट्समैन' मे अफलातून ने एक आदर्श शासक का चित्र अंकित किया है और उसके गुणों का वर्णन किया है; किन्तु आदर्श राजा की तरह वह भी इस मृत्यु लोक मे मिलना असम्भव है। विवश होकर अफलातून को कानून द्वारा शासन का ही प्रतिपादन करना पड़ा, हां कानून होना चाहिए सच्चे ज्ञान का साकार रूप। इस प्रकार 'लॉज्' में अफलातून एक ऐसी शासन प्रणाली का आयोजन करता है जिसमें कानून की प्रभुता होगी; किन्तु अमूर्त कानून के द्वारा शासन ज्ञान और दर्शन ही करेंगे। इस ग्रन्थ के नाम से ही यह व्यंजित हो जाता है कि इसका उद्देश्य एक कानूनी राज्य की रचना है।

'लॉज्' में प्रतिपादित उपादर्श राज्य का चित्र खीचने में अफलातून ने 'रिपब्लिक' वाली स्वतन्त्र तर्कप्रधान तथा कल्पनात्मक पद्धति को नही अपनाया क्योंकि इस बार वह एक ऐसे राज्य की रचना करना चाहता है जिसे इस धरती पर ही प्राप्त किया जा सके। अत. उसे वास्तविकताओं से जूझना पडता है; यहाँ वह स्वच्छन्द कल्पना के पंखों पर नही उड सकता। सैबाइन के शब्दों में इस पुस्तक में उसने 'मानव सभ्यता के विकास का अनुसन्धान करने, उसकी विभिन्न अवस्थाओं को देखने, उत्थान-पतन के कारणों का अनुशीलन करने और सम्पूर्ण का [illegible] करके राजनीतिक स्थिरता के उन कानूनों को, जिनका कि बुद्धिमान् शासक [illegible] समाज मे होने वाले परिवर्तनो को नियन्त्रित तथा निर्देशित करने के लिए [illegible] करेंगे, विकसित करने' का प्रयास किया है॥ उसका यह सुझाव कि [illegible] अध्ययन सभ्यता के इतिहास के प्रकाश में अधिक सार्थक हो सकता है [illegible] कल्पना-प्रधान पद्धति से कही अधिक सफल सिद्ध हुआ है। इसने [illegible] प्रभावित किया जिस पर 'लॉज' का बहुत बडा ऋण है।

लॉज में राज्य का सिद्धान्त—'लॉज्' मे अंकित राज्य [illegible] राज्य से कई बातो मे भिन्न है। दोनों मे सबसे बडा [illegible] राज्य एक कानूनी राज्य है क्योंकि उसका शासन प्रबन्ध [illegible] उस में कानून की प्रभुता है शासक की नही जबकि [illegible] के ऊपर कानून या परम्परा का कोई अंकुश नही। [illegible] इसने राज्य मे कानून को, जो कि 'रिपब्लिक' [illegible] फिर से प्रतिष्ठित कर दिया है। कानून के इस [illegible] अफलातून ने 'रिपब्लिक' के आदर्श को गलत समझ [illegible]

नहीं, अफलातून उसे अब भी सर्वश्रेष्ठ आदर्श समझता है। हाँ, उसने अब अनुभव कर लिया है कि वह आदर्श स्वर्ग के लिये है, इस धरती के लिये नहीं। दार्शनिक राजा अपूर्ण मानवों के अपूर्ण जगत में मिलना असम्भव है। इसलिये अफलातून को एक ऐसी शासन पद्धति का आयोजन करना पड़ा जिसमें कि यथार्थ मनुष्यों को परोक्ष रूप से ज्ञान द्वारा शासन का वरदान प्राप्त हो सके। ऐसा तभी हो सकता है जबकि शासन पर नियन्त्रण कानून का हो और कानून का आधार सच्चा ज्ञान तथा दर्शन हो। ऐसा राज्य निरपेक्ष रूप से तो सर्वोत्तम नहीं होगा; किन्तु मानव जीवन की वास्तविकताओं को देखते हुये सापेक्षिक रूप से सर्वोत्तम अवश्य होगा। यह एक उपादर्श (Sub ideal) राज्य है। अफलातून के राजनीतिक सिद्धान्त में यह दरार दिखलाई पड़ती है, उसने आदर्श और यथार्थ में भेद कर दिया है। उसका आदर्श निरपेक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता और जो प्राप्त किया जा सकता है वह सर्वोत्तम नहीं, सापेक्ष सर्वोत्तम है। यह 'लॉज़' में प्रतिपादित उपादर्श राज्य मानो दुर्बलता के साथ एक रियायत है। यह रियायत देकर अफलातून अपने राजनीतिक विचारों को स्वतन्त्र नागरिकता की यूनानी परम्परा के अधिक निकट ले आया है। यह आदर्श और यथार्थ की सन्धि है। इस आदर्श राज्य के नागरिक दूसरों के हाथ की कठपुतलियाँ नहीं हैं; वे उत्तरदायी और एक अंश तक स्वशासक हैं। शासक और शासित दोनों को राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं; शासकों को पारिवारिक जीवन तथा निजी सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार है और शासकों के चुनाव में शासितों का हाथ है। सारांश यह कि आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के विच्छेद का, जो कि 'रिपब्लिक' की सामाजिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है, परित्याग कर दिया गया है और कार्य विभाजन तथा विशेषीकरण का स्थान विभिन्न तत्वों को एकता के सूत्र में गूँथ कर उनमें तारतम्य स्थापित करने के सिद्धान्त ने ले लिया है।

राज्य विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का संगठन है। 'रिपब्लिक' में राज्य की एकता विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण के सिद्धान्त द्वारा प्राप्त की गई है। प्रत्येक वर्ग अपने कर्तव्य का पालन करता है और किसी दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता। श्रमिक-वर्ग जिसमें तृष्णा का तत्त्व प्रधान है स्वेच्छापूर्वक शासक वर्ग की आधीनता स्वीकार कर लेता है जिसमें बुद्धि तत्त्व प्रधान है। या यों कहिये कि 'रिपब्लिक' का आधार वह न्याय है जिसका अर्थ है उसके घटकों का ऐक्य सूत्र। 'लॉज़' के उपादर्श राज्य का आधार आत्म-निर्माण तथा संयम है; उसकी एकता विभिन्न तत्वों के तारतम्य से उत्पन्न होती है; उसमें एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व के अधीन नहीं होना पड़ता। 'लॉज़' में इस बात का आग्रह नहीं है कि बुद्धि को तृष्णा के ऊपर शासन करने का एकाधिकार प्राप्त है; इसमें तो इन दोनों के सामंजस्य पर बल दिया गया है। इस सामंजस्य को आत्म-नियन्त्रण अथवा संयम द्वारा प्राप्त किया गया है जिसका अर्थ सैबाइन के शब्दों में 'एक कानूनप्रिय प्रवृत्ति या राज्य के संस्थानों के प्रति सम्मान की भावना तथा राज्य की कानूनविहित शक्तियों के सामने समर्पण करने की

इच्छा' है। तो उपादर्श राज्य की एकता का आधार सहानुभूति और संवेदना है। बार्कर का कहना है कि "आत्म-संयम से सहानुभूति उत्पन्न होती है; इसलिए इसने जिस वातावरण की सृष्टि की है वह 'रिपब्लिक' के वातावरण से भिन्न है। यह वातावरण यद्यपि कुछ कम वैभवपूर्ण है किन्तु यह अधिक मानवीय है; यद्यपि यह कम स्पष्ट है; किन्तु यह नीरस भी उतना नहीं है।"*

'रिपब्लिक' में अफलातून ने सैनिकतन्त्र को आदर्श राज्य से दूसरा स्थान दिया है; सैनिकतन्त्र का सिद्धान्त है सम्मान और गौरव और उसका मुख्य गुण है साहस। स्पार्टा का राज्य सैनिकतन्त्र के सबसे अधिक निकट था। जाहिर है कि 'रिपब्लिक' ने स्पार्टा की प्रणाली की सराहना की है तभी तो उसे इतना ऊँचा स्थान दिया है। 'लॉज़' में इसके विपरीत है; उसमे स्पार्टा की युद्धप्रियता की निन्दा की गई है। अफलातून युद्धप्रिय राज्यों की घोर भर्त्सना करता है। उसके अनुसार राज्य का लक्ष्य आन्तरिक एवं बाह्य नीति द्वारा तालमेल स्थापित करना है, युद्ध करना नहीं।

कानून की आवश्यकता तथा उसका स्वभाव—दार्शनिक राजा उपलब्ध न होने पर अफलातून राज्य मे कानून का शासन स्थापित करना चाहता है क्योंकि कानून दर्शन तथा ज्ञान का साकार रूप है। समाज के लिए क्या श्रेयस्कर है इसका सही उत्तर व्यक्तिविशेष ही सदा नहीं दे सकते; इसके लिए उन्हें कानून का सहारा लेने की आवश्यकता है क्योंकि कानून समस्त समाज के ज्ञान और अनुभव तथा मानवता के अपने आपको पशुता से ऊपर उठाने के युगयुगान्तरों के प्रयास की अभिव्यक्ति है। यह कहना असत्य न होगा कि कानून ही सभ्यता है; वही मानव को पशु से भिन्न करता है। इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाये कि हम यह जानते है कि समाज का हित किस बात में है तो भी ऐसा तो हो ही सकता है कि उसे प्राप्त करने की हमे सामर्थ्य न हो या इच्छा न हो। यह सामर्थ्य और इच्छा उत्पन्न करने के लिए कानून की आवश्यकता है। सामान्य कानून तथा उन्हें लागू करने वाली एक केन्द्रीय व्यवस्था के अभाव में व्यक्ति स्वार्थ का शिकार हो सकता है।

परन्तु समाज सेवा के कार्य में हमारा सही पथ-प्रदर्शन करने तथा हमें प्रेरित करने वाले कानून व्यवस्थापकों के आदेशमात्र नहीं हो सकते; वे मानव व्यवहार के ऐसे सिद्धांत होने चाहियें जो बुद्धि को ग्राह्य हों और जो तर्क की कसौटी पर खरे उतरें। इस मामले में पूर्वकथन सब से अधिक सहायता दे सकता है। प्रत्येक कानून का उद्देश्य और औचित्य उसके पूर्वकथन में दिया हुआ होना चाहिये। अफलातून इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि एक कानूनप्रिय समाज की रचना नागरिकों

* Issuing as it does in sympathy, self-control brings us into a different atmosphere from that of Republican atmosphere, less rare but more human, less clear but also less cold.' —Barker : *Ibid*, page 298.

की कानून के प्रति सम्मान और भक्ति की भावना उत्पन्न करके तथा उनका अधिकतम सहयोग प्राप्त करके ही की जा सकती है ; निरी शक्ति द्वारा कानूनों को उनके ऊपर लाद कर नहीं। आधुनिक विचारकों और लेखकों को भी इस पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु अफलातून की इस बात का पूर्ण समर्थन वे शायद न कर सकें कि कानून सर्वोपरि है ; राज्य का शासन कानून के आधीन होना चाहिये, कानून सरकार के अधीन नहीं। और कानून में परिवर्तन केवल तभी होना चाहिये जबकि ऐसा करना नितान्त आवश्यक हो और तब भी वह परिवर्तन समस्त जनता तथा शासकों की इच्छा से ही होना चाहिए।

अफलातून की कानून सम्बन्धी धारणा आधुनिक धारणा से कहीं अधिक व्यापक है ; उसका कानून तो समस्त जीवन का नियन्ता है। अफलातून कानून और नीति में कोई भेद न करता था जैसा कि हम आज करते है। वह समस्त नैतिक जीवन का कानून द्वारा नियन्त्रण और नियमन चाहता है। इसका कारण यह है कि अफलातून के लिये कानून व्यक्ति को प्रभावित करने वाली कोई बाहरी शक्ति नहीं बल्कि वह भावना है जो उनके अन्तस्तल से ही निःसृत होनी चाहिए। इसलिये मनुष्य को कानूनपरायण बनाने का सब से अच्छा साधन शिक्षा है। इसीलिये अफलातूनी राज्य, चाहे वह 'रिपब्लिक' में हो चाहे 'लॉज़' में, एक शिक्षात्मक संस्था है।

'लॉज़' तथा मिश्रित (Mixed) संविधान की धारणा—अफलातून के उपादर्श राज्य की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है मिश्रित संविधान का सिद्धान्त जो किसी भी दशा में कानून की पुनर्प्रतिष्ठा से कम महत्वपूर्ण नहीं है। अरस्तु तथा पोलीबियस के लेखों में इनका उल्लेख मिलता है और इसे 'मॉन्टेस्क्यू' (Montesquieu) के शक्ति विभाजन के सिद्धात का पूर्वज समझा जा सकता है जिसे वह राजनीतिक बुद्धिमत्ता का सार समझा था।

'लॉज़' में राज्यों के पतन के कारणों का अध्ययन करते हुए अफलातून कहता है कि स्पार्टा का पतन उसके सैनिक शिक्षा पर एकागी बल और ईरान का पतन उसके राजाओं के निरंकुश अधिकार के कारण हुआ। इसी प्रकार जनतन्त्री ऐथन्स का ह्रास अत्यधिक स्वतन्त्रता के कारण हुआ। यह है वह अति का सिद्धान्त जिसका परिणाम सदा पूर्ण अधःपतन होता है और जिसका प्रतिपादन उसने स्वयं 'रिपब्लिक' में किया था। अफलातून इस परिणाम पर पहुचा है कि यदि ये राज्य संयम से काम लेते और 'शक्ति को बुद्धि से तथा स्वतन्त्रता को अनुशासन से संयत कर देते' तो इनका पतन न होता ; ये सम्पन्न होते और फूलते। उनके विनाश का कारण यह है कि उन्होंने अपने प्रेरक सिद्धान्त को चरम सीमा तक पहुचा दिया। राज्य को स्थायी बनने के लिये उसे राजतन्त्र अर्थात् कानून के अधीन एक न्यायशील एवं बुद्धिमान् सरकार के सिद्धान्त तथा जनतन्त्र के स्वतन्त्रता तथा रजामन्दी के सिद्धान्त का सम्मिश्रण करना चाहिये। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि मिश्रित

संविधान के सिद्धान्त को अपनाया जाये। इससे विभिन्न प्रवृत्तियों में एक स्वस्थ सतुलन स्थापित हो जाता है।

राजनीतिक शक्ति पर अधिकार जताने के कई आधार है। कोई बुद्धि को, कोई धन को, कोई कुल को तथा कोई बाहुबल को शासनाधिकार का पात्र समझता है। अफलातून केवल बुद्धि के दावे को ही स्वीकार करता है। परन्तु विशुद्ध बुद्धि द्वारा शासन केवल एक आदर्श राज्य मे ही सम्भव हो सकता है और आदर्श राज्य की प्राप्ति यथार्थ जगत में नही हो सकती। विवश होकर वह इन परस्पर विरोधी तत्वों के दावो को इस प्रकार संतुलित करना चाहता है जिसके फलस्वरूप एक सुव्यवस्थित तथा कानून-विहित राज्य की स्थापना हो सके। अफलातून के अनुसार वयोवृद्धता, अच्छा कुल तथा सम्पत्ति ज्ञान के स्रोत है। इसलिए ज्ञान द्वारा शासन के लिए इन तीनो को उचित स्थान मिलना चाहिए। इसके साथ ही साथ स्वतंत्रता तथा रजामन्दी के ऊपर आधारित जनतंत्री सिद्धात को भी अपनाना चाहिये। इस प्रकार, अफलातून कहता है कि एक मिश्रित राज्य मे राजतत्र तथा जनतत्र का सम्मिश्रण रहता है। लॉज़ में वर्णित कतिपय सामाजिक और राजनीतिक सस्थाओं का ध्येय मिश्रित राज्य के सिद्धांत को क्रियान्वित करना ही है, और मिश्रित सविधान के सिद्धात को इसलिए ही अपनाया गया है क्योंकि उसे स्थिरता का सर्वोत्तम उपाय समझा गया है। स्थिरता एक ऐसी सांविधानिक व्यवस्था में पाई जाती है जो कि शासक-वर्गों का निर्देशन करता है और समाज के विभिन्न तत्वों में एक सतुलित सम्बन्ध को सम्भव बनाता है।

सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें—यहां पर हम, संक्षिप्त रूप से, उन सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का उल्लेख करेंगे जिनकी कि अफलातून अपने उपादर्श अथवा द्वितीय सर्वोत्तम राज्य के लिए सिफारिश करता है जिसकी रूपरेखा 'लॉज़' में दी गई है। वह अनुभव करता है कि अपनी 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य में प्रतिपादित शासकों के लिए पत्नियों तथा सम्पत्ति के साम्यवाद का आदर्श इतना अधिक उत्कृष्ट तथा ऊंचा है कि मानव स्वभाव के लिए वह अव्यावहारिक है, और इसलिए वह उपादर्श राज्य के समस्त नागरिकों, शासकों तथा शासितो के लिए निजी परिवार तथा निजी सम्पत्ति रखने की अनुमति दे देता है। परन्तु 'रिपब्लिक' की भावना पूर्ण-रूप से नष्ट नही हुई है; परोक्ष रूप से वह अब भी वर्तमान है और गम्भीर तथा अखरने वाले प्रतिबन्धों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं जो कि इन दोनों संस्थाओं के ऊपर लगाये गये हैं।

यद्यपि 'लॉज़' में अफलातून सन्तानोत्पत्ति के हेतु क्षणिक विवाह की प्रणाली का परित्याग कर देता है और उसके स्थान पर स्थायी एक पत्नी विवाह की सिफारिश करता है, तथापि वह पति और पत्नी को यह याद दिलाना नही भूलता कि उनका कर्तव्य राज्य की सेवा के हेतु सन्तान उत्पन्न करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु वह उन्हें उनके विवाहित जीवन के प्रथम दस वर्षों के लिए निरीक्षकाओं के अधीन रखता है। इन निरीक्षकाओं का कर्तव्य यह देखना है कि जनसंख्या स्थिर रहे; जन्म दर के

ऊपर कठोर नियंत्रण रहे, वह न तो उठे और न गिरे। विवाह की अनुमति देते हुए भी अफलातून 'रिपब्लिक' की भांति 'लॉज़' में भी यह आग्रह करता है कि स्त्रियों को राज्य के सामान्य जीवन में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चलना चाहिये; उनकी सामान्य शिक्षा भी वैसी ही होनी चाहिये जैसी कि पुरुषों की हो। वह सामान्य भोजनालयों की प्रणाली द्वारा स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन में लाने का प्रयास करता है।

'लॉज़' में अफलातून नागरिकों को चल तथा अचल, दोनों प्रकार की निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार प्रदान करता है; परन्तु उसकी मात्रा अत्यधिक सीमित होगी। नगर-राज्य की सम्पूर्ण भूमि को बराबर-बराबर भागों में विभक्त किया जायेगा, और प्रत्येक नागरिक को एक भाग (उस भाग का एक अंश नगर में तथा दूसरा ग्राम में) दिया जायेगा। भूमि के भाग उतने ही होंगे जितने कि नागरिक होंगे और नागरिकों की संख्या ५०४० होगी। किसी भी नागरिक को अपने भूखण्ड को किसी दूसरे व्यक्ति को बेच देने अथवा रहन रखने का अधिकार नहीं होगा; वह अदेय होगा। इस प्रकार भू-सम्पत्ति का समान रूप से वितरण किया जायेगा। नागरिकों को भूखण्ड के मूल्य के चार गुना तक की चल सम्पत्ति के रखने का अधिकार होगा। इस प्रकार, चल सम्पत्ति के आधिपत्य में विषमता हो सकती है, परन्तु वह सुनिश्चित सीमाओं के अन्तर्गत होगी। सम्पत्ति की अत्यधिक विषमताओं को दूर करने का प्रयास किया गया है। अफलातून की धारणा है कि निजी सम्पत्ति का अधिकार एक समाज द्वारा प्रदत्त अधिकार है और इसलिए उसका प्रयोग समाज के हित में ही किया जाना चाहिये। निजी स्वामित्व का सामान्य हित के साथ सम्मिश्रण किया जाना चाहिए। दासों द्वारा कमाई गई भूमि से उत्पन्न सम्पत्ति का प्रयोग सामान्य भोजनालयों के लिए किया जायेगा। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि अफलातून सामूहिक खेती की व्यवस्था नहीं करता; वह व्यक्तिगत आधिपत्य तथा सामान्य हित का सम्मिश्रण करना चाहता है।

यद्यपि अफलातून 'लॉज़' में निजी सम्पत्ति का अधिकार प्रदान करता है, तथापि वह अपने उपादर्श राज्य धन के प्रति प्रेम की भावना को पनपने देना नहीं चाहता। 'रिपब्लिक' का यह आधारभूत सिद्धांत कि धन का प्रेम समस्त पापों का मूल है अफलातून को 'लॉज़' में भी प्रेरित करता है; वह अपने नागरिकों के जीवन में आर्थिक प्रलोभन के लिए कोई स्थान ही नहीं छोड़ता। वह उन्हें किसी कला अथवा शिल्पकला में लगने, क्रय तथा विक्रय का कार्य करने, अथवा ऋण पर ब्याज लेने का निषेध करता है। व्यापार तथा उद्योग से अलग रह कर, और मूल्यवान धातुओं के स्वामित्व भार से बचकर नागरिकगण अपना शारीरिक तथा मानसिक विकास करने के लिए स्वतंत्र रहेंगे। राज्य का उद्देश्य अच्छे नागरिकों का निर्माण करना है; इसलिए उसे उन्हें सम्पत्ति की लालसा करने से रोकना चाहिए। राज्य को एकमात्र कृषि के ऊपर ही निर्भर करना चाहिए; व्यापार तथा उद्योग को विदेशियों के हाथों में

छोड़ देना चाहिए जो कि राज्य के नियंत्रण में रहकर अपना कार्य करेंगे । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'रिपब्लिक' की भावना 'लॉज़' के पृष्ठों में भी गुंजरित है ।

अफलातून नगर-सभाओं, परिषदों तथा न्याय-रक्षकों (Magistrates) की व्यवस्था करता है । न्याय-रक्षक तथा परिषद् के सदस्य निर्वाचित होंगे । परिषद् के सदस्यों की संख्या ३६० होगी और उसकी निर्वाचन पद्धति इस प्रकार की होगी जिससे कि उसमें समाज के अपेक्षाकृत अधिक धनी वर्गों का भारी बहुमत रहेगा । इसी निर्वाचन पद्धति को देखते हुए अरस्तु ने यह कहा है कि अफलातून ने अपने उपादर्श राज्य में राजतंत्र तथा लोकतन्त्र का नहीं, वरन् वर्गतंत्र (Obligarchy) तथा लोकतन्त्र का सम्मिश्रण किया है जिसमें निश्चित रूप से ही वर्गतंत्र की ओर प्रवृत्ति अधिक है । अरस्तु की यह आलोचना बड़ी सारपूर्ण प्रतीत होती है ।

'लॉज़' में अफलातून शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर भी पर्याप्त ध्यान देता है । वह पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों के लिए समान शिक्षा का प्रस्ताव करता है परन्तु वह स्त्रियों को राजकीय पद देने के विषय में कुछ नहीं कहता । शिक्षा-प्रणाली तथा धार्मिक संस्थाओं का विवरण यहां देना आवश्यक प्रतीत नहीं होता ।

रिपब्लिक तथा लॉज़ की तुलना — 'रिपब्लिक' में अफलातून ने नगर-राज्य का दर्शन तथा मानव समाज में अन्तर्निहित नितान्त सामान्य सिद्धांतों का विश्लेषण किया है । उसने यह दिखाया है कि राज्य का सदस्य होने से किस प्रकार व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास होता और वह किस प्रकार समाजहित में योग दे सकता है । अफलातून ने जिस समाज का विश्लेषण किया है उसका आधार सामान्य हित के लिए सेवाओं का परस्पर आदान-प्रदान है । सोफिस्ट्स के स्वार्थ-प्रधान आचार-शास्त्र का यह सबसे अधिक सन्तोषजनक उत्तर है । परन्तु सुकरात के ज्ञान तथा धर्म की अनुरूपता के सिद्धांत पर आधारित उसके दार्शनिक राजा जो बिना कानून के ही शासन करता है, की कल्पना में स्वतंत्र नागरिकता का जो कि नगर-राज्य का प्राण थी, कोई स्थान नहीं हो सकता, इसलिए उसने उसका सर्वथा परित्याग कर दिया । 'लॉज़' में कानून को पुनः प्रतिष्ठित करके उसने इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया है । इस उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए मानव मनोविज्ञान तथा ज्ञान सम्बन्धी अपनी धारणाओं पर पुर्नविचार करना और उनमें संशोधन करना आवश्यक था, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया । परन्तु यह परिवर्तन और संशोधन किस दिशा में होना चाहिए इसका सबसे पहिले सुझाव अरस्तु को 'लॉज़' के अध्ययन से ही मिला और अपने ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' में वह इस कार्य में लग गया । 'लॉज़' में अफलातून ने "वास्तविक संस्थाओं का सचमुच ही सावधानी के साथ विश्लेषण किया और इतिहास से उनके सम्बन्ध का संकेत किया । उसने संतुलन सिद्धात अर्थात् एक सांविधानिक राज्य का निर्माण करने के लिए एक उचित साधन के रूप में विभिन्न हितों एवं दावों के निर्वाह का भी सुझाव दिया । यह वह बिन्दु है जहाँ से अरस्तु ने अपना विचार आरम्भ किया । 'रिपब्लिक' के सामान्य सिद्धातों का त्याग किये बिना ही उसने लगभग प्रत्येक

मामले में 'लॉज' के सुझावों को अपनाया। हाँ, अपने अधिक परिश्रम तथा अनुभवसिद्ध और ऐतिहासिक तथ्यों के अधिक विस्तृत विश्लेषण से उन्हें अधिक सम्पन्न बना दिया।"*

अफलातून का प्रभाव—यद्यपि अग्रगामी राजनीतिक विचार पर अफलातून के प्रभाव का उल्लेख पूर्वोक्त विवेचन में हम यत्र-तत्र करते रहे हैं तथापि यह विषय इतना महत्वपूर्ण है कि इसका व्यवस्थित रूप से अलग विवेचन करना अनावश्यक न होगा।

स्मरण रहे कि अफलातून को राजनीतिक विचार के दो भागों में विभक्त किया जा सकता है और वह अधिकतर दो सम्वादों में पाया जाता है। 'रिपब्लिक' मे अफलातून का आधार विन्दु यह है कि शासन एक विशुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान का विषय है। इसलिए वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि एक दार्शनिक राजा की ज्ञानपूर्ण निरकुशता शासन का सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वश्रेष्ठ रूप है। और इसी कारण से आदर्श राज्य में वह कानून, जनमत तथा जनता की इच्छा की पूर्ण अवहेलना करता है। एक आदर्श शासक को इन सब की क्या आवश्यकता ? जहां तक इन मौलिक धारणाओं तथा साम्यवाद के सिद्धान्त का सम्बन्ध है 'रिपब्लिक' का आने वाले राजनीतिक विचारकों पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नही पड़ा। यदि अफलातून के सिद्धान्त के सबसे अधिक निकट कोई चीज है तो वह है हीगल (**Hegel**) द्वारा राजतन्त्र की प्रशसा तथा विशिष्ट व्यक्तियों (**Elite**) द्वारा शासन का फासिस्टवादी सिद्धान्त। 'रिपब्लिक' का अरस्तु के ऊपर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा जिसने दार्शनिक राजा तथा पत्नियो के साम्यवाद के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' को प्रेरणा 'स्टेट्समैन' से, विशेषकर 'लॉज' से मिली है, 'रिपब्लिक' से नहीं। अरस्तु ने 'रिपब्लिक' के आदर्श को ठुकरा दिया क्योंकि वह नगर राज्य के स्वतन्त्र नागरिकता के ऊपर आधारित राजनीतिक धर्म की पूर्ण अवहेलना थी। उस पर तथा उससे पीछे होने वाले अन्य विचारकों पर 'लॉज' का प्रभाव कहीं अधिक पड़ा क्योंकि वह अधिक यथार्थवादी ग्रथ है और यूनान के सांविधानिक शासन तथा नीति निर्धारण में नागरिको के स्वतंत्र भाग के आदर्श के कही अधिक निकट है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके है, 'लॉज' में न केवल कानून को फिर से प्रतिष्ठित

* "... turned to a really careful analysis of actual institutions and laws and *suggested the attachment* of such studies to history. He also suggested the p inciple of balance of a mutual adjustment of claims and interests—as the proper means for f rming a constitutional state....... It was from these beginnings in the Laws that *Aristotle started* Without abandoning the general principles stated in the Republic.. .. he adopted almost in every case the hints thrown out in the Laws, enriching them with more painstaking and more extensive examinations of the empirical and historical evidence."

—Sabine : *op. ct.*, page 86.

कर दिया गया है बल्कि राज्य की सुरक्षा तथा स्थिरता के लिए सर्वोत्तम साधन के रूप मे मिश्रित संविधान का भी उसमे प्रतिपादन किया गया है।

यह बात कि 'लॉज़' का अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है इन दो महान् ग्रन्थो में पाये जाने वाले कई समानान्तरो से भली प्रकार सिद्ध हो जाती है। कानून की सम्प्रभुता की धारणा की जो कि 'लॉज' मे आधारभूत है, अरस्तु ने अपनी 'पॉलिटिक्स' मे पुनरावृत्ति की है। सच्ची अफलातूनी भावना के साथ अरस्तु शासको को कानून के अभिभावक और उसके नौकर कह कर पुकारता है। जब अरस्तु यह कहता है कि राज्य से बाहर एक मनुष्य या तो एक देवता है, या एक पशु, तो वह 'लॉज़' में अफलातून द्वारा व्यक्त विचारो की ही गूंज प्रतीत होती है। राज्य के परिवार से विकसित होने का जो विवरण अरस्तु ने दिया है वह 'लॉज' मे अफलातून के विचारो के बहुत निकट है। अरस्तु ने युद्ध को स्वयं मे एक साध्य बनाने की, जैसा कि स्पार्टा में होता था, नीति की जो भर्त्सना की है उसका मूल भी हम 'लॉज़' में अफलातून की तद्विषयक शिक्षाओ मे देख सकते है। अरस्तु के मिश्रित संविधान के सिद्धान्त का स्रोत भी वही समझा जा सकता है। और यदि हम अरस्तु द्वारा अंकित आदर्श राज्य की मुख्य विशेषताओं पर दृष्टिपात करे तो हम देखेंगे कि वे 'लॉज़' में अफलातून द्वारा चित्रित उपादर्श (Sub-ideal) राज्य की विशेषताओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। इसी कारण कुछ लोग कह देते है कि अफलातून का उपादर्श अरस्तु का आदर्श है। प्रो० बार्कर ने ऐसी बहुत सी बातो का उल्लेख किया है जिनमें कि हम अफलातून के 'लॉज' और अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' मे साम्य खोज सकते है।*

यद्यपि अरस्तु तथा प्राचीन संसार के राजनीतिक विचार की रूपरेखा निर्धारित करने मे 'रिपब्लिक' की अपेक्षा 'लॉज़' का अधिक प्रभाव पड़ा है, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि 'रिपब्लिक' बिल्कुल ही निष्फल रही। "यह सच है कि लगभग एक हजार वर्ष तक संसार इस ग्रन्थ को भूला रहा, पुनरुत्थान के युग मे जाकर इसकी फिर खोज हुई; किन्तु इसका प्रभाव समाप्त नही हुआ। इसके सिद्धान्त और मध्य-युग के सिद्धान्त तथा व्यवहार मे बहुत सी बाते समानान्तर हैं। 'रिपब्लिक' का साम्यवाद बहुत कुछ मठ प्रणाली के साम्यवाद से मिलता-जुलता है जिसके अन्तर्गत कृषक-वर्ग अपनी उत्पत्ति का एक भाग उन साधुओ के उपभोग के लिए देता था जो अपनी प्रार्थना द्वारा उनकी रक्षा करते थे; चर्च के नियमों का यह एक भाग था और सम्पत्ति सम्बन्धी धार्मिक सिद्धान्त को प्रभावित करता था। ......अफलातून के सिद्धान्त तथा मध्यकाल के व्यवहार में इससे भी गहरा सम्बन्ध उस साम्य मे है जो अफलातून के सम्पूर्ण आदर्श राज्य तथा मध्यकालीन चर्च मे पाया जाता है। संघटन तथा कार्य इन दोनों का एक जैसा है और बहुत से बिन्दुओं पर ये एक दूसरे को

*विस्तृत अध्ययन के लिए बार्कर के ग्रन्थ 'Plato and His Predecessors' को पृष्ठ ३८०—८२ पर देखिये।

छूते तथा एक दूसरे से मिलते है। जिस प्रकार अफलातून 'रिपब्लिक' के राज्य को तीन वर्गों मे विभक्त करके दार्शनिक राजाओ के सर्वोच्च-वर्ग को शासन-सत्ता सौंप देता है उसी प्रकार मध्ययुगीन चर्च के घटक भी क्लेरीसी (Clerici), रेगुलर्स (Regulares) तथा लेसो (Laici) नामक तीन वर्गों में विभक्त थे और पहिले वर्ग के हाथ मे, विशेषकर पोप के हाथ मे, दूसरे वर्गो को नियन्त्रित करने की पूर्ण शक्ति थी। जिस प्रकार अफलातून यह चाहता था कि दार्शनिक राजा को परम शुभ के आदर्श के अनुसार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर शासन करना चाहिये, उसी प्रकार मध्ययुगीन चर्च भी ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार अपने घटको की प्रत्येक क्रिया—युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, उद्योग तथा वाणिज्य, साहित्य तथा शिक्षा—को नियन्त्रित करने की चेष्टा करता था।"* इसका तात्पर्य यह नही है कि मध्य-कालीन चर्च ने अफलातून से ही उपरोक्त बातें उधार ली हैं; बार्कर ने तो दोनो मे केवल एक समानान्तर दिखाने की चेष्टा की है।

यद्यपि 'रिपब्लिक' का पुनर्जन्म पुनरुत्थान के युग मे हुआ और यद्यपि सर टॉमस मोर की 'कल्पना' (Utopia) मे इसका उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है तो भी पश्चिम के राजनीतिक विचार पर उसका गहरा तथा मंथक प्रभाव केवल तब से पड़ना आरम्भ हुआ जबकि रूसो उसकी ओर आकृष्ट हुआ। रूसो सबसे पहिला आधुनिक विचारक है जिसने 'रिपब्लिक' मे प्रतिपादित इस सिद्धान्त का विचार किया कि राज्य अपने सदस्यो के कानूनी अधिकारो की रक्षा करने के लिए बना हुआ एक कानूनी समुदाय नही है बल्कि एक नैतिक समुदाय है जिसके सामान्य जीवन मे भाग लेकर मनुष्य अपने नैतिक व्यक्तित्व की अनुभूति कर सकता है। उसने अफलातून के इस विचार का भी समर्थन किया कि राज्य मुख्य रूप से एक शिक्षात्मक सस्था है। आगे चल कर हीगल के विचार पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन मे ग्रीन, वोसान्के (Bosanquet) तथा अन्य आदर्शवादियों के विचारो के निर्माण मे इसका बडा हाथ रहा है। पीढी दर पीढी ब्रिटिश विद्यार्थी अफलातून (तथा अरस्तु) से यह सीखते रहे हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही एक राजनीतिक प्राणी है, राज्य के द्वारा ही मनुष्य पुण्य की प्राप्ति करता है, कानून विशुद्ध बुद्धि की अभिव्यजना है और सच्चा धर्म अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में निहित है। 'रिपब्लिक' के सिद्धान्त देश और काल से परे हैं। इसीलिए हमे आज भी उनसे प्रेरणा मिलती है।

---

* Barker : *Ibid*, pages 536—87.

६

अरस्तु–राजनीतिक आदर्श

परिचयात्मक—गत अध्ययन के अन्त में आप देख चुके हैं कि अफलातून के राजनीतिक दर्शन का मुख्य दोष यह है कि वह ऐसे दो भागों में विभाजित है जिनमें कोई सामजस्य स्थापित करना प्राय. असम्भव है। 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित आदर्श राज्य में एक दार्शनिक राजा राज्य करता है जिसे लिखित कानून और जनता की रजामन्दी की कोई आवश्यकता नही है। 'लॉज' में अकित उपादर्श राज्य में अफलातून कानून को फिर से प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है और जनमत को एक स्थान देता है। उसका यह प्रयत्न आंशिक रूप से सफल भी हुआ है; किन्तु यथार्थ और आदर्श की यह सधि दिल खोल कर नही की। आदर्श से हटने में उसे मानसिक वेदना होती थी। राज्य में कानून को उचित स्थान देने के लिए उस मनोविज्ञान और सिद्धान्त पर जो कि 'रिपब्लिक' के आधार है, पूर्ण रूप से पुनर्विचार करना आवश्यक था। अफलातून ऐसा न कर सका। इसका श्रेय उसके महान् शिष्य अरस्तु को है। अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में उसने राज्य मे न केवल कानून को अपने उचित स्थान पर आसीन कर दिया है बल्कि राज्य के वास्तविक प्रशासन मे अनुभव और रीति-रिवाज के महत्व को भी स्वीकार किया है। इस तथा अगले अध्याय में हम 'पॉलिटिक्स' में सन्निहित अरस्तु के राजनीतिक दर्शन का एक सक्षिप्त विवरण देंगे।

अरस्तु का जीवन—अरस्तु के राजनीतिक दर्शन को तथा उसके और अफलातून मे पाये जाने वाले अन्तर को अच्छी तरह से समझाने के लिए इस दार्शनिक के जीवन तथा उसकी रचनाओ की पृष्ठभूमि पर एक दृष्टिपात करना आवश्यक होगा।

अरस्तु ऐथन्स का जन्मजात नागरिक नही था। उसका जन्म ३८४ ई० पू० में मकदूनिया के तट पर स्टेगीरा नामक स्थान में हुआ था जहाँ कि उसका पिता शाही हकीम था। स्टेगीरा की परम्परागत सस्कृति यूनान विशेष की सस्कृति से भिन्न थी। मकदूनिया में राजतन्त्र था और नगर-राज्य न थे। इसलिए वहाँ के निवासियों को सच्चा हैलन (Hellenes) नही समझा जाता था। उसकी संस्कृति वैज्ञानिक थी। हो सकता है कि अरस्तु की भौतिक विज्ञान मे रुचि का कारण स्टेगीरा में उसके प्रारम्भिक जीवन का वातावरण ही हो और विश्व को जीवशास्त्र के दृष्टिकोण से देखने की उसकी प्रवृत्ति अपने वैद्य पूर्वजो से उसे विरासत मे मिली हो।

१८ वर्ष की अवस्था में वह ऐथन्स में आया, अकाडेमी में भरती हुआ और ३८४ ई० पू० में अफलातून की मृत्यु तक २० वर्ष तक वहीं रहा। हम यह कह सकते हैं कि अकाडेमी में उसे दर्शन-शास्त्र का प्रेम खींच कर नहीं लाया ; वह वहां इसलिये आया था क्योंकि वहां यूनान की सर्वश्रेष्ठ शिक्षा दी जाती थी : वह उस अवस्था में जबकि मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय पर बाह्य संस्कार सबसे अधिक पड़ सकते हैं, यूनान के सबसे गहरे विचारक के निकट सम्पर्क में आया और उसके जीवन पर अफलातून के दर्शन-शास्त्र का सबसे गहरा प्रभाव पड़ा। ऐथन्स छोड़ने के बाद अरस्तु 'एशिया माइनर' में गया जहां वह दो राजाओं के दरबार में ठहरा, जिनमें से हर्मीज (Hermeas) एक था, जिसके दरबार में उसे ईरान का पतनोन्मुख निरंकुशवाद देखने का अवसर प्राप्त हुआ और जिसका उल्लेख उसने अपनी 'पॉलिटिक्स' में किया है। मिटीलीन में उसने अपना समय उस द्वीप के पशुओं का अध्ययन करने में लगाया और उस विषय पर उसने उपयोगी सामग्री एकत्रित कर ली। ३४२ ई० पूर्व में उसे मकदूनिया बुलाया गया जहां वह सिकन्दर का शिक्षक बना। हो सकता है कि राजतंत्र तथा आततायीतन्त्र के बारे में उसकी धारणायें उसके मकदूनिया में रहने का ही परिणाम हों। ऐथन्स में वह ३३५-४ ई० पूर्व में वापिस आया और वहां एक स्वतंत्र विचारक के रूप में जम गया और अपना एक निजी शिक्षालय स्थापित कर दिया जो 'लीसियम' (Lyceum) के नाम से विख्यात हुआ। वह १२ वर्षों तक उसका प्रधान रहा और इस बीच में सिकन्दर की सहायता उसे मिलती रही। ३२२ ई० पू० में सिकन्दर के मरने के बाद जब मकदूनिया विरोधी दल को ऐथन्स में शासन सत्ता प्राप्त हुई तो अपने आपको सुकरात वाली स्थिति से बचाने के लिए वह कैलसिस (Chalcis) को भाग गया क्योंकि धर्म के प्रति अविश्वास का अपराध उस पर लगाया गया था। उसी वर्ष वह मर गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तु के ६२ वर्ष के जीवन काल में यूनान के इतिहास का एक अध्ययन फंमलेकुन और संकटपूर्ण काल निहित है। उसका जीवन और लेखन काल वह है जबकि यूनान के नगर राज्यों का वैभव बीत चुका था और मकदूनिया के राजा फिलिप ने उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया था। परन्तु अपने समय के अधःपतन पर आंसू बहाने तथा उसकी कृतियों में एक सीमा तक राजनीतिक भाग्यवाद प्रगट होने के अतिरिक्त उसके विचार पर उसके समकालीन संसार की ऐतिहासिक घटनाओं का कोई विशेष प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई नहीं देता। फॉस्टर कहता है : 'उस पर अपने समय की हलचलों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा ; वह समकालीन घटनाओं से बिल्कुल विरक्त रहा ; (कम से कम अपनी राजनीतिक कृतियों में) उसने यूनान के उस प्राचीन युग की भावना को अभिव्यक्त किया है जो उसके जन्म लेने से पहिले ही बीत चुका था।'*

* 'He is unaffected by the movements of his own time, and detached from contemporary happening. The spirit which he expresses (at-least in his political works) is that of the classical age of Greece which was past before he was born.' —Foster : *op. ct*, page 122.

यद्यपि अरस्तु का जन्म स्टेगीरा में हुआ और वहीं उसका पालन पोषण हुआ तो भी वह अपने पूर्वगामी अफलातून की भाँति नगर-राज्य का ही सिद्धान्त-वेत्ता था। परन्तु अफलातून की भाँति कल्पना और पुराण कथाओं का सहारा उसने नहीं लिया है; उसने तथ्यों की अवहेलना कभी नहीं की। फॉस्टर के शब्दों में, अरस्तु शुद्ध सिद्धान्तवादी था जैसा कि अफलातून कभी नहीं था।

अरस्तु तथा अफलातून का सम्बन्ध—अरस्तु तथा अफलातून में कुछ ऐसे जबर्दस्त और स्पष्ट अन्तर हैं कि जिन्हें देखकर कुछ लोग कह उठते हैं कि प्रत्येक विचारक व्यक्ति या तो अफलातूनवादी होता है या अरस्तुवादी। इसका मतलब साफ तौर से यह है कि ये दोनों महान् विचारक ऐसी दो विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न और विपरीत हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि अरस्तु ने जगह-जगह अपने गुरु की आलोचना की है और उससे अभिन्नता की अपेक्षा विभिन्नता पर ही अधिक जोर दिया है, किन्तु विभिन्नताओं को देखकर हमें अभिन्नता को नहीं भुला देना चाहिये और न उसका महत्व ही कम करना चाहिये। हम फॉस्टर की इस बात का पूर्ण समर्थन किये बिना नहीं रह सकते कि अरस्तु सबसे बड़ा अफलातूनवादी है और "अफलातूनवाद का जितना गहरा प्रभाव उसके ऊपर पड़ा है उतना उसके अतिरिक्त किसी भी दूसरे विचारक पर किसी दूसरे के विचार का नहीं पड़ा।" और यदि वह अफलातूनवादी से इतना अधिक ओत-प्रोत है तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? आखिर वह २० वर्ष तक अफलातून की अकाडेमी में रहा और उसके निकट सम्पर्क में आया। क्या यह सब कुछ व्यर्थ ही जाता? उसे अफलातून के उत्तराधिकारी के रूप में अकाडेमी का अध्यक्ष बनने की आशा थी; उसने उसे केवल तभी छोड़ा जबकि स्पेसीपस (Speusippus) को उसका निर्देशक नियुक्त कर दिया गया। होमर (Homer) से लेकर सुकरात तक की समस्त राजनीतिक विचार तथा नैतिक और शिक्षात्मक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि उन दोनों की एक सामान्य विरासत थी। इससे भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनमें बहुत सी बातें अवश्य ही सामान्य होनी चाहियें। वे दोनों "यूनान के राजनीतिक जीवन की अस्थिरता तथा अपने मतानुसार उसके मूल कारण नैतिक अव्यवस्था को भय की दृष्टि से देखते थे; और दोनों के विचारानुसार उसका इलाज एक श्रेष्ठ जीवन की शिक्षा में निहित है। दोनों का ही यह विश्वास था कि एक सुखी जीवन केवल एक छोटे आकार के नगर राज्य में ही व्यतीत किया जा सकता है और उसकी प्राप्ति सब लोग नहीं कर सकते; बल्कि केवल वे ही लोग कर सकते हैं जिनके पास ऐसा करने के काफी साधन हैं और शिक्षा है। इसलिए दोनों ही नागरिकता को सीमित करना चाहते थे और दोनों ही यह उचित समझते थे कि सारा शारीरिक श्रम केवल दासों तथा अनागरिकों द्वारा किया जाना चाहिये।"*

* Sinclair: *A History of Greek Political Thought*, page 20?.

पत्नियों तथा सम्पत्ति का साम्यवाद तथा दार्शनिक राजा की धारणा, जिनकी अरस्तु ने कटु आलोचना की है, अफलातूनवाद का प्रधान तत्व नहीं है। तत्व की बात तो उसका यह विश्वास है कि एक मनुष्य के योग्य जीवन धर्म का जीवन है और व्यक्ति इसकी प्राप्ति राज्य में रहकर और उसका सदस्य रहते हुये ही कर सकता है। अरस्तु इस धारणा से पूर्ण रूप में सहमत है। वे दोनों ही इस विषय में 'सोफिस्ट्स' के विरोधी है और यह मानते है कि राज्य का जन्म जीवन के लिये हुआ और जीवन को सुखी बनाने के लिए वह जीवित है। यही वह बात है जो अरस्तु को एक सच्चा अफलातूनवादी बनाती है। अपने गुरु की भांति अरस्तु भी राज्य को एक नैतिक तथा आध्यात्मिक इकाई समझता है। और यह मानता है कि आचार-शास्त्र तथा राजनीति दोनों मिलकर एक और अविभाज्य विज्ञान का निर्माण होता है दोनों ही नगर राज्य की समस्याओं को नैतिक दृष्टिकोण से देखते है ; दोनों ही के राजनीतिक विचार का स्वरूप नैतिक है। दोनो ही राजनीति के व्यवहारिक पहलू पर जोर देते हैं। अफलातून की 'रिपब्लिक' तथा 'लॉज़' की तरह ही अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' भी एक राजनीतिज्ञ के लिए एक शिक्षा पत्रिका का काम दे सकती है। अरस्तु का यह विश्वास कि उसके समय की सबसे बड़ी आवश्यकता शासको की उचित शिक्षा थी इस बात का प्रमाण है कि वह एक सच्चा अफलातून-भक्त था। शायद उसका यही विश्वास उसे मकदूनिया के दरबार में ले गया जहां कि उसने सिकन्दर सरीखे महान् राजा को अपने महान् गुरु के सिद्धान्तों की शिक्षा देने का अवसर देखा। परन्तु किसी भी प्रकार के राजनीतिक आदर्श के पनपने के लिये उसे मकदूनिया के राजदरबार में एक उपयुक्त वातावरण नही मिला। अंतिम बात यह है कि अरस्तु की सर्वतोमुखी प्रतिभा और समस्त ज्ञान को अपने अधिकार क्षेत्र में रखने की भावना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वह अकाडेमी का एक सच्चा शिशु था।

परन्तु यद्यपि अरस्तु एक सच्चा अफलातूनवादी था और अफलातून की गहरी और अमिट छाप उस पर पडी थी ; किन्तु वह उसका अन्धा भक्त नहीं था। वह अपने गुरु की किसी बात को बिना सोचे विचारे स्वीकार करने वाला न था। उसकी प्रखर और तर्कप्रधान बुद्धि उसे हरगिज ऐसा करने की इजाजत न देती। उसने अपने शिक्षक की शिक्षाओं को अपने विचारों का आधार अवश्य बनाया परन्तु उनका विकास और उनके अंतिम रूप का निर्धारण उसके प्रारंभिक जीवन के जीवशास्त्र के अध्ययन तथा उसकी वैज्ञानिक प्रवृत्ति द्वारा ही हुआ। अफलातून इन्द्रियपरक जगत को मिथ्या समझ कर उसकी अवहेलना करता था किन्तु अरस्तु को यथार्थ से प्रेम था ; वह तथ्यों का संग्रह करके उनका विश्लेषण करता था ; वह उनको सबसे अधिक महत्त्व देता था अफलातून के अपने विचार के विकास में पौराणिक कथाओं तथा काव्य का बहुत बडा भाग है ; बौद्धिक व्याख्याओं की जगह उसने काव्यात्मक रूपको से अधिक काम लिया है। अरस्तु की तर्कप्रधान और वैज्ञानिक मनोवृत्ति को उससे कोई सहानुभूति नही हो सकती थी। वह सुनिश्चित और वैज्ञानिक ज्ञान का प्यासा था। अपने तथ्य-प्रेम तथा

वैज्ञानिक भावना के कारण उसने 'रिपब्लिक' में निरूपित आदर्श राज्य की घोर निन्दा की क्योंकि यथार्थ जगत में उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती थी और इसी लिये उसका अपना आदर्श राज्य 'लॉज' के हाथों में आकर राजनीति विज्ञान का एक वृहत्तर स्वरूप हमारे सामने आया। इसका उल्लेख अन्यत्र किया जायेगा। साराश यह कि यद्यपि अफलातून और अरस्तु का ध्येय एक ही है जो कि एक ऐसे ज्ञान का सम्पादन करना है जिस पर कि राजनीतिज्ञ आगे बढ़ सकते है, किन्तु उनकी पद्धितियाँ भिन्न हैं। अफलातून के चिंतन का स्वरूप कल्प-विकल्पात्मक था; उसकी धारणा थी कि ज्ञान 'अमूर्त विचारों को प्रतिबिम्बित करता है'; जबकि अरस्तु ने अपनी विचार प्रणाली को तथ्यों के पर्यवेक्षण और विश्लेषण पर आधारित किया। मैक्सी का यह कहना ठीक ही है कि अरस्तु प्रथम वैज्ञानिक था। वैज्ञानिक रुचि उसके राजनीतिक विचार पर आच्छादित है।

इस वृत्ति भेद तथा प्रारंभिक वैज्ञानिक शिक्षा के अतिरिक्त अरस्तु अफलातून से एक और बात में भी भिन्न है। अरस्तु एक मध्यम-वर्ग का पेशेवर आदमी था, वह एक गृहस्थी था, एक व्यवहारिक प्रशासक था। इसके विपरीत अफलातून एक अभिजात्य, रहस्यवादी तथा तपस्वी था। तभी तो अरस्तु में ऐसी अ-अफलातूनी बातें पाई जाती हैं जैसा कि गार्हस्थ्य जीवन का सम्मान, सम्पत्ति का महत्व और आवश्यकता, सुख और स्वास्थ्य की चाह, जनमत का आदर और सबसे बढ़कर यथार्थ का प्रेम और उसका यह विश्वास कि राजनीति का सार हमारे यथार्थ जीवन को सर्वोत्तम बनाने में है।

इन दोनों महान् दार्शनिकों में एक अन्य अन्तर भी हमारे अध्याय का पात्र है। उन दोनों की शैलियों में बड़ा भेद है। अफलातून एक सर्वोत्कृष्ट कलाकार था; उसका शब्द-प्रयोग चमत्कारपूर्ण है। परन्तु अरस्तु शैली-सौंदर्य की कोई परवाह न करता था; वह शब्दों के केवल अर्थ पर ध्यान देता था। शब्द-चमत्कार और काव्यात्मक रूपकों के ऊपर उसने अपने विचारों और तर्कनाओं को बलिदान नहीं किया।

इस प्रसंग में अन्तिम बात यह है कि अरस्तु ने बुद्धि के केवल सैद्धान्तिक स्वरूप और व्यवहारिक प्रयोग में बुनियादी विभाजक रेखा खींची है जिसका अफलातून को कोई पता न था। यही वह भेद है जिसके कारण अरस्तु ने अफलातून के दार्शनिक राजा के सबसे अधिक मौलिक सिद्धान्त का घोर खण्डन किया।

अरस्तु ने विज्ञानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है:—१. 'सैद्धान्तिक विज्ञान' जिसमें अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित, भौतिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र सम्मिलित है। २. 'व्यवहारिक विज्ञान' जिसमें आचार शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र जैसे सामाजिक शास्त्र शामिल है। ३. 'उत्पादक विज्ञान' जिसमें वस्तु-कला, संगतराशी, चित्र-कला इत्यादि शामिल है। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल सैद्धांतिक तथा व्यवहारिक विज्ञान के भेद की विवेचना करना है। उत्पादक विज्ञान को हम छोड देते हैं।

अरस्तु के अनुसार मनुष्य अपनी विचार शक्ति का दो प्रकार से प्रयोग करता है जिससे दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है और जिसके फलस्वरूप दो प्रकार के विज्ञानो का जन्म होता है। एक तो वह प्रकृति जगत को तथा बुद्धि की प्रक्रिया को समझने की चेष्टा करता है; दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित तथा निर्देशित करना चाहता है। पहिले प्रयोग को हम सैद्धांतिक तथा दूसरे को व्यवहारिक कह सकते है। विचार शक्ति के सैद्धातिक प्रयोग द्वारा हमें वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है जो आवश्यक और सर्वव्यापक है। इस प्रकार के ज्ञान का सबसे अच्छा उदाहरण गणित शास्त्र है और दूसरा है प्रकृति जगत्। इसलिये प्रकृति वैज्ञानिक ज्ञान का एक उचित विषय है। हम ऐसा ज्ञान प्रकृति के केवल उसी तत्व का प्राप्त कर सकते हैं जो अपरिवर्तनीय और सदा एकरस रहने वाला है। परन्तु मानव जगत का घटनाचक्र अधिकतर दैवयोग और स्थति विशेष पर निर्भर करता है; उसमें अपरिवर्तनीयता और एकरसता का अधिक स्थान नही है; इसलिए इनके विषय मे हम वैज्ञानिक अर्थात् आवश्यक तथा सर्वव्यापक ज्ञान प्राप्त नही कर सकते; यहाँ तो हमे केवल सम्भावनाओ के जान लेने पर ही सन्तोष करना पडता है। विशप बटलर के इस कथन से कि सम्भावना ही जीवन का निर्देशक है, अरस्तु पूर्ण रूप से सहमत हो सकता था। इसलिये आचार-शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र जिनका विषय मनुष्य का सामाजिक चरित्र है, कभी भी सैद्धान्तिक विज्ञान नही हो सकते। अरस्तु ने उन्हें व्यवहारिक विज्ञान की श्रेणी में रक्खा है। वह उन्हें दो अलग-अलग विज्ञान नहीं मानता, बल्कि एक ही विज्ञान के अभिन्न अंग मानता है। व्यवहारिक राजकला की मुख्य समस्या मानव चरित्र के अमूर्त सिद्धान्तों को समझ लेना नही है बल्कि यह जानना है कि स्थिति-विशेष मे क्या करना सही और श्रेयस्कर है तथा दूसरों से किस प्रकार विनियमित तथा नियन्त्रित किया जाये। यह सब कुछ वैज्ञानिक ज्ञान का विषय नही बल्कि सम्भावनाओ को आंकने का प्रश्न है। केवल अनुभव, अभ्यास तथा नैतिक अनुशासन द्वारा ही इस कला मे सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, गणित या द्वन्द्ववाद के अध्ययन द्वारा नही जैसा कि अफलातून समझता था। इसलिए अरस्तु इस परिणाम पर पहुँचता है कि वैज्ञानिक ज्ञान जो कि दार्शनिक की विशेषता है किसी भी तरह शासन करने की कोई विशेष योग्यता प्रदान नही करता। राजनीति अथवा राज-कला एक व्यवहारिक विज्ञान है, उसका एक अपना लक्ष्य है और उसका विषय सैद्धांतिक शास्त्रों से भिन्न है; इसमे सिद्धहस्त होने के लिए मस्तिष्क के उन गुणों से काम नही चल सकता जिनके द्वारा निरपेक्ष ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। एक राजनीतिज्ञ की पहिली योग्यता विशुद्ध ज्ञान नही वरन् व्यवहारिक बुद्धिमत्ता है जो शासन के अनुभव और अभ्यास से ही प्राप्त होती है। "अरस्तु का राजनीति के ऊपर अपना ग्रंथ ठीक इसी प्रकार की व्यवहारिक बुद्धि की कृति है। वह एक शासक

के लिए एक निर्देशन पत्र है। ऐसा दिखाई पड़ता है मानो यूनानी राज्यों के सामूहिक राजनीतिक अनुभव का सार उसमें निहित है।"*

अरस्तु की पद्धति—सैद्धान्तिक और व्यवहारिक विज्ञान में किया हुआ अरस्तु का भेद और राजनीति को एक व्यवहारिक विज्ञान समझने की धारणा के स्वरूप 'राज्य' तथा उसकी समस्याओं का अध्ययन करने की उसकी पद्धति अफलातून की पद्धति से बहुत भिन्न होनी चाहिए। बात सचमुच ऐसी ही है।

आदर्श राज्य तथा उसके संस्थानों की रचना करने में अफलातून ने कल्पना-प्रधान पद्धति को अपनाया था। वह कुछ निश्चित मान्यताओं तथा सिद्धान्तों को लेकर चला और जो भी परिणाम उनमें से निकले उन्हें उसने बिना किसी हिचक और आशंका के स्वीकार किया। जैसा कि सैबाइन का कहना है, 'रिपब्लिक' का रोमांस एक स्वच्छन्द बुद्धि का रोमांस है जिस पर रीति रिवाज का कोई प्रतिबन्ध नहीं, जो मानव मूर्खता तथा अहंकार से बिल्कुल अक्षुण्ण है। अफलातून ने निहायत इतमिनान के साथ तथ्यों की अवहेलना की और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें तोड़ा-मरोड़ा भी। यहाँ तक कि इतिहास का प्रयोग भी उसका अपना निराला है। अरस्तु की सबसे बड़ी शिकायत अफलातून के विरुद्ध यह है कि उसने इतिहास पर काफी ध्यान नहीं दिया और शासन योजनायें तय्यार करते समय मानव स्वभाव तथा भूतकाल में पाई जाने वाली सरकारों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। उसके बाल्यकाल की जीवशास्त्र की शिक्षा तथा उसके वैज्ञानिक अध्ययन ने अरस्तु में तथ्यों के प्रति एक बड़ा प्रेम उत्पन्न कर दिया था। वह बड़ी सावधानी तथा नियमित रूप से चीजों का पर्यवेक्षण करता था। अपने समकालीन तथा भूतकाल के राजनीतिक संस्थानों का उसे असाधारण ज्ञान प्राप्त था। कहा जाता है कि अपनी 'पॉलिटिक्स' की रचना करने से पहिले उसने लगभग दो सौ संविधानों का अध्ययन किया था। इस प्रकार उसके हाथ में आकर राजनीति शास्त्र अनुभवसिद्ध तथा निगमनात्मक (Inductive) हो उठा। बहुत से लेखकों का विचार है कि अरस्तु की ख्याति का मुख्य आधार यह है कि उसने राजनीतिक घटनाचक्र के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति को अपनाया है। राजनीतिक विज्ञान को उसकी यह एक मुख्य देन है।

अरस्तु ने वैज्ञानिक पद्धति के लिए आवश्यक तथ्य संग्रह के महत्व पर ही बल नहीं दिया; उसने तथ्यों का मूल्यांकन भी राज्य के लक्ष्य के दृष्टिकोण से ही करने की चेष्टा की। उसके इस तथ्य-प्रेम ने ही उसे एक क्रांतिकारी होने से रोका; वह केवल एक सुधारक ही हो सकता था। और उसका भूतकाल के [illegible]

* 'Aristotle's own treatise on politics is a work of just such [illegible] reason. It is a handbook for the statesman, containing the wisdom, as it were, from the collective political experience of the Greek [illegible]

—Foster.

अनुभव और बुद्धिमत्ता का इतना अधिक सम्मान करता हो वह कभी क्रांतिकारी नही बन सकता। अरस्तु की सारी मानसिक प्रवृत्ति इस विश्वास की ओर झुकी हुई थी कि केवल वही आदर्श प्रभावकारक हो सकता है जो वस्तु स्थिति के विपरीत न हो। इसलिये सिद्धान्त तथा व्यवहार का सघर्ष अरस्तु के मार्ग मे अफलातून की अपेक्षा कही अधिक कठिन समस्यायें उत्पन्न करता था। अपने आदर्श और यथार्थ में सामजस्य स्थापित करना उसे कठिन जान पडा, इसलिये उसने आदर्श राज्य की रचना का विचार ही छोड दिया। वास्तव मे वह काम उसके स्वभाव के अनुकूल न था।

साराश यह कि अरस्तु की पद्धति उसकी अनुभूति-प्रधान अथवा आगमनात्मक मनोवृत्ति, ऐतिहासिक प्रवृत्ति, परम्परा-प्रेम तथा जनमत का सम्मान करने की तत्परता से निर्धारित हुई। इन सब बातों मे उसका अफलातून से गहरा भेद था। इन्होने उसके विचारो को नरम बनाने मे सहायता दी।

यह सक्षिप्त परिचय देने के बाद अब हम अरस्तु के उस राजनीतिक दर्शन की विवेचना करेंगे जोकि 'पॉलिटिक्स' मे सकलित है।

पॉलिटिक्स एक अपूर्ण कृति— दुर्भाग्य की बात है कि जो 'पॉलिटिक्स' आज हमे उपलब्ध है वह एक अपूर्ण कृति है। वह प्राचीन राजनीति दर्शन का सबसे अधिक चक्कर में डालने वाला ग्रंथ है। इसके मूल्य के बारे मे विद्वानों मे सब से अधिक मतभेद पाया जाता है। एक ओर डाक्टर जैलर (Zeller) हैं जो इसकी अत्यन्त प्रशसा करते हैं और जिनके अनुसार हमारे पास यह सब से बड़ा प्राचीन खज़ाना है और आज तक के राजनीतिक दर्शन के लिए सब से बडी देन है। इसी प्रकार प्रो० बाउल का कहना है कि अपने विषय पर 'पॉलिटिक्स' सब से अधिक प्रभावक और सब से अधिक गहरा ग्रन्थ है। यह वह ग्रन्थ है जिसका गहरा अध्ययन सब से पहले किया जाना चाहिये। इसके विपरीत डा० टेलर (Taylor) का मत यह है कि इतने बड़े विषय का निरूपण जितना साधारण इस ग्रंथ मे है उतना अरस्तु की किसी अन्य कृति मे नहीं। 'पॉलिटिक्स' में इस उलझन का कारण यह है कि उसमे कही-कही तो किसी विषय का उल्लेख इस प्रकार किया गया है जैसे उसका विवेचन पहिले ही हो चुका हो जबकि पहिले उसकी ओर संकेत तक नही किया गया और कहीं-कही उन बातों का उल्लेख कर दिया गया है जिनका विवेचन आगे चल कर हुआ है। सारा ग्रंथ अव्यवस्थित विषय परिवर्तन से भरा पडा है। इन दोषो की सफाई यह दी जा सकती है कि वह पूर्ण ग्रंथ नही है और इनके वर्तमान रूप मे अरस्तु शायद उसे प्रकाशित न करना चाहता हो। 'पॉलिटिक्स' की इस अव्यवस्था के बारे मे कतिपय अटकल लगाई जाती है। कुछ लोगों का कहना है कि यह उन नोटो का सग्रह मात्र है जो अरस्तु के व्याख्यानों मे से उसके शिष्यों ने तैयार किये और सुरक्षित रख लिये। कुछ लोग कहते हैं कि ये नोट स्वयं अरस्तु ने ही अपने व्याख्यानों के लिये तैयार किये थे जिन्हे उसने बाद मे एक ग्रंथ के रूप में संकलित कर दिया। कुछ ऐसे भी हैं जिनका विश्वास यह है कि 'पॉलिटिक्स' की रचना अरस्तु ने नहीं बल्कि लेसियम मे उसके शिष्यों ने की।

इस विषय में सबसे अधिक संतोषजनक विचार हमे यह दिखाई पडता है कि 'पॉलिटिक्स' के विभिन्न अनुच्छेद वे नोट है जो अरस्तु ने विभिन्न समय पर अपने व्याख्यानो के लिये तैयार किये थे। हो सकता है उनमें से कुछ उसके अधिक विस्तृत ग्रन्थों का भाग हों जो अब लुप्त हो गये हैं।

'पॉलिटिक्स' आठ पुस्तको में विभाजित है। इन्हे हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते है, जिनका आपस मे सम्बन्ध तो है परन्तु जिनमे दृष्टिकोण और विषय के विवेचन में बड़ा भेद है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पुस्तकों का एक समूह है; ये वह आधार निर्माण करती हैं जिनके ऊपर एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र दो रचनायें तैयार की गई है। इनमें से एक रचना मे आदर्श राज्य और उसके सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है। यह सातवी तथा आठवी पुस्तको मे पाई जाती है। दूसरी रचना में संविधानों के स्वरूप, उनमे भेद तथा उनमे होने वाले परिवर्तनों का वर्णन है। इन विषयों का विवेचन चौथी पाँचवी तथा छटी पुस्तको में किया गया है। कुछ समालोचक दूसरी, तीसरी, सातवी तथा आठवी पुस्तको को एक समूह में और चौथी, पांचवी तथा छटी पुस्तकों को दूसरे समूह मे रखते है और प्रथम पुस्तक को सम्पूर्ण ग्रन्थ की एक सामान्य भूमिका समझते है। यह देखना दिलचस्पी से खाली न होगा कि 'पॉलिटिक्स' जिन पुस्तको में विभक्त है उन्हें तीन समूहों मे क्यों रक्खा जा सकता है।

जेगर के अनुसार 'पॉलिटिक्स' मे हमें अरस्तु के राजनीतिक विचार के दो तल मिलते हैं और इसके विषय को दो मुख्य भागो में बांटा जा सकता है। पहिले भाग में आदर्श राज्य तथा प्रारंभिक सिद्धान्तो का अध्ययन और अफलातून की समालोचना सम्मिलित है। इस भाग मे दूसरी, तीसरी, सातवी तथा आठवी पुस्तकें हैं। इनमें से अन्तिम दो पुस्तको में अरस्तु ने आदर्श राज्य की रचना का प्रयास किया है; तीसरी पुस्तक मे राज्य तथा नागरिकता के स्वरूप का अध्ययन है, यह मानों आदर्श राज्य की रचना की एक भूमिका है। दूसरी पुस्तक तीसरी, सातवी तथा आठवीं पुस्तकों के लिये एक तैयारी के रूप मे है। उसकी यह एक विशेषता थी कि अपने विचारों को व्यक्त करने से पहिले वह अपने से पूर्व के विचारों और सिद्धान्तों का परीक्षण करता था और उनकी आलोचना द्वारा ही अपने विचारों को विकसित करता था। ऐसा लगता है कि दूसरी, तीसरी, सातवी और आठवी पुस्तके अफलातून के मरने पर अरस्तु के ऐथन्स छोडने के कुछ बहुत दिन बाद नही लिखी गई। सातवी पुस्तक मे अरस्तु के ऊपर अफलातून का जो प्रभाव झलकता है वह 'पॉलिटिक्स' के किसी दूसरे भाग मे नही। यहां पर उसने अपने गुरु की इसी धारणा को अपनाया है कि राजनीतिक दर्शन का मुख्य कार्य एक आदर्श राज्य की रचना करना है और उसका आदर्श राज्य 'लॉज़' के उपादर्श से अधिक भिन्न नही है। इस भाग मे उसका प्रधान उद्देश्य नैतिक है, यहा राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों मे सर्वोच्च धर्म का उदय करना है। कम से कम आदर्श राज्य मे वह अच्छा मनुष्य बनना और अच्छा नागरिक होना एक ही बात समझता है।

हरगिज नहीं कि अरस्तु ने अफलातून की इस धारणा का परित्याग कर दिया कि राजनीतिक दर्शन राज्य की एक नैतिक व्याख्या है और राज्य-कला का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक जीवन में नैतिक ध्येय की प्राप्ति करना है। ये मूल आदर्श उसने अफलातून से लिए हैं; वह राज्य को सभ्य जीवन में एक साधन के रूप में देखता है और उस साधन के सच्चे अर्थ की खोज करना चाहता है। परन्तु वह अपने गुरु से एक कदम आगे बढ़ता है और उसकी विचारधारा में आधारभूत परिवर्तन कर देता है। उसके राजनीति के नवीन और अधिक व्यापक विज्ञान में न केवल राज्य का नैतिक उद्देश्य शामिल है, वरन् उसमें 'उसके सामाजिक तथा राजनीतिक तत्वों, वास्तविक संविधानों, उनके सम्मिश्रण और तद्जनित परिणामों का एक अनुभवगम्य अध्ययन भी शामिल है।'* निरपेक्ष तथा सापेक्ष राजनीतिक श्रेय तथा अच्छे बुरे सभी प्रकार के राजनीतिक ध्येय के लिए आवश्यक राजनीतिक यन्त्र का ज्ञान नवीन विज्ञान का एक भाग है। राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा और क्षेत्र को इतना विस्तृत करना इस विषय को अरस्तु की सबसे बड़ी देन है। अपने गुरु से वह कितना दूर चला गया, इसका प्रमाण इससे बढ़कर और कोई नहीं हो सकता।

राज्य, उसका स्वरूप, जन्म तथा लक्ष्य—'पॉलिटिक्स' की पहिली पुस्तक में जो कि अरस्तु द्वारा प्रतिपादित राजनीति के नवीन विज्ञान की एक भूमिका सी है उस महान् दार्शनिक समस्या पर विचार किया गया है जिसके सुलझाने की चेष्टा अफलातून ने भी की थी। वह समस्या है राज्य का स्वरूप, जन्म तथा लक्ष्य। अपने गुरु के सदृश उसका लक्ष्य भी 'सोफिस्ट्स' के इस सिद्धान्त का खण्डन करना है कि राज्य एक परम्पराजनित संस्था है और अपने सदस्यों की भक्ति पर उसका कोई वास्तविक अधिकार नहीं है। इस धारणा के विपरीत वह यह सिद्ध करना चाहता है कि राज्य एक स्वाभाविक समुदाय है और उसका अपना निजी नैतिक मूल्य है; वह कोई ऊपर से थोपी हुई चीज नहीं है।

(१) *राज्य एक स्वाभाविक समुदाय*—अफलातून की तरह अरस्तु भी यह मानता है कि राज्य एक स्वाभाविक समुदाय है। इसकी स्वाभाविकता का प्रमाण यह है कि इसका जन्म हुआ जीवन के लिए और एक सुखी जीवन के लिए यह जीवित है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि अरस्तु राज्य को स्वाभाविक इसलिये समझता है क्योंकि इससे अलग और बाहर रहकर मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है और प्रकृति ने उसे राज्य के रूप में रहने के लिए ही बनाया है। उसका कहना है कि राज्य एक '**Knoinonia**' है, एक समुदाय है, एक बन्धुत्व है, एक जाति (Community) है। राज्य उन लोगों का संघटन है जो एक दूसरे से भिन्न होते हुये भी कुछ सामान्य आवश्यकतायें रखते है और वस्तुओं तथा सेवाओं के परस्पर आदान-प्रदान द्वारा उनकी पूर्ति करने के के लिए प्रकृति उन्हें प्रेरित करती है। यह और 'रिपब्लिक' का यह सिद्धान्त कि

* Sabine : *A History of Political Theory*, page 115.

राज्य का आधार श्रम-विभाग तथा सेवाओं का आदान-प्रदान है मूलतः एक हैं। परन्तु अफलातून ने विभिन्न समुदायों और संघटनो मे कोई भेद नही किया और न यह दिखाने की चेष्टा की कि राज्य तथा अन्य समुदायो मे क्या भिन्नता है; अरस्तु ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि राज्य किस प्रकार का समुदाय है और परिवार तथा अन्य समुदायों से वह किस प्रकार भिन्न है। उसका कहना है कि राज्य एकाकी व्यक्तियों का समूह नही है बल्कि समुदायो का समुदाय है। व्यक्तियो से मिलकर परिवार तथा ग्राम जैसे छोटे समुदाय बनते है और इन छोटे समुदायों के मिलने से राज्य बन जाता है। इसके विपरीत अफलातून परिवार तथा अन्य समुदायों से घृणा करता था; वह उन्हें राज्य का प्रतिद्वन्द्वी समभकर उनका उन्मूलन करना चाहता था। अरस्तु अधिक यथार्थवादी है; वह परिवार और ग्राम को अक्षुण्ण रखता है। राज्य को वह सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए परिवारो तथा ग्रामों का एक संगठन बताता है। अफलातून तथा अरस्तु मे यह एक बुनियादी अन्तर है। किन्तु जहाँ तक कि यह अपने साधनों से अपने घटको की समस्त नैतिक तथा भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है दोनो ही उसे शुभ जीवन के लिए आवश्यक समभते है। यह अपने मे पूर्ण, स्वपर्याप्त है।

राज्य भी वैसे ही स्वाभाविक है जैसे कि परिवार। कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना भी क्रान्तिप्रिय क्यो न हो यह नही सोच सकता कि परिवार एक कृत्रिम मानवीय संस्था है जिसे बाहर से उसके ऊपर लादा गया है। वह मानव के भावनात्मक जीवन की अभिव्यंजना है, इसलिए वह स्वाभाविक है। "इसलिए वह मानव विकास के मार्ग मे बाधक नही बल्कि साधक है। यह एक घोंसले के सदृश्य है, पिंजरे के नही।"* यदि परिवार एक स्वाभाविक सस्था है और मानव के विकास के लिए आवश्यक है तो राज्य तो और भी अधिक स्वाभाविक और आवश्यक होना चाहिये क्योंकि वह परिवार का ही एक स्वाभाविक परिणाम है। व्यक्ति के विकास का जो कार्य परिवार मे आरम्भ होता है उसकी पूर्ण सिद्धि राज्य मे ही की जा सकती है। यदि परिवार और ग्राम उन सब सुविधाओ और साधनों को जुटा पाते जो मानव के विकास के लिए आवश्यक है तो और कोई समुदाय न बनता। परन्तु वे स्वपर्याप्त नही हैं; इसलिए अन्य समुदाय भी बनते है। अफलातून और अरस्तु के अनुसार इस ध्येय की पूर्ति केवल नगर राज्य मे ही हो सकती है। इसलिए वे नगर राज्य को सामाजिक संगठन का सर्वोच्च रूप समभते हैं, जिस की ओर मनुष्य अपनी आन्तरिक वृत्ति के कारण खिंचता है जो कि उसे विभिन्न रूपों मे ऊपर की ओर ले जाती है।

वह स्वपर्याप्तता, जो अफलातून और अरस्तु के अनुसार केवल राज्य मे ही प्राप्त हो सकती है, क्या है? इस प्रश्न के ऊपर हमने दूसरे अध्याय मे कुछ प्रकाश

*"Therefore it does not thwart human growth but fosters it; it is like a nest, not like a cage." —Foster: *op cit*, page 128.

डाला था, यहाँ हम उस पर अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे। इसका अर्थ आर्थिक स्वपर्याप्तता नहीं है। एक ग्राम को आर्थिक रूप से स्वपर्याप्त तथा आत्मनिर्भर तभी समझा जा सकता है जबकि हम अपनी आवश्यकताओं को अत्यन्त सीमित करके जीवन की केवल न्यूनतम आवश्यकताओं पर सन्तोष करने को तैयार हों। किन्तु यदि इस शब्द का हम व्यापक अर्थ लें तो एक परिवार और ग्राम, तथा नगर राज्य का तो कहना ही क्या ; रूस, अमेरिका, भारत जैसे महान् देश और ब्रिटिश जैसे महान् साम्राज्य भी स्वपर्याप्त नही हो सकते , उन्हें भी कुछ कच्चे माल तथा कल-कारखानो मे बने सामान को दूसरे देशों से मगाना पड़ता है। नगर राज्य को स्वपर्याप्त कहने से अफलातून और अरस्तु का अभिप्राय यह था कि नगर राज्य उन तमाम स्थितियों और वातावरण की पूर्ति करता है जो कि व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। "समाज के ग्राम सरीखे निम्नतर रूप अपर्याप्त न केवल इसलिए है कि वे मनुष्य की समस्त इन्द्रियपरक आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर सकते, बल्कि इसलिए कि वे उसकी बौद्धिक आवश्यकताओं की भी समुचित रूप से पूर्ति नही कर सकते। इनकी पूर्ति तो केवल एक राजनीतिक समाज में, जो कि आर्थिक समाज से भिन्न है, हो सकती है और मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति का पूर्ण विकास राजनीतिक क्रिया में ही हो सकता है जो आर्थिक क्रिया से भिन्न हैं।"*

राज्य स्वाभाविक किस प्रकार और क्यों है, यह जानना आवश्यक है। राज्य स्वाभाविक इसलिये है क्योंकि मनुष्य मे अन्य मनुष्यों से मिलने की एक स्वाभाविक चाह होती है। किन्तु एक कालविशेष और देशविशेष में उसका रूपविशेष उसके सदस्यो के कार्यो के ऊपर निर्भर करता है। राज्य यद्यपि एक स्वाभाविक सस्था है, फिर भी मानव इच्छा से वह सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। मानव प्रयत्न से ही यह कायम रहता है और मनुष्य की इच्छा के अनुसार इसका रूप निर्धारित होता है। वास्तव में अरस्तु कला और प्रकृति में कोई भेद नही देखता ; मनुष्य अपने प्रयत्न से प्रकृति की सहायता भी कर सकता है और उसके मार्ग में बाधा भी डाल सकता है। काव्य का विकास प्राकृतिक रूप से हुआ ; किन्तु मनुष्य ने उसे परवान चढाया। इसी प्रकार *राज्य के रूप मे अपने आप को संघटित करने की इच्छा मनुष्य मे प्रकृतिदत्त है ;* किन्तु राज्य की आधारशिला रखने वाला सबसे पहिला मनुष्य मानव जाति का सबसे बड़ा हितैषी था। प्राकृतिक व्यापार मे मनुष्य को हस्तक्षेप करने का अवसर इसलिए मिलता है क्योंकि प्रकृति में अपूर्णतायें हैं। इस प्रकार प्रकृति के दोष मनुष्य को अपनी प्रतिभा दिखाने का एक अवसर प्रदान करते है। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और राज्य एक स्वाभाविक संस्था है—ये दोनों कथन एक दूसरे में निहित हैं। राज्य मनुष्य का स्वाभाविक लक्ष्य है क्योंकि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है, क्योंकि जो स्वभाव से ही राज्य के बाहर रहता है (किसी विवशतावश नही) वह या तो देवता है या पशु, वह या तो मानवता से ऊपर है या नीचे, वह मानव नही हो सकता। दूसरे शब्दों में, हम

* Foster : *op. ct.*, page 129.

कह सकते है कि मनुष्य राजनीतिक प्राणी इसलिए है क्योंकि उसका स्वाभाविक लक्ष्य राज्य है। जो चीज उसे एक राजनीतिक प्राणी बनाती है वह है उसकी भाषण शक्ति। अन्य पशु यूथचारी (Gregarious) है; किन्तु मनुष्य ही केवल राजनीतिक प्राणी है, केवल उसे ही भाषण शक्ति प्रदान की गई है। अपनी इसी शक्ति द्वारा वह शुभ व अशुभ तथा न्याय व अन्याय मे भेद कर सकता है और एक शुभ जीवन की प्राप्ति के लिये अन्य मनुष्यो से मिल-जुल सकता है।

(२) **राज्य सर्वोच्च समुदाय के रूप में**—अरस्तु के अनुसार राज्य समुदायो का समुदायमात्र नही है; वह सर्वोच्च समुदाय है। यह इसलिए सर्वोच्च है क्योंकि यह सबके ऊपर है और सब इसके अक मे लिपटे हुए है। यह इसलिए सर्वोच्च है क्योकि इसका लक्ष्य सर्वोच्च है जो अपने नागरिको के जीवन को शुभ बनाना है। प्रत्येक अन्य समुदाय का ध्येय किसी विशिष्ट तथा हीनतर शुभ की प्राप्ति करना है जबकि राज्य का ध्येय परम शुभ की प्राप्ति करना है। अरस्तु राज्य की परिभाषा उसके लक्ष्य के अनुसार करता है; उसका दृष्टिकोण लक्ष्य प्रधान है। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके है राज्य का उद्देश्य है मनुष्य की एक सुखी जीवन की इच्छा को तृप्त करना जो अन्य किसी साधन से पूर्ण रूप से तृप्त नही हो सकती। शुभ और सुखी जीवन के अन्तर्गत मनुष्य की नैतिक और बौद्धिक क्रियाये शामिल है; इन्हें तृप्त करने के लिए राज्य मे अन्य किसी भी समुदाय की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र मिलता है; इसमे अधिक भिन्न-भिन्न सम्बन्ध कायम होते है जिनमे धर्म की अभिव्यंजना की जा सकती है।

(३) **राज्य विभिन्न अगों वाला सम्पूर्ण**—हम पहिले ही कह चुके हैं कि राज्य एक सर्वोच्च समुदाय है और अन्य सभी मानवी समुदाय इसमे शामिल हैं। इस बात पर विचार करने पर अरस्तु के राज्य-विषयक सिद्धान्त मे एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व सामने आता है। जिस प्रकार एक सम्पूर्ण मे उसके समस्त अंग शामिल होते हैं और वह उनसे ऊपर होता है इसी प्रकार में अन्य समुदाय है और राज्य उनसे ऊपर है मानव शरीर हड्डियो, मास तथा नसो का एक समूहमात्र नहीं है बल्कि इन सब तथा इन्हे एक जगह गुंथित करने वाले सिद्धान्त को मिलाकर ही मानव शरीर की सज्ञा दी जा सकती है। उस सिद्धान्त के अभाव मे शरीर के समस्त अंगों को मिलाकर भी एक शरीर न बन सकेगा और अग भी अंग न रह जायेंगे। आँख तभी देख सकती हैं और हाथ तभी स्पर्श कर सकते हैं जबकि वे एक जैविक रूप से समस्त शरीर का अभिन्न अंग हों। इसी प्रकार से कोई गृहस्थ और सच्चा गृहस्थ और कोई ग्राम सच्चा ग्राम नही रह सकता यदि वे किसी राज्य के सक्रिय सदस्य न हों। यही बात व्यक्तियो के ऊपर भी लागू होती है। राज्य का सदस्य रह कर ही व्यक्ति पूर्ण मनुष्य बन सकता है उससे अलग रहकर वह एक मूर्ख तथा सीमित प्राणी है, एक पशु है।

परिवार, ग्राम तथा अन्य मानव समुदाय राज्य की ओर ले जाने वाली सीढियां हैं; राज्य मे उनका अवसान हुए बिना वे पूर्ण नही हो सकते, उनकी अन्तर्निहित

शक्ति का पूर्ण प्रस्फुटन नही हो सकता। इस प्रकार समय और स्वभाव क्रम से नही तो विचार क्रम से राज्य अन्य समुदायो का पूर्वाधार है। विचार क्रम से सम्पूर्ण सदा अपने अंगों के पहिले आता है; सम्पूर्ण की कल्पना ही उसके अगो को महत्व प्रदान करती है। किन्तु काल क्रम से अग सम्पूर्ण से पहिले आते हैं। अत ऐतिहासिक रूप से तो परिवार, ग्राम इत्यादि राज्य से पहिले आते है, परन्तु तर्क की दृष्टि और विचार के क्रम से राज्य इनके पहिले आता है।

(४) **राज्य का जैविक स्वरूप**—अपनी लक्ष्य प्रधान मीमासा (Teleology) के कारण अरस्तु इस परिणाम पर पहुचता है कि राज्य का स्वरुप जैविक है; वह नाना प्रकार के अंगों से मिलकर बना हुआ एक सम्पूर्ण अथवा सम्मिश्रण है। व्यक्तियो और समुदायों का जो कुछ भी मूल्य या महत्व है वह सब राज्य की सजीवनी शक्ति के कारण है; राज्य के अभाव में ये सब जड हो जायेंगे और इनका विनाश हो जायेगा। राज्य की सदस्यता मनुष्य जीवन का लक्ष्य है; राज्य में रहकर और राज्य के द्वारा ही वह अपने जीवन को सार्थक कर सकता है। यदि हम व्यक्ति और राज्य के इस परस्पर सम्बन्ध को ध्यान मे न रखें तो हम मनुष्य के कर्तव्यो और अधिकारो की सही धारणा नही बना सकते।

याद रहे कि अरस्तु राज्य को जीव नही समझता। हीगल तथा उसके अनुयायियो की तरह वह यह नही कहता कि राज्य एक अति-प्राणी (Super-being) है जो अपने नागरिको से ऊपर है और नागरिक जिसके पूर्ण रुप से अधीन है। नागरिकों की सुख वृद्धि तथा धर्मोन्नति के अतिरिक्त राज्य का और कोई उद्देश्य नही है। इस प्रकार वह अराजकतावादी व्यक्तिवाद के विकास के लिए आवश्यक है, किन्तु उसका अपना कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नही है।

(५) राज्य के स्वरूप की उपरोक्त समीक्षा से यह स्पष्ट है कि अरस्तु राज्य को एक विकासशील चीज समझता है। इस बात मे वह तथा राज्य के विकासवादी सिद्धान्त के आधुनिक समर्थक एकमत हैं। परन्तु एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात मे उसका उनसे मतभेद है। उसके लिए नगर ही सब कुछ है; वह उसको मानव समुदाय का अन्तिम तथा पूर्णतम रूप समझता है। अपने ही शिष्य, सिकन्दर महान् द्वारा स्थापित किये हुए विश्व साम्राज्य की ओर उसने आँख उठाकर भी नही देखा। उसके विचार में साम्राज्य की स्थापना मानव समाज की प्रगति का नही, अवनति का सूचक है। इस बात मे वह पूर्णतया अफलातूनवादी था।

(६) **राज्य के कार्य**—अरस्तु द्वारा प्रतिपादित राज्य के सिद्धान्त को अच्छी तरह समझाने के लिए यह जानना कि उसने राज्य को क्या-क्या कार्य सौंपे है तथा उसका लॉक तथा ग्रीन जैसे आधुनिक लेखको के विचारों से तुलना करना आवश्यक है। राज्य के कार्य उसकी राज्य की इस परिभाषा मे ही निहित है कि "राज्य परिवारो तथा ग्रामों का एक पूर्ण एव स्वपर्याप्त संगठन है जिसके द्वारा हम एक सुखी एव सम्मानपूर्ण जीवन को प्राप्ति करते हैं।" इनका आभास हमे उसके इस सुप्रसिद्ध

वाक्य से भी मिल सकता है कि "राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ और एक सुखी एवं पूर्ण जीवन के लिए वह जीवित है।" लॉक तथा स्पेन्सर सरीखे आधुनिक व्यक्तिवादियो की भांति वह राज्य के कार्यों को अपने सदस्यो के अधिकारों की रक्षा करने तथा न्याय प्रदान करने तक ही सीमित नहीं करता ; वह राज्य को अन्याय से बचाने के लिए एक संगठन मात्र नहीं मानता। राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण विधेयात्मक (Positive) है। वह चाहता है कि राज्य को मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए आवश्यक कार्य करने चाहियें। मूलरूप से राज्य का कार्य मानव जीवन को नैतिक और धर्म-संगत बनाना है, उसे केवल पाप से रोकना नहीं। राज्य की मांग अपने नागरिकों से केवल यही नहीं है कि एक दूसरे के साथ पाप या दुष्टतापूर्ण व्यवहार न करें, बल्कि यह है कि वे पाप और दुष्टता का पूर्ण परित्याग कर दें। अरस्तु का कहना है कि वह समाज जो अपने सदस्यो की पापवृत्तियों को दबाने तक ही सीमित रहता है और उन्हें एक धर्मपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए कोई शिक्षा नहीं देता वह एक सच्चा राज्य हर्गिज नहीं हो सकता। ग्रीन सरीखा आदर्शवादी भी राज्य के कार्यों का इतना व्यापक क्षेत्र नहीं मानता। उसके अनुसार राज्य के कार्यों का स्वरूप निषेधात्मक है। राज्य का कार्य सुखी जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना है, मनुष्य को अच्छा बनाना नहीं। इस अन्तर का कारण अच्छे जीवन की परिभाषा में परिवर्तन हो जाना है जो कि ईसाइयत के प्रभाव के हुआ है। नैतिक जीवन का मनुष्य के अन्तःकरण से जितना गहरा सम्बन्ध हम आज समझते है उतना यूनानी लोग नहीं समझते थे। नैतिकता का आधार सद्वृत्ति है और राज्य किसी भी तरह से मनुष्य में सद्वृत्तिया उत्पन्न नहीं कर सकता। हां, वह केवल उसके मार्ग में से बाधाओं को हटा कर नैतिक जीवन के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है और ऐसी परिस्थितयाँ उत्पन्न कर सकता है जिनमे नैतिक जीवन का विकास हो सके। राज्य अपने नागरिकों से कह सकता है कि वे चोरी न करें, डाका न डालें और किसी की हत्या न करें, किन्तु वह उन्हें कुविचारों और पापवृत्तियो को त्यागने के लिए विवश नहीं कर सकता। नैतिक जीवन के बारे में आधुनिक और यूनानी धारणाओं में जितने भी भेद हैं उन सबका उल्लेख करना तो यहाँ न सम्भव ही है और न आवश्यक ही। देखने की बात यह है कि आज के बड़े से बड़े समाजवादी और आदर्शवादी भी अफलातून और अरस्तु की इस बात का समर्थन नहीं करेंगे कि राज्य का कार्य मनुष्य को एक सच्चा और अच्छा व्यक्ति बनाना है। जो राज्य धर्म का पोषण नहीं करता वह सच्चा राज्य नहीं, केवल तथाकथित राज्य है। यह धारणा हमारे हिन्दू धर्म की परम्पराओं के कितना निकट है।

गार्हस्थ्य का स्वरूप—ऐतिहासिक रूप से परिवार राज्य का मूल है। इसलिए अरस्तु इसके स्वरूप और निर्मायक तत्वों का विश्लेषण करता है। इस विषय का निरूपण करते-करते उसने बहुत से आधारभूत आर्थिक प्रश्नों के ऊपर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

इस सम्बन्ध में पहिली बात तो यह है कि परिवार तथा राज्य मे केवल आकार का ही नही, बल्कि प्रकार का भी भेद है ; अरस्तु ने अफलातून की इस धारणा को ठुकरा दिया है कि एक बड़ा परिवार तथा छोटा राज्य मूलतः एक ही चीज है और दोनों का शासन प्रबन्ध एक ही विज्ञान है। राज्य में केवल एक प्रकार का सम्बन्ध होता है और वह सम्बन्ध है शासक और शासित का ; परिवार में तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, पति-पत्नी का, दूसरा माता-पिता तथा सन्तान का, और तीसरा स्वामी और दास का। राज्य के शासन का सम्बन्ध प्रत्येक नागरिक से एकसा ही होता है ; किन्तु परिवार के प्रधान का सम्बन्ध पत्नी, सन्तान तथा दासो से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। पति-पत्नी तथा माता-पिता और सन्तान के सम्बन्धों पर विचार करना यहाँ आवश्यक नहीं है और न ही यह दिखाना आवश्यक है कि शासक और शासित के सम्बन्ध से वे किस प्रकार भिन्न हैं ; हाँ स्वामी तथा दास के सम्बन्ध का तनिक विस्तृत अध्ययन करना वांछनीय है।

दासप्रथा का स्वरूप तथा उसका औचित्य—परिवार के सम्बन्ध में एक नितांत महत्वपूर्ण प्रश्न जिस पर अरस्तु ने विचार किया है वह दासप्रथा का स्वरूप तथा उस का औचित्य है। वह कहता है कि परिवार को समुचित कार्य करने के लिए कुछ यन्त्रो की आवश्यकता है ; वे यन्त्र चैतन्य भी हो सकते है और जड़ भी। दास चैतन्य और सम्पत्ति जड़ यन्त्र हैं।

अरस्तु ने दासप्रथा का समर्थन करते हुए एण्टीफोन तथा एलसीडेमास जैसे सोफिस्ट्स का विरोध किया जो कि इस प्रथा को अन्यायपूर्ण समझते थे क्योंकि इसका आधार केवल परम्परा है, यह स्वाभाविक नही है। स्वामी का दास के ऊपर शासन प्रकृति के नियम के विरुद्ध है क्योंकि प्रकृति ने सब को बराबर बनाया है।

अरस्तु दासप्रथा का औचित्य इस सर्वव्यापी सिद्धान्त के द्वारा सिद्ध करना चाहता है कि जब कई रग मिलकर एक सम्पूर्ण का निर्माण करते हैं तो सम्पूर्ण को सार्थक बनाने के लिए एक निकृष्ट अंग को श्रेष्ठ अंग के आधीन होना पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य की रचना में आत्मा शरीर के ऊपर और बुद्धि इन्द्रियों के ऊपर शासन करती है। इसी प्रकार परिवार या राज्य सरीखे मानव समुदाय में उन बुद्धिमान् तथा धर्मशील व्यक्तियों को उन लोगों के ऊपर शासन करना चाहिये जिनमें बुद्धि और गुण का या तो सर्वथा अभाव है या उनकी बहुत कमी है। पहिली प्रकार के लोग स्वभाव से ही स्वामी और दूसरी श्रेणी के लोग स्वभाव से ही दास होते हैं। प्रकृति ने उन्हें स्वामी बनाया है उनमें बौद्धिक बल की और जिन्हें दास बनाया है उनमें शारीरिक बल की प्रधानता होती है। इन दोनों का सम्मिश्रण उस ध्येय की पूर्ति के लिए आवश्यक है जिसके लिये कि परिवार कायम है। वह ध्येय है गृहस्थ का बौद्धिक एवं नैतिक विकास। यदि उसे शारीरिक और क्षुद्र काम स्वयं करने पड़ें तो उसकी नैतिक और बौद्धिक उन्नति कभी नही हो सकती। जिस प्रकार एक संगीतज्ञ बिना संगीत यन्त्रों के संगीत की निष्पत्ति नही कर सकता, इसी प्रकार एक गृहस्थ

बिना दासो के सुखी जीवन व्यतीत नही कर सकता। इसलिये स्वामी के दृष्टिकोण से दासप्रथा उचित है क्योंकि उसे वह धर्म का पालन करने के लिये पर्याप्त अवकाश देती है।

दास के दृष्टिकोण से भी यह उतनी उचित है। जिन लोगो मे धर्म का अभाव है और केवल शारीरिक बल है, वे बौद्धिक और नैतिक गुणो का लाभ तभी उठा सकते है जबकि वे ऐसे व्यक्ति के अधीन हो जिनमे ये गुण वर्तमान हो। एक व्यक्ति जो जन्म से ही दास है, अपने जीवन मे कभी भी संयम का पालन नही कर सकता। यद्यपि वह अपनी तृष्णाओं को बुद्धि द्वारा विनियमित नही कर सकता क्योकि उसमे विचार शक्ति ही नही है, किन्तु एक सयमी स्वामी के अधीन रह कर उसमे एक प्रकार का सयम आ सकता है क्योकि उसमे इतनी बुद्धि तो है ही जिससे वह श्रेष्ठतर बुद्धि को समझ सके और उसके निर्देशन से लाभ उठा सके। इस प्रकार से दास के सामने श्रेष्ठ धर्म और निकृष्ट कर्म मे से एक का चुनाव नही है बल्कि उसे तो धर्म या धर्म के सर्वथा अभाव मे से एक चीज को चुनना है। साराश यह है कि दासप्रथा दास के लिए एक अच्छी चीज है क्योकि यह उसे अपने स्वामी के धर्मशील जीवन मे भाग लेने का अवसर देती है। पारिवारिक जीवन मे बध कर वह ऊंचा उठ जाता है।

अरस्तु ने दासप्रथा का जो बचाव किया है, उसका एक समुचित मूल्यांकन करने के लिये हमें निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखना चाहिये ; प्रथम : उसका बचाव निष्काम नही है ; यह उसके मूल सिद्धान्तो से निकला हुआ स्वाभाविक परिणाम नही है वरन् उस समय पाई जाने वाली एक सस्था का सप्रयास औचित्य है जिसकी कि सोफिस्टो तथा दूसरों ने कटु आलोचना की थी। अरस्तु ने इस का समर्थन करना न केवल इसलिये आवश्यक समझा कि यह एक मान्यता प्राप्त तथा उपयोगी संस्था थी, वरन् उसकी नागरिकता की धारणा ने भी ऐसा करना आवश्यक बना दिया था। यदि नागरिको को सक्रिय रूप से सार्वजनिक जीवन में भाग लेना है, तो उन्हे कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए कुछ अवकाश अवश्य प्राप्त होना चाहिये और उन में सदाचार की भावना होनी चाहिये ; वे शारीरिक परिश्रम से यथासंभव अधिक से अधिक मुक्त रहने चाहियें। दासो को उसके भौतिक तथा आर्थिक आधार तैयार करने के लिए आवश्यक समझा जाता था जिस पर कि परिवार तथा राज्य की रचना होनी थी। दूसरे : अरस्तु एक दास को कर्म का एक यन्त्र समझता है, उत्पादन का एक यन्त्र नही। अरस्तु के मतानुसार यदि दासो को कर्म के यन्त्र समझने के बजाय उत्पादन के यन्त्र समझा जाता है, अर्थात् यदि उनका प्रयोग स्वामी की सम्पत्ति अथवा शक्ति में वृद्धि करने के लिये किया जाता है, तो दासप्रथा का कोई औचित्य नही रह जाता। एक घरेलू नौकरी जो कि अपने स्वामी को बहुत से शारीरिक परिश्रम से मुक्त करके उसे बौद्धिक विकास का अवसर देता है, एक कर्म का यन्त्र है ; इस के विपरीत एक औद्योगिक श्रमिक, जो कि ऐसा कुछ नही करता बल्कि अपने स्वामी के लिए धन उत्पन्न करता है, एक उत्पादन का यन्त्र है। एक घरेलू नौकर को अपने सदाचारी

स्वामी के सम्पर्क से कुछ नैतिक लाभ प्राप्त होता है ; एक औद्योगिक श्रमिक को इस प्रकार का कोई लाभ प्राप्त नही होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तु औद्योगिक दासता को उचित नही समझता। उस का सिद्धान्त सयमित है। स्वामी का अपने दासो की सेवा का उपभोग केवल एक ही उद्देश्य के लिये उचित है, और वह उद्देश्य सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करना ; उसका अपनी सम्पत्ति तथा शक्ति मे वृद्धि करने के लिये ऐसा करना सर्वथा अनुचित होगा। अपने स्वामी के साथ सम्पर्क से दास को भी लाभ होना चाहिये ; उस का नैतिक उत्थान होना चाहिये। इस प्रसग मे हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि दास प्रथा यूनानी जीवन के लिये एक आधारभूत संस्था थी ; इसने राजनीतिक वर्ग को अवकाश प्रदान किया।

इन समस्त तर्कों के बावजूद, अरस्तु द्वारा किये गये दासप्रथा के बचाव को उचित तथा न्यायपूर्ण नही माना जा सकता है। यह जिस मान्यता के ऊपर आधारित है, वह सर्वथा अमान्य है, अर्थात् यह कि मानव जाति को दो ऐसे वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है जिन में से एक मे तो सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करने की सामर्थ्य है और दूसरे मे नही है। यह कहना कि समाज मे कुछ मनुष्य ऐसे होते है जिन मे सदाचार सामर्थ्य का सर्वथा अभाव होता है, न केवल तथ्यों से मुख मोड़ना है, वरन् इस प्रसादपूर्ण धारणा को भी स्वीकार करना है कि कुछ उद्देश्यो के लिए एक मानव प्राणी को केवल एक पशु समझा जा सकता है। हमारा अनुभव तो केवल यह सिद्ध करता है कि कुछ मनुष्यों में सदाचार की सामर्थ्य कुछ अधिक होती है और दूसरो में कुछ कम होती है। परन्तु इतने से ही काम नही चलेगा ; अरस्तु के अनुसार तो केवल उसी व्यक्ति को एक स्वाभाविक समझा जा सकता है जिस में सदाचार की भावना का सर्वथा अभाव है। ऐसा मानव प्राणी कही नही मिल सकता। और यदि इस प्रकार का कोई व्यक्ति हो भी, तो उसे अपने सदाचारी स्वामी के ससर्ग से कोई लाभ नही हो सकेगा। दास के दृष्टिकोण से तो दासता का कोई औचित्य हो ही नही सकता। दूसरी बात यह है कि यदि हम तर्क के लिये इस बात को मान भी लें कि कुछ व्यक्ति सदाचार की भावना से सर्वथा शून्य होते है, तो हमारे सामने यह कठिनाई आती है कि ऐसे व्यक्तियों का पता कैसे लगाया जाय। इस बात का निर्णय करने के लिये अरस्तु ने कोई निश्चित कसौटी हमारे समक्ष नही रक्खी है यह तो केवल इतना कहता है कि युद्धबंदियों को यदि वे बर्बर हों, यूनानियों को नहीं, दास बना लेना उचित होगा। इसे तो हमारे इस दार्शनिक का केवल जातिक पक्षपात ही कहा जा सकता है। परन्तु यह बहुत से ऐसे व्यक्तियों को, जो कि उन दिनों दास थे, दासता की श्रेणी से बाहर कर देता है।

यद्यपि अरस्तु दासप्रथा को उचित ठहराता है, वह दासों के साथ मानवीय व्यवहार करना चाहता है ; उसके सिद्धान्त मे कोई निर्दयता या कठोरता नही है। वह इसका समर्थन नैतिक आधार पर करता है, आर्थिक आधार पर नही। अपने वसीयत-नामे में उसने यह अनुदेश दिया था कि एक स्त्री तथा तीन पुरुष दासों को मुक्त कर

दिया जाय, और उस के अन्य दास यदि चाहे, तो उन्हे मुक्त कर दिया जाय तथा उन में से किसी को भी बेचा न जाय। इससे सिद्ध होता है कि दासप्रथा के विषय मे कर्म और वचन में कोई भेद न था।

यहाँ पर दो शब्द यदि अफलातून के दासप्रथा विषयक विचारो के बारे मे कह दिये जायें तो अनुचित न होगा। 'रिपब्लिक' में अफलातून ने दासप्रथा का कोई उल्लेख नही किया। उसने न तो इसका समर्थन किया और न खण्डन ही। ऐसा मालूम होता है कि उत्पादक-वर्ग को दासों के रखने की अनुमति वह दे सकता यद्यपि उत्पादक-वर्ग का कोई राजनीतिक कार्य न था। इसलिए अरस्तु ने जिस आधार पर दासप्रथा का समर्थन किया है उस पर, अफलातून नही कर सकता। 'लाज' मे अफलातून ने अवश्य दासप्रथा को मान्यता दी है; वहाँ उसने दासों के साथ उचित बर्ताव के लिए कानून भी बनाये हैं।

सम्पत्ति का स्वरूप तथा प्रयोग—अब हम अरस्तु के सम्पत्ति विषयक विचारो पर आते है जिनका गार्हस्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसके अनुसार सम्पत्ति गार्हस्थ्य के लिये (या राज्य के लिये) आवश्यक जड़ वस्तुओ का सग्रह है। उसकी यह परिभाषा ही हमारी विवेचना का आधार होगी। इस परिभाषा मे दो मुख्य परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि गार्हस्थ्य के जीवन तथा सुख के लिये सम्पत्ति आवश्यक और अपरिहार्य है। मैक्सी के शब्दों मे सम्पत्ति 'जीवन सामग्री के रूप में मनुष्य को प्रकृति की देन है।' उसे भूख शान्त करने के लिए खाना चाहिये, रहने के लिए घर चाहिये और ऋतुओं की निर्दयता से बचने के लिए वस्त्र चाहियें। ये चीजे सम्पत्ति का मुख्य भाग हैं। सम्पत्ति सग्रह का भाव मनुष्य में प्रकृति-प्रदत्त है। दूसरी बात यह है कि कुछ सीमाये हैं। प्रत्येक गार्हस्थ्य में उतनी ही सम्पत्ति होनी चाहिये जितनी उसके समुचित जीवनयापन के लिये आवश्यक हो। आवश्यकता से सम्पत्ति का होना उतना ही बुरा है जितना कि आवश्यकता से कम होना। एक यन्त्र का आकार इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि उससे क्या काम होना है। 'अपना कार्य करने के लिये हथौड़ा भारी होना चाहिये; परन्तु हथौड़ा बनाने वाला उसे अधिक से अधिक भारी तो नही बनाना चाहेगा। जिस कार्य के लिये हथौड़े में वज़न की आवश्यकता है वही कार्य उस वज़न को सीमित भी कर देता है। एक अच्छा लुहार इस सीमा का पालन करेगा।'* सम्पत्ति को एक यन्त्र (Instrument) कह कर अरस्तु इस बात पर ज़ोर देना चाहता है कि सच्ची सम्पत्ति सदा सीमित होनी चाहिये। अधिक से अधिक धन संचय करने की आधुनिक प्रवृत्ति की निस्सन्देह वह घोर भर्त्सना करता है।

---

* '*A hammer must be heavy in order to serve its purpose; but the object of the hammer-maker will not therefore be to make it as heavy as possible. The same function of the hammer which demands weight also sets a limit to the weight required; and the good hammer-maker will observe this limit.*'
—Foster : *op. ci.*, page 143.

से सभी लापरवाही करते है ; सब का काम एक का भी काम नही होना। जिस काम को मनुष्य अपना समझता है उसी को वह अधिक तत्परता, कुशलता तथा उत्साह के साथ करता है। निजी स्वामित्व का भाव एक पारस की पथरी है जिसका स्पर्श पाकर मिट्टी भी सोना हो जाती है। इसके अतिरिक्त सामान्य स्वामित्व मे इस बात की भी भारी आशका है कि सामान्य श्रम द्वारा उत्पन्न किये हुये धन के वितरण के ऊपर सघर्ष उत्पन्न हो जाये और सामान्य स्वामियो मे कलह उठ खडा हो। इस बात का क्या मापदण्ड है कि एक व्यक्ति को कुछ मिला है वह उसके किये हुये परिश्रम के अनुसार है या नही। जो लोग यह समझते है कि उनके परिश्रम का पूरा फल उन्हें नही मिला उनके हृदय में रोष तथा क्षोभ की लहरें उठना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार साम्यवाद उन लोगो की मानसिक एकता नष्ट करके उनमे पारस्परिक कलह उत्पन्न कर सकता है जो साम्यवाद में होने वाले अत्यन्त निकट के सम्पर्क के अभाव में अच्छे पड़ौसियो के रूप मे रह सकते थे। निस्सन्देह यह सत्य है कि निजी सम्पत्ति के ऊपर भी सघर्ष होता है और झगडे उठते हैं, परन्तु उनका कारण सम्पत्ति नही, मनुष्य का लोभ तथा दुष्टता है। इसके विपरीत सम्पत्ति के साम्यवाद के दोष स्वय उस प्रणाली के गर्भ से ही उत्पन्न होते हैं, मानव दुर्बलता के कारण नही।

अरस्तु निजी सम्पत्ति को अच्छे जीवन का एक आवश्यक साधन समझता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये यह नितान्त आवश्यक है। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, उदारता, दानशीलता तथा आतिथ्य जैसे सद्गुणों का पालन बिना निजी सम्पत्ति के नही हो सकता ; निजी सम्पत्ति की एक निश्चित मात्रा के अभाव मे धर्म का पालन नही किया जा सकता। सम्पत्ति मे आनन्द भी कुछ कम नही मिलता ; वह आत्म-प्रेम का ही एक रूप है। जो लोग होटल तथा घर के भोजन में और किराये के तथा अपने निजी मकान मे रहने मे एक अन्तर महसूस करते है वे इस बात को अच्छी तरह समझ सकते है कि निजी सम्पत्ति आत्म-प्रेम का ही एक रूप किस प्रकार है और आत्म-सम्मान तथा व्यक्तित्व की भावना किस प्रकार एक बहुत बडी हद तक निजी सम्पत्ति के ऊपर निर्भर करती है। जो चीज जिस व्यक्ति ने स्वयं बनाई है उसके द्वारा वह आत्म-अनुभूति करता है। निजी सम्पत्ति एक दर्पण है जिसमे व्यक्ति स्वयं अपना प्रतिबिम्ब देखता है। अन्तिम बात यह है कि निजी नागरिक के पास कुछ भी निजी पूजी नही है और जो राज्य को कुछ भी नही दे सकता उसके लिए एक पूर्ण नागरिक जीवन व्यतीत करना असम्भव है ; वह उससे वंचित रहता है।

अरस्तु न केवल निजि सम्पत्ति का समर्थन करता है, बल्कि उसके वितरण में किसी हद तक असमानता को भी आवश्यक और वाञ्छनीय समझता है। असमान धन-वितरण धनाढ्य को दान द्वारा जन-सेवा का अवसर देता है। परन्तु निजी सम्पत्ति तथा उसके वितरण की विषमता में विश्वास करते हुये भी अरस्तु इन दोनों को मर्यादित और सीमित करना चाहता है। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, सच्चे

धन का स्वभाव ही यह है कि वह अपने लक्ष्य के अनुसार मर्यादित हो। लोग धन-प्राप्ति को साधन न समझ कर साध्य समझ बैठते है। इसी प्रकार वह वितरण सबधी विषमताओ को भी सीमित करना चाहता है कि कहीं ऐसा न हो कि अत्यधिक विषमता उत्पन्न हो जाने से वर्ग संघर्ष उठ खडा हो और उससे राज्य की स्थिरता ही खतरे मे पड़ जाये। अरस्तु की यह भी विशेषता है कि वह रीति-रिवाज तथा विधि-निर्माण द्वारा निजी सम्पत्ति की सस्था को सुधारना और उसे पूर्ण बनाना चाहता है। वह आग्रह करता है कि उसका प्रयोग उदारतापूर्वक होना चाहिये। साराश यह कि अरस्तु ऐसी सम्पत्ति का समर्थन करता है जिसका स्वामित्व निजी किन्तु उपभोग सार्वजनिक हो और इस प्रकार वह व्यक्तिवाद तथा साम्यवाद दोनों गुणों को प्राप्त करता है। निजी सम्पत्ति के कुछ आर्थिक और नैतिक लाभ है और सामान्य उपभोग से, यदि वह सही भावना के साथ किया जाये, वह एकात्मीकता उत्पन्न होती है जो अत्यन्त वाछनीय है। निजी सम्पत्ति की वकालत करने मे वह एकदम व्यक्तिवादी है; वास्तव मे व्यक्तिवाद के सहज बुद्धिगम्य तत्त्व को अरस्तु ने जितने अच्छे ढग से व्यक्त किया है उतना अन्य किसी विचारक ने नही। परन्तु इसके साथ वह रिवाज तथा कानून द्वारा सम्पत्ति को विनियंत्रित करना चाहता है, उसके सामान्य उपभोग की व्यवस्था करता है और उसके सग्रह की सीमायें निर्धारित करता है। इस दृष्टिकोण से वह समाजवादी है। व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के दो परस्पर विरोधी ध्रुवो के बीच का मार्ग उसने पकडा है।

पत्नियों के साम्यवाद की अरस्तु द्वारा आलोचना—सम्पत्ति के साम्यवाद के ठुकराने में अरस्तु ने जिस यथार्थवाद, व्यवहार बुद्धि, तथा मानव स्वभाव और सामाजिक जीवन के गहरे ज्ञान का परिचय दिया है वही उसके पत्नियो के साम्यवाद की समालोचना में प्रकट होता है। आइये इसके ऊपर भी विचार करें।

याद रहे कि पत्नियों तथा बच्चों के साम्यवाद को अफलातून स्वय कोई लक्ष्य नही समझता था; वह उसे राज्य की एकता का साधन मानता था। उसका सर्वोच्च ध्येय राज्य की एकता था। उसकी धारणा थी कि राज्य की एकता को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन यह है कि लोगों मे 'तेरे' 'मेरे' की भावना न रहे। सब बच्चों को लोग अपने तथा सब के बच्चे समझें और किसी का अपना निजी घर न हो। अरस्तु अफलातून की इस बात को मानता है कि राज्य की एकता वांछनीय ध्येय है; परन्तु उसका विचार है कि उसकी जो धारणा अफलातून की है वह सही नहीं है। अफलातून राज्य की एकता और परिवार की एकता को एक ही जैसी चीज समझता है जबकि वे दोनो भिन्न-भिन्न चीजें है। राज्य को एक वृहत परिवार कहना भूल है। राज्य विभिन्न इकाइयो का समूह है। यदि अनेकतारहित पूर्ण एकता ही सर्वोच्च ध्येय है तो राज्य सिकुडते-सिकुडते एक परिवार और अन्ततोगत्वा एक व्यक्ति मात्र रह जायेगा। राज्य का ऐक्य अनेक के पृथक् व्यक्तित्व को नही मिटाता बल्कि वह अपने समस्त घटको मे निहित है। अफलातून के विरुद्ध यह आलोचना न्यायसंगत नही जान पड़ती।

अफलातून के राज्य मे कभी व्यक्ति की एकता का आरोप नही किया और न ही उसने कभी समस्त नागरिको को एक ही मांचे मे ढालने का प्रयास किया। वह स्पष्ट रूप से नागरिको को तीन वर्गों मे विभक्त करता है और प्रत्येक वर्ग को अलग-अलग कार्य सौंपता है। इसलिये यह कहना गलत है कि अफलातून के राज्य मे सब एक ही प्रकार के व्यक्ति हैं ; उसके राज्य के नागरिको में भी वैसे ही विभिन्नता है जैसे कि अरस्तु के कल्पना के राज्य मे। उसमे विभिन्न प्रकार के लोग हैं जो विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि राज्य की एकता बनाये रखने के लिये अफलातून अरस्तु की अपेक्षा कही अधिक आतुर है।

परन्तु यहाँ पर हमारा इस बात से अधिक सम्बन्ध नही कि अरस्तु ने अफलातून की राज्य की एकता सम्बन्धी धारणाओं की क्या आलोचना की है ; हमारा सम्बन्ध अरस्तु की उस आलोचना से है जो उसने पत्नियो तथा बालकों के साम्यवाद की की है जिसे अफलातून राज्य की एकता का सबसे बड़ा साधन समझता था। अरस्तु का तर्क यह है कि यदि यह मान भी लिया जाये कि राज्य मे अधिक से अधिक एकता होनी चाहिये तो भी पत्नियों, बच्चो (और सम्पत्ति) का साम्यवाद उसे प्राप्त करने का कोई साधन नही हो सकता। एकता के मार्ग मे यह सहायक की अपेक्षा बाधक ही अधिक होगा। पत्नियो के साम्यवाद का कोई अर्थ है तो उसका तात्पर्य यह है कि एक पुरुष की पत्नी प्रत्येक पुरुष की पत्नी है। इस पर व्यवहार करने से परस्पर द्वेष, विषमता तथा वैमनस्य की भावनाये उत्पन्न होगी। अरस्तु की यह आलोचना उचित नही जान पडती। अफलातून ने कभी ऐसी व्यवस्था की कल्पना नहीं की जिसमे प्रत्येक पुरुष की पत्नी प्रत्येक अन्य पुरुष की पत्नी होगी। अफलातून की व्यवस्था का यह अर्थ लगाना उसके साथ घोर अन्याय है, यह अर्थ नही अनर्थ है। अफलातुन का उद्देश्य केवल यह था कि स्थायी विवाह बन्धन का उन्मूलन कर दिया जाये। अरस्तु ने इस प्रसंग में अफलातून के विरुद्ध जो अन्य आपत्तियाँ उठाई हैं वे उचित तथा तथ्यपूर्ण हैं और उनसे मानव प्रकृति तथा सामाजिक सम्बन्धो के महत्व का गहरा ज्ञान झलकता है।

उसका मुख्य तर्क यह है कि प्रत्येक नागरिक का प्रत्येक वस्तु को एक ही समय में 'मेरी' और 'तेरी' कहने के सूत्र से राज्य मे एकता तथा सामजस्य उत्पन्न नही होगा। उसका यह कहना कि एक अफलातूनी पुत्र की अपेक्षा तो एक सगा चचेरा भाई होना अधिक अच्छा है सारी बात का निष्कर्ष है। अफलातून की योजना के अनुसार प्रत्येक बालक के हजारो पिता और प्रत्येक पुरुष के हजारों पुत्र होंगे। इससे तो 'पिता' और 'पुत्र' शब्द ही निरर्थक हो जाते हैं। वात्सल्य-प्रेम तथा पितृ-भक्ति की महत्ता उनकी एकांगीयता के कारण ही है ; इस एकागीयता के नष्ट हो जाने से ये दोनों निरर्थक हो जायेगे। अफलातूनी राज्य मे एक पुत्र सब का इस तरह से हो सकता है कि या तो सारा समाज उसे अपनाले या वह सचमुच प्रत्येक का पुत्र हो। दूसरा विकल्प निरर्थक है ; कोई भी बच्चा प्रत्येक नागरिक का पुत्र नही हो सकता

और पहिले का कोई मूल्य नही। सारे समाज द्वारा गोद लिये हुए बच्चे की देख-रेख और पालन-पोषण कौन करेगा ? एक सगे पिता के हृदय मे जो स्नेह और प्रेम अपने बालक के लिये होता है वह किसी दूसरे के हृदय में कदापि नही हो सकता। अफलातून राज्य मे बच्चों को सार्वजनिक शिशुगृह और सार्वजनिक पाठशाला में भेजना पड़ेगा ; परन्तु ये सस्थायें अनाथो के लिये चाहे जितनी हितकर हों, घर और माता का स्थान नही ले सकतीं। पारिवारिक जीवन तथा सम्बन्ध का आधार व्यक्तिगत स्नेह तथा व्यक्तिगत अधिकार की भावना है जिनका अफलातून के राज्य मे कोई स्थान नहीं ; इनके क्षेत्र का विस्तार जितना विस्तृत हो जाता है, इनकी तीव्रता उतनी ही कम हो जाती है और अफलातूनी राज्य मे तो इनकी केवल छायामात्र रह जाती है।

अफलातून के ऊपर सम्पत्ति तथा परिवार का मध्यकालीन भय सवार था ; वह उन्हें बहुत से पापो का स्रोत समझता था, इसलिए वह उनको जड से उखाड़ना चाहता था। इसके विपरीत अरस्तु इन्हें मानव स्वभाव का अङ्ग समझता है और उन में बहुत सी अच्छाइयों को देखता है। वह उन्हे केवल इसलिए नष्ट नही करना चाहता कि उनका दुरुपयोग भी हो सकता है और भूतकाल में कभी-कभी उनका दुरुपयोग हुआ भी है। वह उन्हें कायम रखना और उनका सदुपयोग करना चाहता है। प्रकृति ने उन्हें बिना किसी प्रयोजन से ही थोडा बनाया है ? अफलातून की तरह वह युग-युगान्तरो का अनुभव ठुकराने को तय्यार नही ; उसकी दलील यह है कि यदि सम्पत्ति और परिवार के विषय मे अफलातून के विचार सही होते तो उससे पहिले भी कोई न कोई उसका संकेत अवश्य करता। अरस्तु का विचार था कि अफलातून अपने राजनीतिक दर्शन में इतना नवीनतावादी और कल्पनाप्रिय हो उठा कि व्यवहारिक जीवन में वह हमारा पथ-प्रदर्शक नही हो सकता। इन दो महान् दार्शनिकों की प्रवृत्तियों में कितना बुनियादी अन्तर है, इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण इन दोनों का परिवार तथा सम्पत्ति के प्रति दृष्टिकोण का भेद है।

अफलातून की व्यवस्था मे अरस्तु ने कई और कठिनाइयो की ओर भी संकेत किया है ; किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण न होने के कारण हम उन्हें छोड़े देते है। पारिवारिक बन्धनो को समाप्त करने की अफलातून की योजना के विरुद्ध अरस्तु को बुनियादी आपत्ति यह है कि घर स्वाभाविक स्नेह की शाश्वत पाठशाला है। माता-पिता के आलिंगन, चुम्बन से बच्चा बहुत सी बातें सीखता है। परिवार के संकुचित और एकांगी घेरे मे स्नेह तथा त्याग के जो पाठ हम पढते हैं वे आगे चल कर व्यापक सामाजिक जीवन में प्रयोग किये जा सकते है और प्रयोग किये जाते हैं।

सांविधानिक शासन बनाम निरंकुश शासन—अरस्तु की राजनीतिक विचार को मुख्य देन पत्नियो तथा सम्पत्ति के अफलातूनी साम्यवाद को ठुकराना नही है, बल्कि इस बात के ऊपर बल देना है कि एक अच्छे तथा आदर्श राज्य का लक्षण सांविधानिक अर्थात् कानून का शासन है, किसी दार्शनिक राजा का निरंकुश शासन नही जैसा कि अफलातून का विचार है। जैसा कि हम पहिले ही बता चुके है उसको

बड़ी विशेषता इस बात मे है कि उसने राज्य मे कानून को फिर से उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। यह सही है कि स्वयं अफलातून ने भी अपनी अंतिम कृति में कानून के महत्त्व को स्वीकार कर लिया था ; किन्तु वह मानो मानव दुर्बलता के साथ एक रियायत थी, दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता थी , कानून द्वारा शासन को आदर्श शासन उसने कभी नही समझा। परम्परा तथा लिखित कानून से परे और स्वतन्त्र दार्शनिक राजा अन्त तक उसका आदर्श बना रहा। अरस्तु ने इस आदर्श को पूर्ण रूप से ठुकरा दिया ; उसके आदर्श राज्य मे कानून का शासन है। विधानवाद पर जोर देने वालो मे उसका नाम सब से पहिला है। सन्त टॉमस, हूकर, लॉक तथा बर्क के द्वारा यह सिद्धान्त आधुनिक ससार मे पहुँचा है।

अरस्तु ने एक ऐसे दार्शनिक राजा की अफलातूनी धारणा का तिरस्कार क्यों किया जो कि अपनी प्रशिक्षित बुद्धि द्वारा और कानून के बिना ही शासन करता है, और उसने राजनैतिक तथा नैतिक जीवन के लिए कानून को एक दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता नही, वरन् एक नितान्त आवश्यक शर्त क्यो समझा, इसके कई कारण है। उसकी धारणा थी कि यथार्थ मनुष्यो को औचित्य तथा सदाचार की सीमाओं के अन्तर्गत रखने के लिए न केवल प्रारंभ मे दी जाने वाली शिक्षा आवश्यक है, बल्कि जीवन पर्यन्त निरन्तर अनुशासन भी अपेक्षित है। वासना तथा स्वार्थ से उत्प्रेरित एक साधारण मानव प्राणी को सयमित रखने के लिए केवल नैतिक उपदेश ही पर्याप्त नही हो सकता ; इसके लिए कानून की बाध्यकारी सत्ता एक दम आवश्यक है। मनुष्य के भीतर जो पशु छिपा बैठा है, उसे केवल नैतिक उपदेश से नियंत्रित नही किया जा सकता ; उसे केवल दण्ड के भय से ही नियंत्रित किया जा सकता है। इसलिए, समाज मे अनुशासन बनाये रखने के लिए अच्छे कानून सर्वथा आवश्यक हैं ; उनके न होने पर समाज विघटित हो जायेगा। यदि मनुष्य नैतिक उत्थान की ओर स्वभाव से ही अत्यधिक आकृष्ट होते, तो उन्हें सन्मार्ग पर रखने के लिए दण्ड के भय की कोई आवश्यकता न होती। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि अपराध तथा अन्याय को रोकने के लिए और शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए कानून एक शुभ तथा सदाचार पूर्ण जीवन की आवश्यक शर्तें हैं ; वे मनुष्य को सदाचार की शिक्षा देते हैं। कानूनों मे समाज का सामूहिक प्रज्ञान, उसकी शुभा-शुभ, तथा न्याय और अन्याय की धारणायें निहित होती हैं। कानून के भय को प्रज्ञान का प्रारंभ कहा जाता है। इस प्रकार, अरस्तु कानून को नागरिक तथा नैतिक जीवन का एक अभिन्न अंग मानता है। वह इसे निर्लिप्त विवेक प्रज्ञा (Passionless Reason) कह कर पुकारता है। मनुष्य को कानून के रूप मे विवेक की वाणी सुनने के लिए बाध्य किया जा सकता है क्योकि इसके पीछे बल होता है।

कदाचित् यह कहा जा सकता है कि अफलातून की धारणा के दार्शनिक-राजा के सदृश एक निरंकुश शासक कानून की सहायता के बिना ही नागरिकों को अनुशासित कर सकता है। इस का उत्तर अरस्तु यह देगा कि राजा को न्याय का सरक्षक होना

चाहिये, और उसे न्यायपूर्ण कानून के एक यन्त्र के रूप मे कार्य करना चाहिए। अतः एक अच्छे शासन के लिए न्याय-रक्षक की अपेक्षा कानून अधिक महत्वपूर्ण है। इस के अतिरिक्त, उसका एक तर्क यह है कि कानून को भ्रष्ट करने की अपेक्षा एक राजा को भ्रष्ट करना कही अधिक सुगम है। अतः सर्वोत्तम राजा की अपेक्षा सर्वोत्तम कानून के द्वारा शासित होना कही अधिक अच्छा है। कानून को इतनी सुगमता से भ्रष्ट इसलिए नहीं किया जा सकता क्योकि वह वासना रहित होता है; क्योकि वह निर्लिप्त विवेक होता है। इसलिए यदि हम चाहते है कि प्रशासन पर किसी भी मानवीय विकार का प्रभाव न पड़े तो हमें कानून को सर्वोपरि और शासक को उसके अधीन बनाना पड़ेगा। "कानून की निर्लिप्त शक्ति मजिस्ट्रेट का स्थान तो नही ले सकती; किन्तु वह मजिस्ट्रेट के अधिकार को एक नैतिक गुण अवश्य प्रदान करती है जो उसमें अन्यथा नही हो सकता।"* अरस्तु कानून को मानव को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक समझता है। इसके हृदय में यह विचार अफलातून की इस बात से आया कि 'एक मनुष्य, यदि वह पूर्ण हो तो सर्वश्रेष्ठ प्राणी है; किन्तु यदि वह कानून और न्याय रहित है तो वह निकृष्टतम हो उठता है।' कानून के अधीन होने से मनुष्य पूर्ण हो जाता है क्योकि कानून युगों के संचित अनुभव तथा बुद्धिमत्ता का साकार रूप है। सामाजिक बुद्धिमत्ता का बढता हुआ संग्रह कानून और परम्परा मे निहित है।'† अन्तिम बात यह कि कानून विहित शासन निरंकुश शासन की अपेक्षा इसलिये भी श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें प्रजा के सम्मान की जो रक्षा हो सकती है वह निरंकुश शासन में कदापि नहीं हो सकती। वैधानिक शासक का शासन शासित की इच्छा के ऊपर निर्भर करता है, शक्ति के ऊपर नही। अफलातून द्वारा 'रिपब्लिक' में अंकित आदर्श राज्य तथा 'लॉज' में निरूपित उपादर्श राज्य की आलोचनात्मक समीक्षा करने के बाद अरस्तु फेलीज (Phaleas) तथा हिपोडेमस (Hippodamus) के आदर्श राज्यों को लेता है और फिर उस समय के सर्वश्रेष्ठ राज्य स्पार्टा, क्रीट तथा कार्थेज का वर्णन करता है। इन सब का वर्णन यहाँ करना आवश्यक नही। अब हम 'पॉलिटिक्स' के तीसरे प्रकरण पर आते है जिसमें अरस्तु ने नागरिक जीवन के कुछ केन्द्रीय तथा बुनियादी सिद्धान्तों का निरूपण किया है, जैसे कि नागरिकता का स्वरूप तथा अर्थ, विधानो का वर्गीकरण, सरकार के रूप।

नागरिकता (Citizenship)—प्रथम प्रकरण में अरस्तु ने राज्य को समुदायों का समुदाय और परिवारों तथा ग्रामो का संघ बताया है, किन्तु तीसरे प्रकरण मे उसके विचारो में कुछ परिवर्तन हो गया है और उसमे उसने राज्य को एक कुनोनिया (Koinonia) अर्थात् स्वतन्त्र मनुष्यों का एक समुदाय और उसके संविधान को उसके

* "The passionless authority of law does not take the place of a magistrate, but it gives to the magistrate's authority a moral quality which it could not otherwise have"

—Sabine: *History of Political Theory*, page 94—5.

† "The growing stock of social intelligence is embedded in law and custom." *Ibid*, page 95.

निवासियों की एक निश्चित व्यवस्था बताया है। पहिली परिभाषा में राज्य के निर्माणक अग अन्य समुदाय, ग्राम तथा परिवार है, परन्तु दूसरी परिभाषा में व्यक्ति है। इस लिये यह प्रश्न उठता है : नागरिक कौन है और इस शब्द का क्या अर्थ है ?

अरस्तु का कहना है कि एक राज्य में रहने भर में ही कोई व्यक्ति उसका नागरिक नही बन जाता, विदेशी और दास भी नागरिकों के साथ-साथ एक राज्य में रहते हैं किन्तु वे नागरिक नही समझे जाते। और न देश में सरक्षा तथा न्यायालय द्वारा न्याय प्राप्त करने के कानूनी अधिकारो के उपभोग से ही कोई व्यक्ति नागरिक बन सकता है क्योंकि ये अधिकार भी किसी राज्य मे रहने वाले विदेशियों को भी प्राप्त होते है। और यदि हम यह कहे कि नागरिक वह व्यक्ति है जिसके माता-पिता नागरिक हैं तो भी यह समस्या हल नही होती क्योकि इसमे यह प्रश्न केवल एक कदम और पीछे हट जाता है, इसका समाधान नही हो जाता और यह प्रश्न उठ खड़ा होता है : वह क्या चीज है जो माता-पिता को नागरिक बनाती है। साराश यह कि नागरिकता की परिभाषा निवास-स्थान, कानूनी अधिकार, अथवा जन्म के आधार पर नही की जा सकती ; इसका आधार कर्म होना चाहिये।

अरस्तु के अनुसार जो बात एक नागरिक और अनागरिक में स्पष्ट भेद करती है वह है नागरिक का न्यायिक (Judicial) शक्ति तथा सार्वजनिक पदों में भाग लेना। एक न्यायालय मे न्यायाधीश अथवा जूरर (Juror) के रूप मे कार्य करके एक व्यक्ति राज्य के न्यायिक कार्यों मे भाग लेता है। जनप्रिय सभा की सदस्यता वह सार्वजनिक पद है जिसके प्राप्त होने मे एक व्यक्ति नागरिक हो जाता है। इस परिभाषा को अच्छी तरह से समझने के लिये हमें याद रखना चाहिये कि ऐथन्स में न्याय-प्रशासन आधुनिक राज्यो मे पाई जाने वाली न्याय-प्रणाली से कही भिन्न था। वहाँ थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिये न्यायाधीशो और जूरर्स को नम्बरवार चुना जाता था और प्रत्येक नागरिक को यह पद प्राप्त हो सकता था। जनप्रिय सभा समस्त नागरिकों को मिलाकर बनती थी जो कानून बनाने तथा नीति निर्माण करने के लिए एक वर्ष मे कम से कम एक बार अवश्य समवेत होती थी। ऐथन्स मे वह सर्वोच्च सत्ता होती थी। सभा के सदस्य के नाते प्रत्येक ऐथन्स निवासी राजसत्ता अथवा सर्वोच्च शक्ति में भाग लेता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तु के लिए नागरिकता का अर्थ केवल विधायको के चुनाव और कार्य-पालिका की शक्ति में भाग लेने तक ही सीमित न था जैसा आज वह हमारे लिये है बल्कि वह नीति-निर्धारण तथा न्यायिक कार्यो मे भाग लेना था जिनमें राजसत्ता की अभिव्यजना होती है। नागरिकता राजसत्ता के उपभोग मे भाग लेना है।

इस परिभाषा से भी कठिनाई पूर्णतया समाप्त नही हो जाती। एक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न का उत्तर देना अभी रह जाता है और वह यह है : सर्वोच्च नीति निधारक तथा न्यायिक कार्यो मे किसे भाग लेने का अधिकार होना चाहिये ? विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाओ में इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं। वर्गतन्त्रो में यह

अधिकार कुछ मुट्ठीभर व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है ; जनतन्त्र में अधिक व्यक्तियों को यह अधिकार दिया जाता है किन्तु समस्त नागरिकों को नहीं। यूनान में किसी भी राज्य में विदेशियों, दासों, स्त्रियों तथा बच्चों को नागरिकता के अधिकार प्रदान नहीं किये गये। यूनानी नागरिकता आधुनिक नागरिकता की अपेक्षा कहीं संकुचित थी। अरस्तु ने हाथ से काम करने वाले तथा शारीरिक सेवा करने वाले श्रमिकों को भी नागरिकता के क्षेत्र से बाहर कर दिया है। अरस्तु ने इन विभिन्न वर्गों को नागरिकता की परिधि से क्यों बाहर रक्खा और व्यवहारत उसे परिवार के मुखिया तक ही क्यों सीमित कर दिया ? इस प्रश्न के उत्तर से अरस्तु की नागरिकता की धारणा पर बड़ा भारी प्रकाश पड़ता है।

अरस्तु का कहना है कि नीति निर्धारक तथा न्यायिक कार्यों में भाग लेने के लिए एक ऊंचे नैतिक और बौद्धिक स्तर की आवश्यकता है ; इसे हम व्यवहारिक बुद्धि या व्यवहार धर्म कह सकते है। जाहिर है कि यह गुण राज्य के प्रत्येक निवासी में नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त इसे प्राप्त करने के लिए अवकाश की आवश्यकता है। स्त्रियों, बच्चों, दासों, मिस्त्रियों तथा हाथ से कार्य करने वाले मजदूरों में यह गुण नहीं पाया जाता। प्राचीन यूनान मे अन्तिम वर्गों को हीन और पराधीन समझा जाता था ; उनकी स्थिति हमारे देश के शूद्रों से मिलती जुलती थी। ये और विदेशी यूनान के राज्यों में मताधिकार से वंचित थे। अरस्तु ने चुपचाप इस तथ्य को स्वीकार कर लिया और उसे अपने सिद्धान्त का आधार बना लिया। आधुनिक काल से, जिसमें प्रत्येक वयस्क को जाति-पांति, ऊंच-नीच, लिंग, अमीर गरीब के भेद के बिना मताधिकार प्राप्त है, वह कितना भिन्न था। अफलातून और अरस्तु ने श्रमिकों को नागरिकता से वंचित करके उसे केवल समाज के उच्च वर्गों तक ही सीमित रक्खा और पूर्वोक्त को उन्होंने बलिदान कर दिया ताकि उत्तरोक्त अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। इस प्रकार उन्होंने समाज के बड़े भाग को नागरिकता से प्राप्त होने वाले उन्नति के अवसरों से वंचित कर दिया। आधुनिक राज्यों में प्रत्येक नागरिक को नागरिकता का अधिकार है और इसलिये प्रत्येक को उन्नति का अवसर मिलता है। 'बहुजनसुलभ नागरिकता का नीचा आदर्श अफलातून और अरस्तु के उस भव्य आदर्श से कहीं अधिक मूल्यवान है जो मुट्ठी भर लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।'*

अफलातून और अरस्तु दोनों ने नागरिकता के आदर्श को इतना ऊंचा इसलिए रक्खा क्योंकि वे शासक बनने के लिये धर्म की श्रेष्ठता को सब से अधिक आवश्यक समझते थे। नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए अवकाश की आवश्यकता है और

* "A lower ideal of citizenship, purchasable at a price which the many can afford to pay, is perhaps a more precious thing than the rare riches of the Platonic and Aristotelian ideal"

—Barker : *The Politics of Aristotle*, page 11.

शारीरिक श्रम या सेवा करने वाले वर्गों को अवकाश नहीं मिलता, इसलिए इन दोनों दार्शनिकों ने इन वर्गों को नागरिकता से वंचित कर दिया। यहाँ यह देखना आवश्यक है कि अरस्तु *का अवकाश (Leisure) से क्या अभिप्राय था।*

आजकल अवकाश का अर्थ हम उस समय से समझते हैं जिसमें हम मनोरंजन करने के लिए स्वतन्त्र हो, यह वह समय है जिसमे साधारण दिनचर्या को रोक कर छुट्टी मनाई जाती है। पाठशालाओ मे विद्यार्थियो तथा शिक्षकों को अवकाश के क्षण प्राप्त होते हैं; कार्यालयो तथा न्यायालयों मे भोजन तथा विश्राम के लिये मध्यान्तर या अवकाश होता है। अरस्तु का अर्थ अवकाश से यह नहीं था। इसके लिए अवकाश आराम नहीं वह कार्य का ही एक रूप था। उसने क्रियाओं के दो भेद किये हैं। कुछ कार्य दूसरे कार्यों के साधनमात्र होते है, जैसे कि एक खेत को जोतना, कपड़े सीना, सोने चाँदी की खान मे कार्य करना। ऐसे कार्य को लक्ष्य रूप मे कोई नहीं करता। ऐसे कार्यों को लाभदायक या आवश्यक समझा जा सकता है। इसके विपरीत कुछ कार्य ऐसे होते है जिन्हे मनुष्य केवल उन्हे करने के लिये ही करता है, अर्थात् उन्हे लक्ष्य मानता है जैसे कि ज्ञानप्राप्ति, काव्य-रचना, चित्रकारी तथा नृत्य। जीवन के *सर्वोत्कृष्ट मूल्यों सत्य, सुन्दर तथा शिवं की प्राप्ति का प्रयत्न करना भी इसी प्रकार* का कार्य है। अरस्तु ऐसे कार्य को अवकाश कहता था। "जिन कार्यो को करने के लिए मनुष्य अपनी आर्थिक तथा भौतिक आवश्यकताओं के कारण विवश है उनके अतिरिक्त लगभग सभी क्रियाएं अवकाश के अन्तर्गत आती है। शासन करने की राजनीतिक क्रिया, सार्वजनिक सेवा; युद्ध करना जिसमें साहस के गुण का प्रस्फुटन होता है; अपने साथी नागरिको के साथ सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह करना जिसके लिये संयम, उदारता, विशालहृदयता तथा साहचर्य के गुण आवश्यक है; खेल-कूद, नाट्य-कला, और धार्मिक कृत्यों मे भाग लेना अन्त मे विज्ञान तथा दर्शन को प्राप्त *करने का प्रयत्न करना इसमे सम्मिलित है।"** जाहिर है कि *जिस व्यक्ति को अपना* सारा समय और सारी शक्ति अपनी आजीविका कमाने मे लगानी पड़ती है उसे उपरोक्त कार्य करने का अवसर नही मिल सकता और इसीलिये अरस्तु ऐसे व्यक्तियों को शासन के अयोग्य समझता है।

हमें अरस्तु की बात समझने मे कठिनाई इसलिए होती है क्योंकि हम अवकाश शब्द का भिन्न अर्थ लगाते हैं। हम अपने अवकाश का कोई गम्भीर प्रयोग नही करते; वह हमारे लिए मनोरंजन है, कार्य का ही एक रूप नहीं जैसा कि अरस्तु के लिए है।

सिद्धान्त में तो अफलातून और अरस्तु की नागरिकता सम्बन्धी धारणाओं मे काफी अन्तर दिखाई पड़ता है; परन्तु व्यवहार मे लगभग कोई अन्तर नहीं है। अफलातूनी राज्य में अभिभावक तथा शासक-वर्गो की भांति उत्पादक-वर्ग के लोग भी नागरिक हैं; वे राज्य का एक अभिन्न अङ्ग है। परन्तु अरस्तु हाथ से श्रम करने वालों को

* Foster: *op. cit*, page 174.

निश्चित रूप से नागरिकों की श्रेणी से अलग रखता है। यहाँ तक अफलातून अरस्तु से अधिक प्रगतिशील दिखाई पड़ता है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में अफलातून भी उन्हें शासन कार्य में कोई भाग लेने से अलग रखता है, वह और अरस्तु, ये दोनों ही विचारक उन्हें सेवाजीवी-वर्ग समझते हैं जिनका कर्त्तव्य उच्च वर्गों को अवकाश देना है। ये वे लोग हैं जिनके ऊपर उच्च वर्ग के लोग निर्भर करते हैं; किन्तु जिनके ऊपर वे शासन करते हैं। साराश यह कि वे राज्य के लिए जीवित हैं; किन्तु वे राज्य के अभिन्न अङ्ग नहीं हैं, अर्थात् राज्य में उनका कोई भाग नहीं है। इस प्रसग में यह बात याद रखने की है कि शिल्पकारों को राज्य कार्य से अलग रखना अरस्तु के जैविक सिद्धान्त से ताल नहीं खाता। और नगर राज्य में जनसख्या छोटी होने के कारण प्रत्येक वर्ग के लिए शासन कार्य में भाग लेना सम्भव था और यह नगर का एक मुख्य लाभ था; किन्तु शिल्पकला, उद्योग, व्यापार में लगे हुए वर्गों को राजनीतिक कार्यों से अलग रखना उस लाभ को नष्ट करना है।

संविधान का अर्थ—यह पहिले ही कहा जा चुका है कि अरस्तु के अनुसार नागरिकता का अर्थ राजसत्ता में भाग लेना अर्थात् राज्य के नीति-निर्धारक और न्यायिक कार्यों में भाग लेना है। इन कार्यों में भाग लेने का अधिकार किसे मिलना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर किसी भी राज्य का संविधान देता है जो कि प्रत्येक राज्य का भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए अरस्तु सविधान की विवेचना करता है।

अरस्तु ने संविधान की परिभाषा यह दी है कि सविधान राज्य के पदों की वह व्यवस्था है जिसमें यह निर्धारित किया जाता है कि राज्य का कौन सा पद विशेष कर, सर्वोच्च पद किसे मिले। इसका अर्थ यह हुआ कि सविधान ही राज्य को बनाता है और शासक-वर्ग का स्वरूप संविधान के स्वरूप को निर्धारित करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार राज्य और सविधान एक ही बात है; यदि किसी राज्य के संविधान में परिवर्तन हो जाये तो उस राज्य में परिवर्तन हो जाता है। इसमें यह बात भी निहित है कि राज्य और दल एक बात है। यदि कोई नया दल शक्ति प्राप्त कर लेता है और संविधान को बदल देता है, तो राज्य भी बदल जाता है। राज्य और संविधान में ऐसी अनुरूपता देखकर आधुनिक पाठक चक्कर में पड़ जाता है। यह कहना कि किसी राज्य के सविधान में परिवर्तन होने से उस राज्य में भी परिवर्तन हो जाता है एकदम गलत दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि उसकी दृष्टि में सविधान का उतना व्यापक महत्त्व नहीं है जितना कि अरस्तु उसे देता है। अरस्तु के लिए संविधान राज्य का एक अंग, उसके ढाँचे का एक कानूनी आधारमात्र नहीं है; वह स्वयं राज्य है, वह सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यजना है। यह वह ध्येय है जिसकी प्राप्ति के लिए नागरिकों ने अपने आपको एक राज्य के रूप में संगठित किया है। यूनानियों के लिए संविधान में परिवर्तन हो जाने का अर्थ केवल पदव्यवस्था में हेर-फेर हो जाना नहीं था बल्कि वह जनता के नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्यों का पलट जाना था; वह एक तरह की क्रान्ति थी। रूस तथा चीन में राज्यशक्ति

साम्यवादियों के हाथ में आ जाने से जो कुछ हुआ वह अरस्तु के अर्थ का जीता जागता उदाहरण है। इन देशों में संविधान परिवर्तन का अर्थ राज्य परिवर्तन हुआ।

अरस्तु के इस कथन को कि संविधान में परिवर्तन का अर्थ राज्य परिवर्तन है हमें यूनान के इतिहास के प्रकाश में परखना चाहिये। लगभग प्रत्येक नगर राज्य में वर्गतंत्रियों तथा जनतंत्रियों में एक कटु संघर्ष रहता था; उनमें से एक दल की विजय का अर्थ केवल यह नहीं होता था कि उसके नेता सरकार बनालें बल्कि उससे इस बात का निर्णय होता था कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में रहे या सर्व-साधारण के हाथ में। जनतंत्रियों की विजय का अर्थ था कि राज्य में प्रभुता एक सामाजिक-वर्ग की होगी और वर्ग-तंत्रियों की विजय का मतलब था कि एक दूसरा वर्ग राज्य में प्रधान होगा। एक आधुनिक राज्य में संविधान दलगत संघर्ष से ऊपर होता है; यूनानियों के लिए यह संघर्ष बिन्दु था। हम अरस्तु के अभिप्राय को अधिक अच्छी तरह से समझ सकेंगे यदि हम यह याद रक्खें कि उसके लिए राजनीति में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति जिस सामाजिक वर्ग के हाथ में है उसका स्वरूप क्या है।

संविधानों का वर्गीकरण—अब अरस्तु संविधानों के वर्गीकरण पर आता है और उनके लक्ष्य के अनुसार उन्हें मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त करता है। राज्य का सच्चा ध्येय एक शुभ जीवन की प्राप्ति है; समस्त समाज के लिए भी और अलग-अलग प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी। यही वह सामान्य हित है जो समाज के समस्त सदस्यों को एक सूत्र में ग्रथित करता है। जो शक्ति इस हित की प्राप्ति के लिए प्रयोग की जाती है वही न्यायोचित शक्ति है। जिस संविधान या सरकार का ध्येय समाज के इस सामान्य हित की प्राप्ति है वह अच्छी है और जिसका उद्देश्य केवल शासकों की हित पूर्ति है वह भ्रष्ट है। इस प्रकार सरकार के उद्देश्य के आधार पर संविधानों को साधारण तथा भ्रष्ट, दो रूपों में विभक्त किया गया है। भ्रष्ट संविधान आदर्श से गिरे हुए है; उनमें राज्य के स्वाभाविक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती। परन्तु यथार्थ राज्यों का वर्णन करते हुए अरस्तु इस परिणाम पर पहुँचता है कि कोई भी वास्तविक राज्य पूर्ण रूप में सामान्य हित को प्राप्त नहीं कर पाता। प्रत्येक संविधान का अच्छा या बुरा होना सापेक्षिक है। फिर भी आदर्श से तनिक हटते ही हम किसी संविधान को भ्रष्ट नहीं कह सकते जब तक कि शासक-वर्ग द्वारा समाज का शोषण उसका मुख्य ध्येय न हो जाये। इसलिए यह वर्गीकरण व्यर्थ नहीं है। यद्यपि यह वर्गीकरण अफलातून के वर्गीकरण [(१) बुद्धि द्वारा शासन और इसीलिये लचकदार, और (२) कानून द्वारा शासन और इसीलिए जटिल है] से भिन्न है, फिर अरस्तु के ऊपर उसका प्रभाव बहुत बड़ा है। अच्छे बुरे संविधान के अन्तर तथा विभिन्न प्रकार के राज्यों में न्याय के विभिन्न स्वरूपों की अरस्तु द्वारा विवेचना से यह स्पष्ट है कि वह अफलातून का कितना ऋणी है।

साधारण तथा भ्रष्ट, इन दो मुख्य वर्गों के अन्तर्गत यूनानी परम्परा के अनुसार शासन-प्रणालियों को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है। इस वर्गीकरण का आधार शासक-वर्ग की संख्या है। साधारण अथवा अच्छी सरकार में शासन सत्ता यदि एक व्यक्ति के हाथ मे है तो वह राजतन्त्र है, यदि कुछ व्यक्तियो के हाथ मे है तो वह कुलीनतन्त्र है और यदि बहुतों के हाथ मे है तो वह पोलिटी है। एक भ्रष्ट सरकार मे ये तीन रूप क्रमशः आततायीयन्त्र, वर्गतन्त्र तथा जनतन्त्र हो जाते हैं।

यूनान मे इस प्रचलित वर्गीकरण को तो अरस्तु ने स्वीकार किया है, परन्तु उसके संख्यावाचक आधार को वह नही मानता। उसका कहना है कि संविधानो और सरकारो का वर्गीकरण का आधार शासक-वर्ग का चरित्र होना चाहिए न कि केवल उसकी संख्या। "वर्गतन्त्रो में शासन सत्ता का कुछ थोड़े से हाथो मे होना और जनतन्त्रों में बहुत से हाथो में आना इस बात का परिणाम है कि सारे संसार मे अमीर थोड़े और गरीब अधिक होते है। जनतन्त्र और वर्गतन्त्र की वास्तविक विशेषतायें गरीबी और अमीरी है।"* साराश यह है कि अरस्तु के अनुसार वर्गतन्त्र अमीर का शासन है जनतन्त्र गरीब का। संख्यावाचक भेद केवल चिन्ह है, मूल नही। शासक-वर्ग के स्वरूप के दृष्टिकोण से जनतन्त्र मे शासन मध्यवर्ग द्वारा होता है। इस प्रकार जनसंख्या का अमीर, गरीब तथा मध्यवर्ग में विभाजन अरस्तु के संविधानो तथा सरकारो के वर्गीकरण का आधार है। सामान्यतया आधुनिक लेखक अरस्तु के इस विचार को ठुकराते है कि जनतन्त्र गरीबो का शासन है जिनकी संख्या अधिक होती है। जनता समृद्धिशाली हो सकती है जैसा कि अमरीका तथा आस्ट्रेलिया में है। इसकी विशेषता इस बात मे है कि इसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को जिसमें कोई और अयोग्यता न हो सरकार के कार्य में बराबर भाग लेने का अधिकार होता है। इसमें प्रत्येक गिनती मे एक गिना जाता है और कोई भी एक से अधिक नही। मैकल्वेन (Mcllwain) के अनुसार अरस्तु की यह धारणा कि वर्गतंत्र और जनतन्त्र का अन्तर गुणात्मक है, केवल संख्यात्मक या मात्रात्मक नही, उसे अफलातून से विरासत मे मिली है।

शक्ति के लिए परस्पर विरोधी दावे--राज्यो मे अन्तर का आधार शासक-वर्ग का स्वरूप ही नही होता, बल्कि प्रत्येक राज्य मे पदों तथा अधिकारों के वितरण का सिद्धान्त भी होता है। अरस्तु इसे वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice) का सिद्धान्त कहकर पुकारता है। एक सामान्य तथा अमूर्त रूप मे इस सिद्धान्त को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है। 'क', 'ख', तथा 'ग' अपनी व्यक्तिगत सेवा तथा व्यक्तिगत गुण के द्वारा राज्य के कल्याण मे अपना योगदान देते हैं। इसलिए

* "The small or large number of the class supreme in a state is only an accident of oligarchies on the one hand, and democracies on the other, owing to the fact that the rich are few and the poor numerous all the world over. The really distinctive characteristics of democracy and oligarchy are r wealth."
—*Politics*, Book III, Ch

राज्य की ओर से उन्हे दिया जाने वाला पद तथा सम्मान भी उनके योगदान के अनुपात में होना चाहिए। यदि उनका व्यक्तिगत योगदान समान है, तो उन्हे समान मात्रा मे पुरस्कार मिलना चाहिये ; और यदि उनका योगदान असमान है, तो उनका पुरस्कार भी असमान ही होना चाहिये। 'क' के योगदान तथा पुरस्कार के बीच अनुपात वही होना चाहिये जो कि 'ख' के योगदान तथा पुरस्कार के बीच है। उक्त वितरणात्मक सिद्धान्त के औचित्य को सामान्य रूप से तो सभी लोग स्वीकार कर लेंगे, परन्तु व्यक्तिगत गुण तथा राज्य के कल्याण में योगदान के मापदण्ड के प्रश्न पर अवश्य ही मतभेद उत्पन्न होगा। कुलीनतन्त्रवादियो की धारणा है कि सदाचारी व्यक्ति अपने सदाचार द्वारा राज्य की भलाई में सबसे अधिक योग देते है इसलिए पद तथा शक्ति सदाचारी व्यक्तियो को ही मिलनी चाहिये। इसके विपरीत धनिकतंत्रवादियो (Oligarchs) का दावा यह है कि व्यक्ति ही राज्य को सबसे अधिक देन देते है और इसलिए पदो तथा शक्ति का अधिकतम भाग उन्हें ही दिया जाना चाहिए। लोकतंत्रवादी स्वतन्त्र जन्म के दावे को सदाचार तथा धन के दावे से ऊँचा रखते है और इसलिए स्वतन्त्र जन्म अथवा समानता को वितरणात्मक न्याय का सिद्धात मानते हैं। न्याय के इस सिद्धात के आधार पर किसी सरकार को उत्कृष्ट या निष्कृष्ट समझा जा सकता है। सर्वोच्च सदाचार का पालन करने के कारण राजतत्र सर्वोत्कृष्ट है ; अपने उच्च सदाचार के कारण कुलीनतत्र का नम्बर दूसरा है। अपने साधारण अथवा सैनिक सदाचार के कारण 'पोलिटी' (Polity) का तीसरा नम्बर है। भ्रष्ट संविधानो मे सामाजिक समता के सिद्धांत पर आधारित जनतत्र सर्वश्रेष्ठ है, और जहाँ तक उसका आधार धन है धनिक तंत्र का नम्बर दूसरा है ; और आततायी-तन्त्र (Tyranny) निकृष्टतम है क्योकि उसका आधार छल, कपट और धोखा है।

अरस्तु के आविर्भाव तक लगभग सभी यूनानी नगर-राज्यो ने एक न एक प्रकार का जनतंत्र या वर्गतत्र अपना लिया था और जनतंत्रवादी तथा वर्गतत्रवादी अपने-अपने न्याय के सिद्धातों का समर्थन करते थे, इसलिए सरकार के इन दो रूपो की अरस्तु द्वारा विवेचना शक्ति के लिए परस्पर विरोधी दावो के गुण-दोषों का एक तुलनात्मक अध्ययन है।

कुलीनतत्रवादी, जनतंत्रवादी तथा धनतत्रवादी, सभी लोग इस बात से एकमत है कि सविधान न्याय के ऊपर आधारित होना चाहिये ; परन्तु उन सबकी न्याय की धारणायें अलग-अलग हैं। वे सब इस बात को भी मानते हैं कि न्याय का अर्थ समान व्यक्तियों के लिए समता और असमान के लिए असमता है। धनतंत्रवादियो का विचार है कि क्योकि वे धन मे दूसरों से श्रेष्ठ हैं, इसलिए वे सभी दूसरी बातो मे दूसरो मे श्रेष्ठ हैं। इसीलिए वे दावा करते है कि राज्य मे उनका भाग उनके सम्पत्ति के अनुपात से होना चाहिए। इसके विपरीत अरस्तु का कहना है कि धर्म वे महज धन का शक्ति पर निरपेक्ष दावा नही है ; राज्य कोई व्यापार कम्पनी या धन की साझेदारी नही है। परन्तु सम्पत्ति के दावे को वह सर्वथा निर्मूल नही समझता ;

सम्पत्ति के कुछ नैतिक परिणाम होते हैं जिनकी अवहेलना नही की जा सकती। सम्पत्ति सद्शिक्षा, सद्गति तथा अवकाश को देने वाली है और इन चीजों का राजनीतिक शक्ति के ऊपर काफी बडा दावा है।

इसके विपरीत जनतन्त्रवादी स्वतन्त्र जन्म तथा समानता के आधार पर अपना दावा जताते है। उनका तर्क यह है कि स्वतन्त्र नागरिक होने के नाते वे सब समान है, इसलिये उन सबके राजनीतिक अधिकार भी समान होने चाहियें। उनकी दलील यह है कि न्याय समानता मे निहित है और समानता का अर्थ यह है कि प्रत्येक को एक गिना जाये और किसी को भी एक से अधिक न गिना जाये अर्थात् जहां तक शासन कार्य का सम्बन्ध है उसमें प्रत्येक व्यक्ति का समान भाग होना चाहिये चाहे वह अमीर हो चाहे गरीब। धन की तरह स्वतन्त्र जन्म के अधिकार को भी अरस्तु निरपेक्ष नही समझता; परन्तु पूर्ण रूप से उसे ठुकराता भी नही। शासन की नीति के राजनीतिक परिणामो को जाचने के लिए जनता के मत को महत्व मिलना चाहिये। एक संतुलित यथार्थवादी होने के नाते अरस्तु जनमत की शक्ति का उचित सम्मान करता है। इस प्रकार अरस्तु शासन पद तथा अधिकार के वितरण के आधार के रूप मे धन तथा स्वतन्त्र जन्म के मूल्य को न तो पूर्णतया स्वीकार करता है और न पूर्णतया उससे इंकार करता है।

उसका कथन है कि राज्य के पदो को राज्य के प्रति की हुई सेवाओ का पुरस्कार नहीं समझना चाहिये; वे तो राज्य के ध्येय की पूर्ति तथा उसके कार्यों में योग देने के लिए साधनमात्र है। राज्य एक शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए बनाया गया समुदाय है; इसलिये जो लोग शुभ जीवन में अधिक योग देते हैं और जो नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठतर हैं उनका राजनैतिक शक्ति मे उन लोगों की अपेक्षा अधिक भाग होना चाहिये जो अधिक धनाढ्य है या जो स्वतन्त्र जन्म के कारण समान है किन्तु जो धर्म की दृष्टि से हीन है। सारांश यह कि अरस्तु धन तथा स्वतन्त्र जन्म को शक्ति का सापेक्षिक अधिकार तो देता है किन्तु उनके निरपेक्ष अधिकार को स्वीकार नहीं करता। शासन करने का निरपेक्ष अधिकार तो केवल धर्म का है।

धर्म द्वारा शासन के सिद्धांत से समस्या का हल नही हो पाता। यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि राज्य की सार्वभौम शक्ति किस व्यक्ति या व्यक्तिसमूह में रहनी चाहिये? सर्वोच्च शक्ति जन-साधारण के हाथ मे हो, या धनिको, श्रेष्ठतर नागरिकों के हाथ मे हो या सर्वश्रेष्ठ मनुष्य के हाथ में हो? अरस्तु का कहना है कि उपरोक्त सभी विकल्पों की अपनी-अपनी कठिनाइयां हैं; यह सिद्धात भी कि राज्य मे सर्वोपरि कानून होना चाहिये, कोई व्यक्ति समूह नही, आपत्तियो से खाली नही है। परन्तु अच्छी तरह से सोच-विचार के बाद वह इस विचार की ओर झुकता है कि सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ में रहनी चाहिये। अपने ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' में वह लिखता है: "यही सिद्धात मानने योग्य है कि सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ मे होनी चाहिये, कुछ थोड़े से सर्वोत्तम व्यक्तियों के हाथ मे नही। यह सिद्धान्त यद्यपि आपत्तियों से खाली नही है, फिर भी इसमें सत्य का एक अंश मौजूद है।"

राज्य की ओर से उन्हे दिया जाने वाला पद तथा सम्मान भी उनके योगदान के अनुपात मे होना चाहिए। यदि उनका व्यक्तिगत योगदान समान है, तो उन्हें समान मात्रा मे पुरस्कार मिलना चाहिये; और यदि उनका योगदान असमान है, तो उनका पुरस्कार भी असमान ही होना चाहिये। 'क' के योगदान तथा पुरस्कार के बीच अनुपात वही होना चाहिये जो कि 'ख' के योगदान तथा पुरस्कार के बीच है। उक्त वितरणात्मक सिद्धान्त के औचित्य को सामान्य रूप से तो सभी लोग स्वीकार कर लेंगे, परन्तु व्यक्तिगत गुण तथा राज्य के कल्याण मे योगदान के मापदण्ड के प्रश्न पर अवश्य ही मतभेद उत्पन्न होगा। कुलीनतन्त्रवादियो की धारणा है कि सदाचारी व्यक्ति अपने सदाचार द्वारा राज्य की भलाई में सबसे अधिक योग देते हैं इसलिए पद तथा शक्ति सदाचारी व्यक्तियो को ही मिलनी चाहिये। इसके विपरीत धनिकतंत्रवादियो (Oligarchs) का दावा यह है कि धनिक ही राज्य को सबसे अधिक देन देते हैं और इसलिए पदो तथा शक्ति का अधिकतम भाग उन्हें ही दिया जाना चाहिए। लोकतन्त्रवादी स्वतत्र जन्म के दावे को सदाचार तथा धन के दावे से ऊँचा रखते हैं और इसलिए स्वतन्त्र जन्म अथवा समानता को वितरणात्मक न्याय का सिद्धात मानते हैं। न्याय के इस सिद्धात के आधार पर किसी सरकार को उत्कृष्ट या निकृष्ट समझा जा सकता है। सर्वोच्च सदाचार का पालन करने के कारण राजतंत्र सर्वोत्कृष्ट है; अपने उच्च सदाचार के कारण कुलीनतत्र का नम्बर दूसरा है। अपने साधारण अथवा सैनिक सदाचार के कारण 'पोलिटी' (Polity) का तीसरा नम्बर है। भ्रष्ट संविधानो में सामाजिक समता के सिद्धांत पर आधारित जनतंत्र सर्वश्रेष्ठ है; और जहाँ तक उसका आधार धन है धनिक तत्र का नम्बर दूसरा है; और आततायी-तंत्र (Tyranny) निकृष्टतम है क्योकि उसका आधार छल, कपट और धोखा है।

अरस्तु के आविर्भाव तक लगभग सभी यूनानी नगर-राज्यो ने एक न एक प्रकार का जनतंत्र या वर्गतंत्र अपना लिया था और जनतंत्रवादी तथा वर्गतंत्रवादी अपने-अपने न्याय के सिद्धातो का समर्थन करते थे, इसलिए सरकार के इन दो रूपों की अरस्तु द्वारा विवेचना शक्ति के लिए परस्पर विरोधी दावों के गुण-दोषो का एक तुलनात्मक अध्ययन है।

कुलीनतत्रवादी, जनतंत्रवादी तथा धनतंत्रवादी, सभी लोग इस बात से एकमत हैं कि संविधान न्याय के ऊपर आधारित होना चाहिये; परन्तु उन सबकी न्याय की धारणायें अलग-अलग है। वे सब इस बात को भी मानते हैं कि न्याय का अर्थ समान व्यक्तियों के लिए समता और असमान के लिए असमता है। धनतत्रवादियो का विचार है कि क्योंकि वे धन में दूसरों से श्रेष्ठ है, इसलिए वे सभी दूसरी बातो मे दूसरो से श्रेष्ठ हैं। इसीलिए वे दावा करते हैं कि राज्य में उनका भाग उनकी सम्पत्ति के अनुपात से होना चाहिए। इसके विपरीत अरस्तु का कहना है कि धर्म के सदृश धन का शक्ति पर निरपेक्ष दावा नही है; राज्य कोई व्यापार कम्पनी या धन की साझेदारी नहीं है। परन्तु सम्पत्ति के दावे को वह सर्वथा निर्मूल नही समझता;

सम्पत्ति के कुछ नैतिक परिणाम होते हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। सम्पत्ति सद्शिक्षा, सद्गति तथा अवकाश को देने वाली है और इन चीजों का राजनीतिक शक्ति के ऊपर काफी बडा दावा है।

इसके विपरीत जनतन्त्रवादी स्वतन्त्र जन्म तथा समानता के आधार पर अपना दावा जताते है। उनका तर्क यह है कि स्वतन्त्र नागरिक होने के नाते वे सब समान है, इसलिये उन सबके राजनीतिक अधिकार भी समान होने चाहिये। उनकी दलील यह है कि न्याय समानता मे निहित है और समानता का अर्थ यह है कि प्रत्येक को एक गिना जाये और किसी को भी एक से अधिक न गिना जाये अर्थात् जहाँ तक शासन कार्य का सम्बन्ध है उसमे प्रत्येक व्यक्ति का समान भाग होना चाहिये चाहे वह अमीर हो चाहे गरीब। धन की तरह स्वतन्त्र जन्म के अधिकार को भी अरस्तु निरपेक्ष नहीं समझता; परन्तु पूर्ण रूप से उसे ठुकराता भी नहीं। शासन की नीति के राजनीतिक परिणामो को जाचने के लिए जनता के मत को महत्व मिलना चाहिये। एक संतुलित यथार्थवादी होने के नाते अरस्तु जनमत की शक्ति का उचित सम्मान करता है। इस प्रकार अरस्तु शासन पद तथा अधिकार के वितरण के आधार के रूप मे धन तथा स्वतन्त्र जन्म के मूल्य को न तो पूर्णतया स्वीकार करता है और न पूर्णतया उससे इकार करता है।

उसका कथन है कि राज्य के पदों को राज्य के प्रति की हुई सेवाओ का पुरस्कार नही समझना चाहिये; वे तो राज्य के ध्येय की पूर्ति तथा उसके कार्यों मे योग देने के लिए साधनमात्र है। राज्य एक शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए बनाया गया समुदाय है; इसलिये जो लोग शुभ जीवन मे अधिक योग देते है और जो नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठतर है उनका राजनैतिक शक्ति मे उन लोगों की अपेक्षा अधिक भाग होना चाहिये जो अधिक धनाढ्य है या जो स्वतन्त्र जन्म के कारण समान है किन्तु जो धर्म की दृष्टि से हीन हैं। साराश यह कि अरस्तु धन तथा स्वतन्त्र जन्म को शक्ति का सापेक्षिक अधिकार तो देता है किन्तु उनके निरपेक्ष अधिकार को स्वीकार नही करता। शासन करने का निरपेक्ष अधिकार तो केवल धर्म का है।

धर्म द्वारा शासन के सिद्धात से समस्या का हल नहीं हो पाता। यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि राज्य की सार्वभौम शक्ति किस व्यक्ति या व्यक्तिसमूह मे रहनी चाहिये? सर्वोच्च शक्ति जन-साधारण के हाथ मे हो, या धनिकों, श्रेष्ठतर नागरिकों के हाथ मे हो या सर्वश्रेष्ठ मनुष्य के हाथ मे हो? अरस्तु का कहना है कि उपरोक्त सभी विकल्पों की अपनी-अपनी कठिनाइयां हैं; यह सिद्धात भी कि राज्य मे सर्वोपरि कानून होना चाहिये, कोई व्यक्ति समूह नही, आपत्तियो से खाली नही है। परन्तु अच्छी तरह से सोच-विचार के बाद वह इस विचार की ओर झुकता है कि सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ मे रहनी चाहिये। अपने ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' मे वह लिखता है: "यही सिद्धात मानने योग्य है कि सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथ'में होनी चाहिये, कुछ थोड़े से सर्वोत्तम व्यक्तियों के हाथ में नही। यह सिद्धांत यद्यपि आपत्तियों से खाली नहीं है, फिर भी इसमें सत्य का एक अंश मौजूद है।"

अपने सिद्धांत के समर्थन मे अरस्तु ने जो युक्तियां पेश की है उनका सारांश यह है कि राज्य की राजनीतिक शक्ति तथा पदो के वितरण के लिए नागरिकों के चरित्र पर विचार करना ही काफी नही है, बल्कि उनकी संख्या पर भी ध्यान देना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति या किसी अल्पमत के समूह के सदस्य दूसरो की अपेक्षा व्यक्तिगत रूप से कही अधिक धर्मशील, अधिक बुद्धिमान् एवं धनाढ्य है तो इसका अर्थ यह कदापि नही हो सकता कि वे समस्त समाज से श्रेष्ठतर हैं। उन व्यक्तियों का बहुमत, जो कि अलग-अलग व्यक्तिगत रूप से अल्पमत से हीन हैं, सामूहिक रूप मे उनसे श्रेष्ठ है क्योंकि उसके प्रत्येक सदस्य का पूरक दूसरे सदस्य मे मिल जाता है और इस प्रकार वे अधिक पूर्णता को पहुँच सकते है। यदि अल्पमत की अपेक्षा बहुमत की राज्य को देन अधिक है तो राजनीतिक शक्ति मे उसका भाग भी अधिक होना चाहिये। यह है जनप्रिय राजसत्ता के पक्ष मे अरस्तु की दलील। इसका आधार यह है कि धर्म तथा बुद्धि का समूहीकरण किया जा सकता है, और जन-साधारण का मत, कम से कम कुछ मामलों मे, थोडे से बुद्धिमान् व्यक्तियो के मत की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। ये मान्यतायें काफी बडी हद तक सही हैं। ऐसा प्राय. होता है कि थोडे से चतुर व्यक्तियों द्वारा तैयार की हुई योजना मे दोष निकल आते है जब कि साधारण व्यक्तियो की महज बुद्धि का प्रकाश उस पर पडता है। जैसा कि प्रायः कहा जाता है, एक समिति अपने सबसे बुद्धिमान् सदस्य की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान् होती है।

इसके साथ ही साथ अरस्तु यह भी मानता है कि यह सिद्धान्त हर प्रकार के समाज मे लागू नहीं हो सकता। यह पिछडी हुई जाति मे या ऐसे स्थान पर जहां कि सर्व-साधारण पशुओ के समान है, लागू नही होता। यह केवल वही लागू हो सकता है जहाँ कि जनसाधारण में एक काफी ऊँचे दर्जे की बुद्धि और राजनीतिक चेतना हो।

अरस्तु एक और युक्ति भी देता है और वह यह कि राजनीतिक शक्ति से बहुमत को अलग रखने से जनसाधारण मे जबर्दस्त असन्तोष फैल जायेगा और वे राज्य के शत्रु हो उठेंगे।

अरस्तु के उपरोक्त सिद्धान्त और उसके पक्ष मे ही दी हुई युक्तियो का क्या तात्पर्य है? यह हमे अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। अरस्तु का यह अभिप्राय कदापि नही है कि जन-साधारण को राज्य के सर्वोच्च कार्यपालिक पदो पर प्रतिष्ठित करना चाहिये। अरस्तु मानता है कि ऐसे पद तो अमीरो को ही मिलने चाहियें जो कि सद्‌शिक्षा, ऊँचे कुल, सम्पत्ति तथा अवकाश के आधार पर उनके लिए योग्य हैं। ये ऐसी चीजें हैं जिनके नैतिक महत्व की अवहेलना नही की जा सकती। जनसाधारण को वह केवल न्याय करने तथा नीति निर्धारित करने का अधिकार देने को तैयार है। जनता को न्यायाधीशों के चुनने, उनके कार्यकाल के अन्त मे उनके व्यवहार की जाँच करने तथा नीति निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिये। ऐसे मामलों मे

सर्वसाधारण जो कि विशेषज्ञों की सेवाओं को प्रयोग करते हैं उनकी अपेक्षा कहीं अधिक निर्णायक होते हैं। जूता पहिनने वाला ही तो यह जानता है कि वह किस जगह काटता है। यह सही है कि सर्व-साधारण सरकार की जटिलताओं और छोटी-मोटी तफसीलों को नहीं समझते, किन्तु वे यह अवश्य समझते हैं कि सरकार उनके हित में काम कर रही है या नहीं।

जनसाधारण का निर्णय खतरे से खाली नहीं, अरस्तु इस बात को जानता है। हो सकता है कि उनका दृष्टिकोण व्यापक न हो ; वह संकीर्ण हितों से प्रभावित हो सकती है। फिर भी वह उनमें भरोसा रखता है और एक आदर्श कुलीनतन्त्र में विश्वास नहीं करता जैसा कि अफलातून करता था। उसे बहुजन में ही शुभ की आत्मा दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार वह एक ऐसा सुधारक है जो रूढ़िवादी है।

एक बात हमें और ध्यान में रखनी चाहिये और वह यह कि नागरिक जिनकी निर्णय तथा निर्वाचन बुद्धि में अरस्तु की आस्था थी, नगर-राज्य की कुल जनसंख्या का एक छोटा सा भाग थे। विदेशी, दास, कारीगर, व्यापारी, स्त्रियाँ तथा बच्चे उनसे बाहर थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तु जिस जनता द्वारा शासन का समर्थन करता है वह हमारी या आधुनिक धारणा से भिन्न है।

यह भी कहना सही नहीं होगा कि अरस्तु सार्वजनिक सार्वभौमिकता के सिद्धांत का समर्थन करता है। सार्वभौमिकता एक आधुनिक विचार है ; प्राचीन यूनान में यह नहीं था। वह सर्वसाधारण की प्रभुता का समर्थन करता है।

राजतन्त्र (Monarchy)—यद्यपि अरस्तु अल्पजन की अपेक्षा बहुजन के अधिकार का स्पष्ट रूप से समर्थक है, फिर भी एक स्थिति ऐसी भी है जिसमें बहुजन का दावा भी खाक में मिल जाता है। ऐसा तब होता है जबकि किसी समाज में कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसकी व्यक्तिगत योग्यता के सामने और सबकी सामूहिक योग्यतायें हेच हों। ऐसे व्यक्ति का मानो जन्म ही शासन करने के लिए हुआ है, इसलिये उसे शासन करना चाहिये ; वह तो मनुष्यों के बीच में एक देवता है। ऐसे व्यक्ति को दूसरों के साथ समान स्तर पर रखना कोरी मूर्खता है ; सर्वसाधारण को स्वेच्छापूर्वक उसके सामने समर्पण कर देना चाहिये। ऐसे व्यक्ति का शासन सर्वोत्तम है ; इसके अन्तर्गत जनहित सबसे अधिक सुरक्षित है। इसे हम आदर्श राजतन्त्र या रामराज्य कह सकते हैं। किन्तु वास्तविक जीवन में इस प्रकार के देवतुल्य व्यक्ति दुर्लभ हैं ; इसलिये इस प्रकार के शासन की विवेचना कोरा बौद्धिक विलास होगा। यदि दैवयोग से ऐसा व्यक्ति कभी प्राप्त भी हो जाये तो सर्वसाधारण अधिक समय तक उसे शासन नहीं करने देंगे ; वे राजनीतिक विषमता को अधिक दिन तक सहन नहीं कर सकते ; उससे छुटकारा पाने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न किये जायेंगे जिनमें से एक साधन जाति-बहिष्कार है जिसका प्रयोग यूनानी लोग अपने दलगत हितों के लिए प्रायः करते थे।

अरस्तु राजतन्त्र के पांच विभिन्न भेद बतलाता है जिनकी तफसील में जाना आवश्यक नहीं। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अरस्तु राजतन्त्र का निरा

प्रशंसक ही नहीं था ; उसने उसके पाँच रूपों में से प्रत्येक के विरुद्ध विभिन्न युक्तियां दी है। जब वह निरपेक्ष राजतन्त्र की विवेचना करता है तो उसके सामने यह समस्या उठ खड़ी होती है कि निरकुश शासन तथा कानून द्वारा शासन में से कौनसा अच्छा है। दोनों के ही पक्ष में युक्तियां दी जा सकती है। व्यक्तिगत शासन में यह गुण है कि इसके अन्तर्गत किसी नये काम की पहल सरलता से की जा सकती है ; कानून विहित शासन में निष्पक्षता अधिक होती है। कानूनी शासन को अरस्तु इतना महत्व देता है कि उसका अन्तिम निर्णय निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध और सांविधानिक तथा सीमित राजतन्त्र के पक्ष में है।

सारांश (Summary)—समस्त नागरिक जीवन में अन्तर्निहित सामान्य सिद्धान्तों की उपरोक्त विवेचना का सारांश यह है। अरस्तु का यह कहना है कि केवल वही संविधान अच्छा है जिसका उद्देश्य समस्त समाज का हित है, केवल शासक-वर्ग का ही नहीं। एक अच्छे संविधान के अन्तर्गत राजशक्ति तथा पदों का वितरण लोगों में उनकी राज्य सेवा के अनुपात से होना चाहिये ; उसका आधार धन या स्वतन्त्र जन्म नहीं होना चाहिये। राजतन्त्र की मीमांसा से वह इस परिणाम पर पहुंचता है कि यद्यपि कुछ कानून कभी-कभी बुरे होते हैं फिर भी कानून द्वारा शासन एक व्यक्ति के निरंकुश शासन से हर हालत में अच्छा है। अरस्तु का आदर्श सांविधानिक शासन है, निरंकुश शासन नहीं। यह समस्त विवेचना सर्वश्रेष्ठ संविधान को निर्धारित करने तथा उसकी स्थापना के साधन की एक भूमिका है। तीसरे प्रकरण के अन्त में अरस्तु यह प्रश्न उठाता है और इसकी भूमिका के रूप में सबसे अधिक वांछनीय जीवन के स्वरूप की खोज करता है।

परन्तु आश्चर्य की बात है कि चौथे, पांचवें और छटे प्रकरण में वह वास्तविक संविधानों और उनके विभिन्न प्रकारों, उनके पतन के कारणों तथा उन्हें स्थिर बनाने के लिए साधनों की विवेचना करता है। सातवें और आठवें प्रकरण में वह आदर्श राज्य की रचना पर आता है। परन्तु यहा भी हमें आदर्श राज्य का संविधान नहीं बल्कि राज्य के सम्बन्ध में अरस्तु के आदर्शों का विवरण मिलता है। यहां राज्य के संविधान तथा संगठन की अपेक्षा आदर्श राज्य की आवश्यकताओं तथा शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था का अधिक वर्णन मिलता है। ऐसा लगता है कि आदर्श राज्य की रचना में अरस्तु का मन नहीं लगा ; इसलिए उसने उसे छोड़ दिया।

आदर्श जीवन—अरस्तु का विचार है कि एक व्यक्ति तथा समस्त समाज के लिए सर्वश्रेष्ठ तथा सबसे अधिक वांछनीय जीवन एक सुखी जीवन है। सच्चा आनन्द ज्ञान और धर्म से प्राप्त होता है, केवल बाह्य वस्तुओं से नहीं। बाह्य वस्तुओं का मूल्य केवल साधनात्मक है ; उनकी मात्रा सीमित होनी चाहिए। धन, शक्ति, ख्याति इत्यादि बाह्य चीजों की अति होने से लाभ के बदले में और उल्टी हानि हो सकती है। न तो व्यक्ति को और न राज्य को इन चीजों के संचय में सीमा का उल्लंघन करना चाहिए।

यह मान लेने पर कि वास्तविक आनन्द एक धर्मशील जीवन व्यतीत करने मे है अरस्तु अब इस प्रश्न पर आता है कि परम धर्म विचार मे है या कर्म मे। कुछ व्यक्ति और राज्य युद्ध तथा विजय के कार्यों मे संलग्न रहते है क्योंकि दूसरों के ऊपर प्रभुत्व जनहित का बहुत बड़ा अवसर देता है। परन्तु अरस्तु कहता है कि प्रत्येक हालत में दूसरो के ऊपर शासन करना अच्छा नहो है; केवल उन्ही व्यक्तियों को पराभूत करना अच्छा है जो अपने से स्वाभाविक रूप से हीन और निकृष्ट है। राजनीतिक शक्ति सर्वोत्कृष्ट शुभ नही है, सर्वोच्च क्रिया विचार है। सच्चे आनन्द की प्राप्ति के लिए इन दोनों का समन्वय आवश्यक है।

राज्य के आदर्श—ऐसी बातों का उल्लेख करने के बाद अरस्तु अपने आदर्श राज्य का चित्र अकित करता है और राज्य के लिए आवश्यक भौतिक एव मानसिक स्थितियों का वर्णन करता है। इन आवश्यकताओं की सूचि अधिकतर 'लॉज' से ली गई है और इसमें राज्य की जनसंख्या, उसका आकार तथा चरित्र, क्षेत्र तथा उसका आकार, स्थिति और स्वरूप इत्यादि से विशिष्ट विवरण भी दिये हुये है। भूगोल, जलवायु, भूमि, निवासियो के स्वाभाविक तथा आदर्श राज्य के ढाचे का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। अन्त मे वह इस परिणाम पर पहुंचता है कि जनसंख्या तथा क्षेत्र के दृष्टिकोण से आदर्श राज्य को न अधिक बड़ा होना चाहिये और न अधिक छोटा। यदि राज्य बहुत छोटा होगा तो वह अपनी स्वाधीनता की रक्षा नही कर सकेगा और यदि बहुत बड़ा होगा तो उसमे एकता स्थापित न हो सकेगी। नागरिकों की जनसंख्या इतनी होनी चाहिये जोकि सब कामों के लिए काफी हो; परन्तु इतनी अधिक न हो कि सब लोग एक दूसरे से परिचित न रह सके। उनमे ओज तथा बुद्धि के पूरक गुण होने चाहियें और उन्हे धर्म तथा संस्कृति की साधना करनी चाहिये।

अरस्तु के आदर्श राज्य का वर्णन प्रोफेसर मैकलवेन ने इन शब्दों में किया है: "अरस्तु का सर्वश्रेष्ठ राज्य वह है जिसमे अनुकूल स्थितियो के होते हुए तीसरे प्रकरण में प्रतिपादित सिद्धांत अधिक से अधिक लागू होते है। अरस्तु के अनुसार ऐसा राज्य न तो अधिक अमीर होगा और न अधिक गरीब, वह बाहरी आक्रमण से सुरक्षित होगा; अधिक धन संग्रह तथा व्यापार या क्षेत्र के प्रसार की इच्छा से वह रहित होगा। वह एकताबद्ध, धर्मशील, सुसंस्कृत, संरक्षणीय होगा; वह महत्वाकाक्षाओं से परे होगा; वह स्वपर्याप्त होगा, किन्तु दूसरों पर आक्रमण नही करेगा; वह महान् होगा किन्तु विस्तृत नहीं। वह एक सुसगठित, छोटा तथा स्वतन्त्र नगर होगा जिसमें सर्वोच्च शक्ति एक सच्चे अभिजात्य वर्ग के हाथ में होगी जिसके सदस्य अपने जीवन को भौतिक चिन्ताओं से मुक्त रखने मे तथा सर्वोत्कृष्ट धर्म तथा संस्कृति के प्राप्त करने में और सब के कल्याण तथा आनन्द की खोज करने में लगे हुए बारी-बारी से शासन करेंगे तथा दूसरों का शासन मानेंगे। राज्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति वे लोग करेंगे जो धर्माभाव के कारण उच्चतर जीवन तथा राजनीतिक कार्यों के लिए

अरस्तु का विश्वास है कि जनता के नीति-परायण बन जाने से उसके आदर्श की प्राप्ति हो सकेगी। इसके साथ-साथ उसके लिये आवश्यक भौतिक परिवेश की भी वह अवहेलना नहीं करता और विस्तार के साथ उसका विवरण देता है। उसके आदर्श राज्य में व्यवस्थापक का मुख्य कार्य नागरिकों को कुछ आवश्यक आदतें सिखाना होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अरस्तु जिन शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाओं को आवश्यक समझता है उनका वर्णन करना यहा आवश्यक नही।

---

dares to try his skill at weaving them into patterns approximating the idea. Yet both thinkers display the same ethical fervour, the same passion for order, the same love for moderation, the same devotion to justice and reason, the same confidence in education, the same faith in humanity, and the same concern for the realization of the good life."

—Maxey : *Political Philosophies*, pags 78.

७ अरस्तु (पिछला शेष) राजनीतिक वास्तविकतायें

परिचयात्मक—हम पहिले ही कह चुके हैं कि अरस्तु ने जिस नवीन राजनीति विज्ञान की उद्भावना की उसमे केवल आदर्श का अङ्कित करना ही नहीं, वरन् यथार्थ का वर्णन करना भी सम्मिलित है। उसका विचार था कि एक राजनीतिशास्त्री को एक आदर्श रूप मे सर्वश्रेष्ठ राज्य के विश्लेषण से संतुष्ट नहीं होना चाहिये बल्कि उसे यह निर्णय करना चाहिये कि कौन सी परिस्थितियों में कौन सा राज्य सर्वश्रेष्ठ है। केवल इतना ही नहीं, उसे यह भी नहीं बताना चाहिये कि परिस्थिति विशेष में किस प्रकार की सरकार सब से अधिक उपयुक्त होगी। इस बात को निर्धारित करने मे कि एक विशेष स्थिति में क्या प्राप्त हो सकता है उसे मनुष्यो के वास्तविक धार्मिक तथा बौद्धिक स्तर का ध्यान रखना चाहिये, उससे अधिक की आशा उनसे नहीं की जानी चाहिये। सैबाइन के शब्दों में "वास्तविक सरकारों का विश्लेषण करना तथा उपलब्ध साधनो का सर्वोत्तम प्रयोग करना राजनीतिज्ञता की पूर्ण कला है। नैतिक विचारों को बिल्कुल भुलाकर यह एक आततायी को यह बता सकती है कि वह किस प्रकार अपने अत्याचारो मे सफल हो सकता है।"* अरस्तु सचमुच आततायी को शिक्षा देता है कि वह किस प्रकार अपने शासन को अधिक स्थिर और स्थायी बना सकता है।

अरस्तु में नवीन प्रवृत्ति—यह माना जाता है कि राजनीति विज्ञान को अरस्तु की, सब से अधिक स्थायी देन अनुभूतिप्रधान (Empirical) पद्धति को राज्य के घटनाचक्र के अध्ययन मे प्रयोग करना है। एक आधुनिक लेखक की तरह वह वास्तविक राज्यों का विश्लेषण करता है, उनके पतन के कारणों का वर्णन करता है और वे किस प्रकार क्रान्तियों से बच सकते हैं इसके लिये सुझाव पेश करता है। यह कहकर कि राज्य के राजनीतिक तथा सामाजिक और आर्थिक ढांचे में भेद है वह राज्य तथा समाज में भेद करता हुआ दिखाई पड़ता है। वह एक बहुत चातुर्यपूर्ण बात यह कहना है कि राजनीतिक सविधान एक बात है और उस पर किस प्रकार अमल किया जाता

* '...... ..the complete art of the statesman must take governments as they are and do the best it can with the means it has. It might even divorce itself from moral considerations altogether and tell the tyrant how to *succeed* in tyranny.' —Sabine : *op. cit.*, page 106.

है वह दूसरी बात है। एक ही संविधान को यदि विभिन्न वर्ग कार्यान्वित करें तो उसके विभिन्न परिणाम होंगे। उदाहरणतया एक नवीन औद्योगिक तथा पूंजीवादी के अभ्युदय के कारण बीसवीं शताब्दी का अमेरिकन जनतन्त्र प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी के जनतन्त्र से कितना भिन्न है। अरस्तु ने और बहुत से विभेद किये हैं जिनसे ज़ाहिर है कि उसने एक समाज में कार्य करने वाली विभिन्न राजनीतिक शक्तियों का कितना विस्तृत अध्ययन किया था। संविधान को क्रियान्वित करने में सामाजिक वर्गों के इस महत्वपूर्ण भाग को स्वीकार करके अरस्तु यह स्वीकार करता हुआ दिखाई पड़ता है कि राज्य विभिन्न हितों वाले वर्गों का समूह है जो कभी-कभी सामान्य हित के लिये आपस में सहयोग करते हैं; किन्तु प्रायः अपने निजी हितों की प्राप्ति के लिये एक दूसरे में होड़ करते हैं और वह व्यक्तियों का समूह नहीं है। आज के समाजशास्त्रियों की राज्य के बारे में यही धारणा तो है। सारांश यह कि चौथे, पांचवें तथा छठे प्रकरण में अरस्तु का दृष्टिकोण समाजशास्त्र सम्बन्धी है, आचारशास्त्र सम्बन्धी नहीं।

जनतन्त्र तथा वर्गतन्त्र के विभिन्न रूपों में उसने जिस प्रकार विभेद किया है उससे भी हमारे उसी तथ्य की पुष्टि होती है कि इन प्रकरणों में अरस्तु का दृष्टिकोण समाजशास्त्र सम्बन्धी है, आचार-शास्त्र सम्बन्धी नहीं। इन भेदों का आधार यह है कि राज्य के तीन आवश्यक अंग, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का संगठन किस प्रकार होता है। संविधान का चरित्र तथा उनका वास्तविक व्यवहार इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि इनमें से प्रत्येक अंग का निर्माण किस प्रकार होता है। इन अंगों के रूप तथा कार्य की विभिन्नतायें अनन्त हैं, इसलिये संविधानों के रूप आदर्श रूप में एक से दूसरे मुख्य प्रकार में परिवर्तित होते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कभी-कभी यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि अमुक सरकार जनतन्त्री है या वर्ग-तन्त्री। उदाहरण के लिए जबकि उसका एक अंग जनतन्त्रीय आधार पर और दूसरा वर्गतन्त्री आधार पर निर्मित हो। उसकी विवेचना में इससे बहुत सी जटिलतायें आ गई हैं, परन्तु एक बात स्पष्ट है। किसी सरकार के कार्य करने का ढंग बहुत सी बातों के ऊपर निर्भर करता है, जिसमें से कुछ बातें राजनीतिक, कुछ आर्थिक तथा कुछ सामाजिक हैं। अरस्तु की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वह राज्य में पाई जाने वाली अगणित तथा राजनीतिक जटिलताओं को देख पाया।

तीसरे प्रकरण में अरस्तु ने जिन छः प्रकार की सरकारों का उल्लेख किया है उनमें से केवल जनतन्त्र, धनतन्त्र तथा आततायीतन्त्र की ही उसने विस्तारपूर्वक विवेचना की है; राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र, जिन्हें वह राज्य का आदर्श रूप समझता है, को उसने छोड़ दिया। यहां हम उनके जनतन्त्री तथा धनतन्त्री सिद्धांतों की विवेचना का विवरण देंगे।

जनतन्त्री सिद्धान्त—अरस्तु जनतन्त्र की इस प्रचलित परिभाषा को नहीं मानता कि जनतन्त्र सरकार का वह रूप है जिसमें सर्वोच्च शक्ति सर्व-साधारण के हाथ मे होती है। जनतन्त्र को वह एक ऐसा राज्य समझता है जिसमें प्रभुता गरीबों के हाथ में हो जिनका कि राज्य में बहुमत होता है। इसकी परिभाषा यह भी की जा सकती है कि यह वह राज्य है जिसका आधार नागरिक समानता तथा स्वतन्त्रता है। समान होने के लिये शासन कार्य मे नागरिकों को समान अधिकार मिलने चाहियें। स्वतन्त्र होने के लिये प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। किसी को भी दूसरे को आदेश देने का अधिकार नहीं है। किन्तु किसी हद तक आदेश देना और शासन करना अपरिहार्य है, इसलिये उसी हद तक आज्ञा देने का अधिकार तथा आज्ञापालन का कर्त्तव्य सबका होना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब कि नागरिक बारी-बारी से शासन करें और शासित हों। यह संविधान जनतन्त्री है जिसके अन्तर्गत राज्य के विभिन्न पदों के लिए निर्वाचन का आधार वयस्क मताधिकार हो और निर्वाचन या तो पासे डाल कर हो या नम्बरवार हो। निर्वाचन के लिये आवश्यक योग्यता का आधार सम्पत्ति या तो बिल्कुल न हो या हो तो सम्पत्ति की मात्रा नगण्य हो। पदों का कार्य काल छोटा होना चाहिये ताकि सभी लोग उसमें भाग ले सकें। व्यवसायिका का अधिकार क्षेत्र व्यापक तथा कार्य-पालिका का परिमित होना चाहिये।

जनतन्त्र की उपरोक्त विशेषतायें विभिन्न राज्यों में विभिन्न मात्रा में पाई जाती हैं और किसी राज्य विशेष में इनमे से कुछ या सब हो सकती हैं। मत देने के अधिकार, पद के लिए खड़े होने के अधिकार, तथा जनता की जीवन पद्धति और पेशे के आधार पर अरस्तु जनतन्त्र के पांच भेद करता है। अरस्तु किसानों के जनतन्त्र को सर्वोत्तम समझता है क्योंकि किसान लोग शासन मे मध्यम भाग से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं यदि उन्हें न्यायधीशों को चुनने, उन्हे उत्तरदायी ठहराने तथा न्याय प्रदान के कार्य मे भाग लेने का अधिकार दे दिया जाये तो वे पूर्ण रूप से संतुष्ट हो जाते हैं। उनके पास अधिक अवकाश नहीं होता, इसलिये सरकार का वास्तविक कार्य वे दूसरों के ही हाथों में छोड़ देते है। वह श्रमिकों तथा शिल्पकारों के जनतन्त्र को सबसे अधिक नापसन्द करता है क्योंकि उसमे जनप्रिय शक्ति और कुशल प्रशासन का सम्मिश्रण करना बड़ा कठिन होता है जो कृषक जनतन्त्र में बड़ी सरलता से हो जाता है। अरस्तु के अनुसार जनतन्त्र का मुख्य दोष यह है कि यह निरपेक्ष समानता के लिए अनुपातिक समता का परित्याग कर देता है और प्रत्येक नागरिक को सम्मान और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। अधिक तफसील मे जाना आवश्यक नहीं है।

धनतन्त्री सिद्धान्त—धनतन्त्र, जैसा कि इसके नाम से प्रगट है, धनिक वर्गों का शासन है। इसके भी नम्र और उग्र बहुत से रूप हैं। इसके नम्रतम रूप मे सम्पत्ति की सीमा इतनी ऊंची रक्खी जाती है कि जिसके कारण गरीब नागरिकों को

सम्पत्ति होती है उन्हें राज्य शक्ति में भाग लेने की स्वतंत्रता रहती है। इसका आधार काफी विस्तृत होता है। इसके उग्र रूप में एक वंशानुगत (Hereditary) शासक-वर्ग होता है जो कानून के सारे नियन्त्रण को धूल मे मिला देता है और उच्छृंखलता से मनमाना राज करता है। यदि जनतन्त्र की मुख्य समस्या जनशक्ति तथा कुशल शासन का सम्मिश्रण करना है तो धनतन्त्र की मुख्य समस्या यह है कि थोड़े से व्यक्तियों मे शासन सत्ता रहते हुए भी उसे उत्पीडक और भ्रष्ट होने से कैसे बचाया जाये। गरीबो की धृष्टता की अपेक्षा अमीरों के प्रवाह को रोकना अधिक कठिन है, इसलिये जनतन्त्र की अपेक्षा धनतन्त्र को सयत रखना अधिक दुष्कर है।

मध्यवर्गतन्त्र (Polity)—जनतन्त्र और धनतन्त्र, इन दोनों में कुछ गम्भीर दोष है जो उनके उग्र रूपो मे और अधिक स्पष्ट और नग्न हो उठते है। इन दोषो को दूर करने के लिए अरस्तु इन दोनो संविधानो का एक नया सम्मिश्रण तैयार करता है जिसे वह मध्यवर्गतन्त्र कहकर पुकारता है। यह धनतन्त्र से मिलता-जुलता जनतन्त्र और जनतन्त्र से मिलता-जुलता धनतन्त्र है। यह गरीब और अमीर मे एक संतुलन स्थापित करता है और इन दोनों की अपनी-अपनी सरकारो के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में सामजस्य करने का प्रयास करता है।

धनतन्त्र मे मुट्ठी भर अमीर और जनतन्त्र मे सर्व-साधारण गरीब शासन करते है; मध्यवर्गतन्त्र मे मध्यवर्ग की प्रभुता रहती है। मध्यवर्ग मे वे लोग होते हैं जो न अधिक अमीर हों और न अधिक गरीब, जिनके पास साधारण सम्पत्ति हो। यह वर्ग अमीर गरीब दोनों को मिलाकर भी इनसे बड़ा होना चाहिये; कम से कम इनमें से एक-एक से तो वह बड़ा होना ही चाहिये। एक बडा और सुसंगठित मध्यवर्ग राज-नीतिक जीवन मे बड़ा अच्छा प्रभाव डालता है; यह सतुलन स्थापित करता है और परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों को संयत रखता है। वह जनतन्त्र के मुख्य दोष अकुशलता और धनतंत्र के अभिशाप उत्पीडन-को रोकता है। मजिस्ट्रेटो, तथा अन्य प्रशासकीय और न्यायिक अधिकारियो के चयन में पासे के प्रयोग का तिरस्कार करके और इन पदों को अनुभवी और योग्य व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखकर यह कुशासन के दोष को दूर करता है। मजिस्ट्रेटो को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाकर यह शासन को उत्तरदायी बनाता है। इस प्रकार यह गुण तथा संख्या के सिद्धान्तो मे ऐक्य स्थापित करके एक सुव्यवस्थित एवं स्थायी शासन की स्थापना करता है। इसमें सार्वजनिक पद प्राप्त करने के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता या तो है ही नही या बहुत साधारण है। यह मताधिकार उन्हें देता है जो कि शस्त्र रख सकते हैं।

अरस्तु के अनुसार मध्यवर्गतन्त्र एक अच्छी शासन प्रणाली है। उसे वह आदर्श रूप से सर्वश्रेष्ठ तो नही समझता क्योंकि इसमे विशुद्ध धर्म का शासन नही होता; किन्तु साधारणतया और व्यवहार-जगत मे यह निश्चित रूप मे सर्वोत्तम है, ऐसा वह मानता है। यह मध्यम गुण का है; यह धनतंत्र तथा जनतंत्र के उग्र रूप के बीच में है। यह जनतन्त्री है क्योंकि इसमे बहुमत की चलती है; यह कुलीनतन्त्री

है क्योंकि इसमें पदों का वितरण सदाचार या योग्यता के अनुसार होता है। यह अच्छा है। क्योंकि इसमें मध्यम जीवन की सिद्धि होती है जो कि मध्य वर्ग के साथ सम्बद्ध है। अमीर लोग उद्दण्ड और उच्छृंखल हो सकते हैं और गरीब लोगों में कटुता और अपराध वृत्ति उत्पन्न हो सकती है; किन्तु साधारण सम्पत्ति वाले लोगों में न तो अमीरों के धन का लोभ होता है और न स्वयं उनके प्रति गरीबों की ईर्ष्या होती है। इसके अतिरिक्त मध्यवर्ग के लोग ही सच्चे अर्थों में शासन करना और स्वतन्त्र मनुष्यों के रूप में आज्ञा पालन करना जानते हैं। इसलिये इसका शासन स्थिर और स्थायी हो सकता है। मध्यमवर्ग के शासन में मित्रता, समता तथा न्याय जैसे सुन्दर गुण प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं; इसमें न तो धनी दरिद्र को लूटता है और न दरिद्र धनी के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता है। गृह-कलह और परस्पर संघर्ष से, जो कि धनतन्त्र तथा जनतन्त्र को कलंकित करते हैं, यह स्वतन्त्र रहता है। इसमें सर्वत्र सन्तोष, एकता और सामंजस्य का वातावरण रहता है जिसमें सरकार का स्थायी होना स्वाभाविक ही है। सारांश यह कि यह जनतन्त्र तथा धनतन्त्र के बीच का मार्ग है। ऐसा लगता है कि अरस्तु ने इसके द्वारा आचार-शास्त्र के "सतुलन" और "संयम" (Mean and Moderation) के सिद्धान्त को व्यवहारिक राजनीति जगत् में प्रतिष्ठित किया है। यह वह मापदण्ड है जिसके द्वारा वह वास्तविक राज्यों का मूल्यांकन करता है। सर्वश्रेष्ठ धनतन्त्र वह है जिसमें शासक-वर्ग सबसे कम धनी है और सर्वश्रेष्ठ जनतन्त्र वह है जिसमें जन-साधारण सबसे कम गरीब है। स्वयं अरस्तु के शब्दों में उन नगरों (राज्यों) में अच्छी सरकार होने की सम्भावना सबसे अधिक है जिनमें कि एक बड़ा मध्यवर्ग हो और जो यदि हो सके तो अन्य दोनों वर्गों के योग से बड़ा हो, अन्यथा उनमें से प्रत्येक से तो अवश्य बड़ा हो।

मध्यवर्गतन्त्र की प्रधान विशेषता यह है कि उसका संविधान मिश्रित (Mixed) है। मिश्रित संविधान की धारणा अरस्तु ने अफलातून से पाई थी; परन्तु इन दोनों के विचारों में बड़ा अन्तर है। मिश्रित संविधान से अफलातून का तात्पर्य यह था कि विभिन्न संविधानों के तत्वों और संस्थानों को मिलाकर एक नवीन संविधान तैयार किया जाये। 'लॉज़' में प्रतिपादित मिश्रित राज्य राजतन्त्र तथा जनतन्त्र का सम्मिश्रण है। अरस्तु का मध्यवर्गतन्त्र धनतन्त्र तथा जनतन्त्र के कुछ तत्वों का सम्मिश्रण है क्योंकि इसमें राजनीतिक शक्ति कई सामाजिक वर्गों में विभक्त रहती है। इसमें शक्ति के ऊपर विभिन्न और परस्पर विरोधी दावों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। अपने मिश्रित संविधान से अरस्तु का उद्देश्य न्याय और तद्जनित सामाजिक एकता को प्राप्त करना था। मान्यता के पात्र विभिन्न सामाजिक दावों को मान्यता प्रदान करके वह अपने अभीष्ट को प्राप्त करना चाहता था। पोलीबियस तथा सिसरो के मिश्रित संविधानों का उद्देश्य भी एकता स्थिरता की प्राप्ति था; और वे इस लक्ष्य की सिद्धि नियन्त्रण तथा सतुलन की व्यवस्था द्वारा कराना चाहते थे। मान्टेस्क्यू का सिद्धान्त अरस्तु की अपेक्षा

पोलिवियस के अधिक निकट है। वह शक्ति को सीमित करके स्वतन्त्रता को सुरक्षित करना चाहता है।

आततायीतन्त्र (Tyranny)—अरस्तु ने आततायीतन्त्र के ऊपर एक छोटा सा अध्याय लिखा है। वह उसे राजतन्त्र का भ्रष्ट रूप और सरकार का निकृष्टतम रूप मानता है। वह इसके तीन मुख्य भेद करता है जिनमें से दो में राजतन्त्र का कुछ तत्व रहता है। तीसरे प्रकार में एक निरंकुश व्यक्ति अनुत्तरदायी ढंग से शासन करता है और उसके शासन का उद्देश्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि है, प्रजा का हित नहीं। यही वास्तविक आततायीतन्त्र है। इसका आधार पशु बल है; कोई भी स्वतन्त्र मनुष्य इसके अधीन नहीं होना चाहता। हमें यह याद रखना चाहिये कि यूनानियों के लिये आततायीतन्त्र का अर्थ सदा ही कुशासन नहीं होता था; यह उनके लिए एक पारिभाषिक (Technical) शब्द था जिसका अर्थ निरंकुश और मनमाना शासन है। एक आततायी जनता का हितैषी हो सकता था और यूनान में सचमुच कुछ आततायी ऐसे हुए हैं जिनका शासन जनता के लिए कल्याणकारी था।

सरकार के अंग (Organs of Government)—विभिन्न प्रकार की सरकारों की विवेचना के बाद अरस्तु सरकार के तीन प्रधान और आवश्यक अंगों का क्रमबद्ध विश्लेषण करते हैं। ये अङ्ग तीन हैं: (१) नीति-निर्धारक सभा; (२) न्याय-रक्षकों की व्यवस्था; तथा (३) न्यायालय। ये तीनों आज की व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के समानान्तर है, किन्तु उनके बिल्कुल अनुरूप नहीं हैं। प्रत्येक अंग का संगठन नाना प्रकार से हो सकता है; उनके कार्य भी विभिन्न राज्यों में बहुत भिन्न-भिन्न होते हैं। इनके रूप तथा कार्यों की विभिन्नता पर ही विभिन्न संविधानों की विशेषतायें निर्भर करती है। विभिन्न प्रकार के संविधान अदृश्य रूप से रूप-परिवर्तन कर लेते है क्योंकि उनकी विभिन्नतायें असख्य और असीम हैं। इनका अधिक विस्तृत विवरण देना आवश्यक नहीं है।

क्रांतियां: उनके कारण, इत्यादि (Revolutions: their causes, etc.)—यूनानी राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषतायें अस्थिरता तथा परिवर्तन थे। लगभग प्रत्येक नगर राज्य विभिन्न शासन प्रणालियों, राजतन्त्र, धनतन्त्र, जनतन्त्र और आततायीतन्त्र में गुजर चुका था। इसके कारण अरस्तु को अपनी अनुभूतिमूलक (Empirical) पद्धति अपनाने के लिए समुचित सामग्री मिल गई। उसने देखा कि धनतन्त्र और जनतन्त्र दोनों अस्थिर संतुलनहीन अवस्था में थे; ये दोनों ही अपने-अपने सिद्धांतों को अति पर पहुंचाकर विनाश की ओर प्रवृत्त थे। इसलिए उसने कुछ ऐसे सुझाव रखे हैं जिन पर आचरण करके धनतन्त्रवादी तथा जनतन्त्रवादी अपनी शक्ति बनाये रख सकते है और क्रान्तिकारी परिवर्तनों से अपने शासन की रक्षा कर सकते हैं। वह आततायी तक को अपनी सत्ता सुरक्षित रखने के उपाय बतलाता है। ऐसा करके वह राजनीति शास्त्र को आचार-शास्त्र से अलग कर देता है। यहां वह

कभी-कभी इस परिवर्तन का परिणाम केवल यह होता है कि एक शासक या शासक-समूह का स्थान दूसरा शासक या शासक-समूह ले लेता है। कभी-कभी इसका अर्थ संविधान मे संशोधन होता है, जैसा कि नम्र जनतन्त्र का उग्र जनतन्त्र बन जाना। साराश यह कि अरस्तु के अनुसार क्रातियों के कई रूप और मात्रायें है।

क्रांतियों के कारण—क्रातियो का कारण चाहे तो शासन के विरुद्ध व्यापक असन्तोष हो, चाहे कुछ महत्त्वाकाक्षी व्यक्तियो की स्वार्थभावना; किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि उनका जन्म सदैव मनुष्य के मस्तिष्क मे होता है। "क्योंकि न्याय और मित्रता राज्य के नैतिक आधार है; इसलिए अन्याय और दुर्भावना असन्तोष और अस्थिरता के सबसे बड़े कारण है। आनुपातिक समता तथा उचित व्यवहार का अभाव न्याय को नष्ट कर देता है और नगर को गुटबन्दियो मे विभक्त कर देता है। जब समाज का कोई वर्ग यह अनुभव करने लगे कि उसके अधिकारों को कुचला जा रहा है और उसके साथ अन्याय किया जा रहा है तो समाज में सौहार्द की भावना नही रह सकती।"* धनतन्त्र मे सर्वसाधारण इसलिये विक्षुब्ध रहते हैं क्योंकि वह यह महसूस करते हैं कि शासकों के समान होने के बावजूद भी हमारा उचित अधिकार हमे नही मिलता। इसी प्रकार जनतन्त्र मे वर्गतन्त्रवादी इसलिए रुष्ट और विद्रोह के लिए उतारू रहते है क्योंकि वह यह महसूस करते है कि धन तथा दूसरी बातों की श्रेष्ठता के अनुसार राजनीतिक शक्ति मे हमें भाग नही मिलता। इस प्रकार न्याय के सम्बन्ध मे विभिन्न वर्गों की विभिन्न धारणाये उनमे क्रातिकारी भावनाओ को जन्म देती हैं। साराश यह कि राजद्रोह अथवा क्राति का आधारभूत कारण अन्याय अर्थात् यह बात है कि एक वर्ग को उचित से कम और दूसरे को अधिक मिलता है।

क्रातिकारियो का उद्देश्य लाभ तथा सम्मान प्राप्त करना है। इनके तथा अपने साथियो को हानि और अपमान से बचाने की इच्छा भी क्रातिकारियों को प्रेरित करती है। दूसरों की समृद्धि और प्रतिष्ठा को देखकर होने वाला द्वेष, कुछ व्यक्तियों की अनुचित ख्याति, अधिकारियों का अपमानजनक व्यवहार और शक्ति का मद इत्यादि वे कारण है जो मानव मस्तिष्क मे क्राति के बीज बोते हैं। चुनावों में धोखाधड़ी, लापरवाही के साथ राज्य के पदो पर राजद्रोही व्यक्तियों को बैठना, छोटे-छोटे परिवर्तन करने मे आलस्य करना तथा राज्य के किसी अंग में अनुपातहीन वृद्धि हो जाना ऐसे अवसर है जो क्रातिकारी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। ये कारण दैवयोग से उत्पन्न हो जाते हैं जबकि पहिले कारण मानसिक रूप से विद्यमान रहते हैं। परन्तु

* "Since justice and friendship are the moral bases of the state, injustice and illwill are the most potent causes of discontent and instability. The absence of proportionate equality, of a fair deal, leads to a lack of justice and splits the city into factions. There can be no civic feeling when the community is convinced that its rights are being denied and that justice is not being done."

'पॉलिटिक्स' की दूसरी पुस्तक में वह इसी समस्या की समीक्षा करता है कि संविधान को अधिक सुरक्षित रखने के क्या साधन हैं।

अन्याय भावना क्रांतिकारी प्रवृत्तियों को जन्म देने वाला सबसे बड़ा और सबसे अधिक आधारभूत कारण है। इसीलिए क्रांतियों को रोकने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि राजनीतिक अन्याय की भावना को जनता में फैलने से रोका जाये या यदि फैली हुई हो तो उसको दूर किया जाये। इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि संविधान का आधार समस्त नागरिकों की रजामन्दी हो और एक नम्र भावना के साथ उसके ऊपर आचरण किया जाये। समस्त नागरिक भी किसी संविधान का समर्थन न कर सकें तो एक बड़े बहुमत का समर्थन तो उसे अवश्य प्राप्त होना चाहिये। जो लोग दीनावस्था में हैं उनके साथ कोई धोखा या गैरकानूनी व्यवहार नहीं होना चाहिये और शासकों और शासितों में अच्छे सम्बन्ध रहने चाहियें। सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यतायें समय-समय पर बदली जानी चाहिये और किसी भी व्यक्ति या वर्ग को अत्यधिक शक्तिशाली नहीं होने देना चाहिये। मजिस्ट्रेटों के पद को लाभ का साधन कभी नहीं बनने देना चाहिये। दूसरी महत्वपूर्ण बात जनता के हृदय में संविधान के प्रति प्रेम और श्रद्धा की भावना जाग्रत करना है। यह कार्य शिक्षा द्वारा सरलता से हो सकता है। शासन-प्रणाली के अनुसार ही शिक्षा होनी चाहिये। लोगों को यह सिखाया जाना चाहिये कि उन्हें ऐसे कार्य करने चाहियें जिनसे कि संविधान सुरक्षित रहे, चाहे वह राजतन्त्री हो, कुलीनतन्त्री हो या अन्य किसी प्रकार का हो, और केवल शासकों को प्रसन्न करने वाले ही कार्य उन्हें नहीं करने हैं। तीसरे उनमें कानून का पालन करने की आदत उत्पन्न करनी चाहिए। छोटी-मोटी बातों में भी कानूनहीनता नहीं आने देनी चाहिये। अगली बात यह कि छोटे-मोटे परिवर्तनों के परिणामों को भी ध्यानपूर्वक देखना चाहिये। अरस्तु यथापूर्व स्थिति (Status quo) से तनिक भी इधर उधर हटना खतरनाक समझता है। साधारणतया छोटी-छोटी बातों को लेकर दलगत कलह उठ खड़े होते हैं; परन्तु उनका परिणाम हो सकता है आमूल-चूल क्रांतियों का खड़ा हो जाना।

प्रत्येक प्रकार की सरकार का विनाश उसकी अपनी अति के कारण होता है, इसलिए सरकार को अपने अधिकार-प्रयोग में सदा नम्रता और संतुलन से काम लेना चाहिये और प्रत्येक नागरिक के साथ न्यायपूर्वक बर्तना चाहिये। कुलीनतन्त्र और धनतन्त्र एक सीमा तक जनतन्त्र की प्रवृत्ति तथा कुछ संस्थानों को अपनाकर संतुलित रह सकते हैं। पद, पुरस्कार तथा सम्मान का वितरण अधिक से अधिक व्यापक आधार पर होना चाहिए। किसी को भी यह सोचने का अवसर नहीं मिलना चाहिये कि राजनीतिक पदों पर कुछ थोड़े से व्यक्तियों का एकाधिकार है और शेष के लिए उसका दरवाजा बन्द है। राज्याधिकारियों की स्वार्थ भावना तथा रिश्वतखोरी को असम्भव बनाकर प्रशासन को बिल्कुल स्वच्छ रखना चाहिये। ऐसा करने के लिए जनता को प्रशासन की जांच पड़ताल करने का अधिकार देना आवश्यक है। समाज के

ने उनका महत्व कुछ कम कर दिया। इनके अतिरिक्त उसके राजनीतिक दर्शन में कुछ ऐसे भी सिद्धान्त है जिनका चरित्र विश्वव्यापक है, जो आज भी उतने ही सही है जितना कि अरस्तु के युग मे थे। उनकी खोज तथा निर्माण राजनीतिक विचार को उसकी मुख्य देन है। उनमे मे से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का विवरण हम यहाँ देते है।

(१) यद्यपि इस स्वयं सिद्ध सत्य का कि 'मनुष्य राजनीतिक प्राणी है' आदि प्रवर्तक अरस्तु नही था; यह तो यूनानी राजनीतिक विचार की आधारभूत धारणा है और आधुनिक विचार को उसकी एक देन है; किन्तु अरस्तु सबसे पहिला विचारक था जिसने इसे एक औपचारिक और जोरदार ढंग से अभिव्यक्त किया। यह सच है कि यह अफलातून के समस्त चिन्तन का आधार है; किन्तु उसने इसे औपचारिक अभिव्यक्ति नही दी।

(२) यही बात अरस्तु के दूसरे इस मुख्य सिद्धान्त, कि राज्य का जन्म जीवन के लिये हुआ और शुभ और सुखी जीवन के लिए वह अब तक जीवित है, के विषय मे कही जा सकती है। यह अफलातून के विचार का आधार है; किन्तु अरस्तु ने ही इसे ऐतिहासिक अभिव्यक्ति दी। मानव जीवन में राज्य के भाग को इससे सुन्दर शब्दो मे व्यक्त नही किया जा सकता।

(३) अरस्तु वह पहिला विचारक था जिसने सबसे पहिले यह महसूस किया कि राजनीति की अन्तिम समस्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य की सत्ता मे *सामंजस्य स्थापित करना है। अरस्तु के पहिले शायद किसी भी विचारक का ध्यान* इस तथ्य की ओर नही गया था। वह नही मानता कि स्वतन्त्रता का अर्थ मनमाने ढंग से जीवन व्यतीत करना है। वह कहता है कि संविधान के अनुसार रहना दासता नही मुक्ति है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता की परिभाषा सच्चे कानून का पालन करना है। कानून की प्रभुता, कानून को विशुद्ध बुद्धि समझना तथा सरकार को कानून द्वारा सीमित करने की जो धारणायें अरस्तु की हैं उनमें स्वतन्त्रता तथा सत्ता का सामंजस्य निहित है। यह उसके इस कथन मे भी निहित है कि सरकार के आचरण का अन्तिम निर्णय करने का अधिकार समस्त जनता का होना चाहिये और यह कि सर्व-धारण का मत विशेषज्ञ के निर्णय से अच्छा होता है। अरस्तु ने यह प्रश्न उठाकर और उसका हल निकालने का प्रयत्न करके सचमुच एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया, भले ही यूनान के नगर राज्य इस समस्या का हल न कर पाये हो।

(४) इसी से जुड़ा हुआ और इसी मे निहित अरस्तु का संविधानवाद (Constitutionalism) के ऊपर जोर देना है। इस एक शब्द 'संविधानवाद' में वह सब कुछ समाविष्ट है जो यूरोप तथा आज के संसार के विचार को 'पोलिटिक्स' से उत्तराधिकार में मिला है। कानून को सर्वप्रभुत्वपूर्ण बनाकर तथा सरकार को कानून के आधीन करके अरस्तु संसार भर के संविधानवादियों का जनक बन गया। सत टॉमस का कानून

के प्रति सम्मान और संविधानवाद मुख्य रूप से अरस्तू की प्रेरणा का ही परिणाम है। "अरस्तू ने सन्त टॉमस को सिखाया : सन्त टॉमस के द्वारा उसने कैथोलिक यूरोप को सिखाया . सन्त टॉमस के द्वारा उसने रिचार्ड हूकर को भी सिखाया जिसके कानून तथा सरकार के सिद्धान्त का उद्‌गम यही है ·······न्यायप्रिय हूकर लॉक के शिक्षकों में एक था · · लॉक का सिद्धान्त बर्क को मिला। अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' तथा १७वीं और १८वीं शताब्दी के अंग्रेजी राजनीतिक विचार के वातावरण में न केवल दृष्टान्त का साम्य है बल्कि एक हद तक संयोग भी है।"*

(५) अरस्तू का जनमत के महत्त्व पर जोर देना भी उल्लेखनीय है। अधिकारियों के कार्यों का निर्णय विशेषज्ञों की अपेक्षा सर्वसाधारण अधिक अच्छा कर सकते हैं और उनके निर्णय का उचित सम्मान होना चाहिये। इसीलिये सरकारी आचरण का निर्णय करने का कार्य वह जनता को सौंपता है।

(६) सरकार के कार्यों को नीति-निर्धारक, प्रशासकीय तथा न्यायिक, इन तीन भागों में विभक्त करना उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता का सूचक है। परन्तु, जैसा कि हम पहले ही कह चुके है, अरस्तू द्वारा किये गये सरकार के इन तीन अंगों को हमें आधुनिक सरकार के व्यवस्थापिक, कार्यपालिक तथा न्यायिक अंगों के तद्रूप नहीं समझना चाहिये। अरस्तू का नीति-निर्धारक अंग आधुनिक व्यवस्थापिका के बिलकुल अनुरूप नहीं है। यद्यपि इसके कुछ विधायक कार्य भी थे, यह कार्यपालिक कार्य भी करता था। इसी प्रकार मजिस्ट्रेटमण्डल को हम आधुनिक कार्यपालिका के अनुरूप नहीं कह सकते ; नीति-निर्धारक अंग का उसके ऊपर पूर्ण अधिकार था। अरस्तू के इस विभक्तीकरण को शक्ति विभाजन का सिद्धान्त समझना उचित न होगा।

(७) अन्त में, अरस्तू के राजनीतिक चिन्तन में एक अन्य विश्वव्यापी तत्त्व उल्लेखनीय है। उसने राजनीति तथा अर्थशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध को पहिचाना और इसलिये राजनीतिक संगठन तथा क्रियाओं पर आर्थिक प्रभाव को उसने बड़ा महत्त्व दिया। धनिक और दरिद्र से संघर्ष को वह सरकार सम्बन्धी बहुत सी बातों का कारण समझता है। उसने सरकारों का जो वर्गीकरण किया है और धनतन्त्र तथा जनतन्त्र के जो बहुत से विभाग किये है उनका अन्तिम आधार आर्थिक ही है। राजनीति के ऊपर अर्थशास्त्र के प्रभाव को स्पष्टतम रूप में व्यक्त करने वाला अरस्तू का यह सारगर्भित कथन है कि स्थिरता और समृद्धि सबसे अधिक सरलतापूर्वक उस

* "Aristotle taught St Thomas : through St Thomas he taught Catholic Europe . through St. Thomas he also taught Richard Hooker who drew from this origin the theory of law and gov- [illegible] .The [illegible] Hooker was in turn one of the masters of Locke. T[illegible] Lo[illegible] in turn to Burke ...There is not only an analog[illegible] tle's Politics and the climate of English poetic[illegible] and eighteenth centuries, There is also some[illegible] page LXII.

राज्य मे प्राप्त की जा सकती है जिसमे कि धन तथा दरिद्रता की चरम सीमायें नही पाई जाती और जिसमे एक शक्तिशाली मध्यवर्ग पाया जाता है। इसका तात्पर्य मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना नही है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है राजनीतिक क्रान्ति का मुख्य कारण अरस्तु जनता की इस भावना को समझता है कि उसके साथ अन्याय हो रहा है।

इसी प्रसंग में राजसत्ता के विषय मे अरस्तु के विचारो का उल्लेख करना भी आवश्यक है। राजसत्ता का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से आधुनिक धारणा है। प्राचीन यूनान और मध्यकाल की परिस्थितिया राजसत्ता के सिद्धान्त के आविर्भाव के लिये अनुकूल नही थी। अरस्तु में एक भी शब्द ऐसा नही पाया जाता जिसका अर्थ राजसत्ता लगाया जा सके। जिस बल का उसने उल्लेख किया है वह है राज्य की उच्चतम शक्ति, और उसका स्रोत वह जनता को समझता है। वह सर्वोपरि इसलिये है क्योंकि उसे न्यायरक्षकों (Magistrates) को चुनने तथा उनके कार्यकाल के समाप्त होने पर उसे उनके कार्यों का जवाब-तलब करने का अधिकार होना चाहिये। सारे आधारभूत प्रश्नों का अन्तिम रूप से निर्णय करने की शक्तियो के मिलने से ही किसी को सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति नही कहा जा सकता। राजसत्ता का अर्थ है कानून के ऊपर प्रभुता। आज की परिभाषा मे हम राजसत्ताधिकारी उसे कहते है जो कानून बताता है और स्वय उस कानून से बाध्य नही होता। अरस्तु के राज्य के सिद्धान्त मे ऐसी कोई शक्ति नहीं हो सकती क्योकि राज्य के समस्त अग और भाग समान रूप से कानून की सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति के अधीन है। राज्य मे किसी भी शक्ति का कानून के ऊपर होने का प्रश्न ही नही उठता। साराश यह कि अरस्तु के राज्य सिद्धान्त मे स्वय कानून सर्व-प्रभुत्वपूर्ण है; कोई भी शक्ति कानून की अवहेलना नही कर सकती।

जहां तक राजसत्ता का सम्बन्ध है अरस्तु की अपेक्षा अफलातून आधुनिक धारणा के अधिक निकट है क्योकि वह दर्शनिक राजा को राज्य के कानूनों के ऊपर रखता है। किन्तु दार्शनिक राजा को भी हम सच्चे अर्थों मे सर्व-प्रभुत्वपूर्ण नही कर सकते क्योकि वह कानून की सृष्टि नही करता। सच तो यह है कि प्राचीन यूनान मे राजसत्ता के आधुनिक सिद्धान्त के लिये कोई स्थान ही नही था। राज्य की शक्ति इतनी और नाना प्रकार से सीमित थी कि यह विचार ही उत्पन्न नही हो सकता था।

अरस्तु का प्रभाव—अरस्तु के राजनीतिक दर्शन की समीक्षा समाप्त करने के पूर्व अब हम यह देखेंगे कि उसका आगे आने वाले विचार पर क्या प्रभाव पड़ा है। उसका प्रभाव इतना व्यापक है कि कुछ ही राजनीतिक विचारक ऐसे होंगे जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसे अनुभव न किया हो।

लगभग एक हजार वर्षों तक अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' लुप्तप्राय रही; एपीक्यूरिन (Epicurean) और स्टोइक (Stoic) विचारकों के ऊपर, जो कि अरस्तु

नही कर सकता था । और अपने व्यक्तिगत सुख को अपने जीवन का लक्ष्य नही बना सकता था । नागरिक कार्यों मे भाग लेना व्यक्तिगत अधिकारो और कर्तव्यों से कही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था । उस समय नाटककार भी अपनी रचनाओ के ऐसे विषय ही चुनते थे जिनका कुछ नागरिक महत्त्व हो । यहाँ तक कि स्वय धर्म भी एक नागरिक विषय समझा जाता था । नगर राज्य के अध पतन से इस सब मे आमूलचूल परिवर्तन हुआ और नागरिक स्वतन्त्रता के ह्रास से सारा चित्र ही बदल गया । नाटककारो का विषय व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन हो गया और नागरिक मामलों मे उनकी रुचि समाप्त हो गई । अब नगर राज्य के प्रति यूनानियों मे विशेष उत्साह न रहा ; वह उनके विचार का केन्द्र बिन्दु न रहा । योग्य व्यक्तियो के लिये राज्य के पदो मे वह आकर्षण अब न रह गया, और नागरिक धर्म का पालन करने से लोगो को अब मानसिक सतोष मिलना बन्द हो गया । साराश यह कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के ह्रास ने जनता की देशभक्ति को कमजोर कर दिया और राज्य तथा व्यक्ति मे एक विभाजक रेखा खीच दी । मेधावी मनुष्य यह सोचने लगे कि शासन कार्य मे भाग लेना उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना कि लोग समझते थे ; अधिक से अधिक प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ भी उस क्षेत्र मे रहकर अधिक ऊचा नही उठ सकता । इसलिए नगर राज्य तथा उसके सस्थानो और मूल्यो के प्रति निषेधात्मक प्रवृत्ति तथा उसके साथ ही सार्वजनिक जीवन से विरक्त होने तथा अपने लिए एक व्यक्तिगत और निजी ससार की सृष्टि रचने की भावना का उदय होना स्वाभाविक ही था । इसलिए आचार-शास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के प्रति इतनी रुचि उत्पन्न हुई जितनी कि पहिले कभी नहीं थी ; मानो यह उन चीज का प्रतिकार था जिसे लोगो ने खो दिया था । इस प्रकार यूनानी विचारको ने नगर राज्य के विषय मे सोचना छोड़ दिया और अपना ध्यान धर्म तथा आचार-शास्त्र पर केन्द्रित कर दिया । इसका परिणाम हुआ एपीक्यूरियनिज्म तथा स्टोइसिज्म नामक दो नवीन धाराओ का आविर्भाव । उन्होने मनुष्य के सामने नागरिक राज्य के प्रति भक्ति की जगह व्यक्तिगत चरित्र तथा व्यक्तिगत आनन्द का आदर्श रखा । इस प्रकार जीवन का एक नया ढग अपनाने के लिए पुराने ढंग का परित्याग कर दिया गया ।

(३) यह मानना भूल होगी कि चिन्तन धारा मे यह नया रुख केवल उन राजनीतिक परिवर्तनो के कारण हुआ जो सिकन्दर की सैनिक विजय और नगर राज्य के ह्रास से हुए । नगर राज्य तथा उसके मूल्यो के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण के तत्व स्वय 'रिपब्लिक' और 'पॉलिटिक्स' के पृष्ठो मे ही छिपे हुए थे । पाठको को याद होगा कि अफलातून सक्रिय नागरिकता को केवल दो उच्च वर्गो, शासको तथा अभिभावको तक ही सीमित रखता है । तीसरे और सब से बड़े वर्ग को वह राजनीतिक जीवन मे भाग लेने से बिल्कुल वचित रखता है । इसी प्रकार अरस्तु नागरिकता को केवल उन्ही लोगो का विशेषाधिकारी समझता है जिनके पास राजनीतिक कार्यो मे भाग लेने की विलासिता का उपभोग करने के लिये पर्याप्त सम्पत्ति और अवकाश है ।

यद्यपि वह कृषको और शिल्पकारों इत्यादि को भी नागरिकों की श्रेणी मे शामिल करता है। नागरिकता के कार्यों को एक वर्ग विशेष का विशेषाधिकार बनाने से उनसे वंचित लोगों के मन में यह भाव उठना स्वाभाविक है कि नागरिक राज्य को सुधारने की नही, नष्ट करने की आवश्यकता है। कम से कम उपेक्षा और अवहेलना की दृष्टि से तो उसे वे देखेंगे ही।

(४) प्राचीन सिद्धान्तों के ह्रास का एक अन्य कारण भी ध्यान देने योग्य है। अरस्तु के समस्त राजनीतिक सिद्धान्त के मूल मे यह धारणा है कि यूनानी और बर्बर में भेद है और पहिला दूसरे से श्रेष्ठ है; इसके बिना दास प्रथा का कोई औचित्य नही हो सकता। अपनी यूनानी प्रजा को पूर्वी लोगों मे विलीन करने की सिकन्दर की नीति ने इस सिद्धान्त के आधार को ही समाप्त कर दिया; इससे अरस्तु की राजनीति का आधार ही निरर्थक हो गया। मनुष्य मात्र की समता का विचार उदय हुआ। और साथ ही सब पर लागू होने वाले विश्वव्यापी कानून की धारणा का आविर्भाव हुआ। इन नवीन विचारो की उद्भावना स्टोइसिज्म ने की।

"एपिक्यूरियनिज्म" तथा "स्टोइसिज्म" का विकास धीरे-धीरे उस सामाजिक और राजनीतिक परिवर्त्तन मे जो कि सिकन्दर के मरने के बाद हुआ, दो शताब्दियो में हुआ। यह युग साम्राज्य-निर्माण और सभ्यताओ के पुनर्निर्मित होने का था। ऐसी अनिश्चित स्थिति में कोई व्यवस्थित कल्प-विकल्प नही हो सकता था। इस युग मे कोई महान् राजनीतिक विचारक नही हुआ और राजनीति के ऊपर कोई महान् ग्रन्थ नही रचा गया। हाँ, जब रोम ने यूनान को विजय कर लिया और शांति तथा व्यवस्था स्थापित कर दी तब कही जाकर पोलिबियस और सिसरो ने जो हो चुका था उनकी व्याख्या करने के लिए सुनिश्चित सिद्धान्तों का निरूपण किया।

नवीन प्रणालियों का सामान्य स्वरूप—इन विचार प्रणालियों का आधारभूत चरित्र दार्शनिक था; उन्होने नैतिक समस्याओं के ऊपर विशेष ध्यान दिया और अपने अनुयाइयो के जीवन व्यवहार के लिए सुनिश्चित नियम निर्धारित किये। जीवन के प्रति जिस दृष्टिकोण का उन्होने प्रतिपादन किया वह 'रिपब्लिक' तथा 'पॉलिटिक्स' मे प्रतिपादित दृष्टिकोण से कही अधिक व्यक्तिवादी और उसके साथ ही साथ कही अधिक विश्वव्यापी था। वह व्यक्तिवादी इसलिए था क्योंकि उसके अनुसार व्यक्ति को अपने जीवन की समस्यायें सुलझानी चाहियें और समाज पर निर्भर न रह कर आनन्द की खोज करनी चाहिये और उसके जीवन का उद्देश्य स्वपर्याप्तता होनी चाहिये। वह विश्वव्यापी इसलिए था कि वह व्यक्ति को नगर राज्य की दासता से मुक्त करके उससे कही अधिक बड़े सामाजिक संगठन में दूसरे व्यक्तियो के साथ रहना सिखाता था। इन दोनो प्रणालियों मे स्टोइसिज्म अधिक महत्त्वपूर्ण है; राजनीतिक विचार पर एपीक्यूरियनिज्म की अपेक्षा उसका अधिक गहरा प्रभाव पड़ा है। बुद्धि के ऊपर आधारित नैसर्गिक कानून (Law of Nature) की धारणा इन्ही की सृष्टि है। इनके

अतिरिक्त स्केप्टीसिज्म (Scepticism) इत्यादि अन्य विचार प्रणालियाँ भी हैं ; किन्तु वे महत्वपूर्ण नहीं हैं।

एपिक्यूरियनिज्म (Epicureanism)—इसका प्रवर्तन ३०६ ई० पू० में एथेन्स में एपीक्यूरस (Epicurus) ने किया था ; इसे 'साइरेनिसिज्म' (Cyrenaicism) का ही एक विकसित रूप कहा जा सकता है जिसे अरिस्टिपस (Aristippus) ने स्थापित किया था जो अपने विचारों को प्रत्यक्ष रूप से सुकरात से लेने का दावा करता था। इसकी शिक्षा का निष्कर्ष यह है कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य अधिकतम सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति करना है। दुख और चिन्ता के अभाव को वह सुख समझता था। समाज से अधिक से अधिक स्वतन्त्र रहकर ही इसकी प्राप्ति हो सकती थी। मनुष्य को जहाँ तक हो सके सार्वजनिक जीवन की दुश्चिन्ताओं से बचना चाहिये। एपीक्यूरस ने समाज तथा सामाजिक सम्बन्धों की विवेचना ही इसलिए की ताकि उनके प्रति दार्शनिक की उपरामता पर अधिक जोर दिया जा सके। एपीक्यूरियन्स समाज से अलग रहने का समर्थन बड़ी सरलता से कर सकते थे क्योंकि उनके अनुसार समाज का आधार स्वहित है, सामाजिकता तथा सहयोग की भावना नहीं। उनकी धारणा थी कि मनुष्य तत्वतः एक स्वार्थी प्राणी है और उसमें कोई सामाजिक प्रवृत्तियाँ नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति अपनी हित साधना करना चाहता है जिसका दूसरों के हितों से प्रायः संघर्ष रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की स्वार्थ-साधना में दूसरे व्यक्तियों के स्वार्थ बाधक होते है, इसलिये मनुष्य मिलकर आपस में यह समझौता कर लेते है कि वे न तो एक दूसरे को कोई हानि या क्षति पहुंचायेंगे न स्वयं सहन करेंगे। यही सिद्धान्त आगे चलकर 'सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त' (Social Contract Theory) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १८वी शताब्दी में हॉब्स ने इसका पुनरुत्थान किया। यदि एपीक्यूरियन्स इस बात में विश्वास करते कि मनुष्यों को भावात्मक और स्वाभाविक से एक दूसरे की आवश्यकता है तो वे सामाजिक जीवन का परित्याग करने का अनुमोदन कभी न करते।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राज्य तथा उसके संस्थानों का आधार समयानुकूल आवश्यकता (Expediency) है, मानव स्वभाव नहीं। कानून का पालन करना केवल इसीलिए उचित है क्योंकि यह शान्ति और व्यवस्था स्थापित करता है तथा समाज में पारस्परिक व्यवहार को सरल बनाता है। इसलिए एपीक्यूरियन्स किसी भी ऐसी सरकार की आज्ञा पालन करने का समर्थन करते थे जो कि सुरक्षा, शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने में समर्थ हो। इस बात में उनकी दिलचस्पी न थी कि उनकी अभीष्ट सुरक्षा एक सुदृढ़ जनतन्त्र स्थापित करना है या किसी एक निरंकुश शासक की शक्ति और दया-भावना। सरकार के रूप की उन्हें कोई परवाह न थी। किन्तु वे राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ तथा सबसे अधिक शक्तिशाली सरकार समझते थे।

स्टोइसिज्म (Stoicism)—पश्चिम के राजनीतिक विचार के विकास में एपीक्यूरियनिज्म की अपेक्षा स्टोइसिज्म का अधिक महत्वपूर्ण भाग रहा है ; इसका

स्वरूप ही उससे भिन्न है। अधिकतर इसके द्वारा ही यूनानी दर्शन का रोमन न्यायशास्त्र (Jurisprudence) पर उसके शैशव काल में प्रभाव पड़ा और प्राकृतिक कानून तथा सार्वभौमिकवाद अथवा विश्व नागरिकता के विचार पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति का अंग बन गये।

स्टोइसिज्म का प्रवर्तन ३०० ई० पू० में 'जीनो, (Zeno) ने किया था। वह एक फोनिशियन (Phoenician) था और उसके माता पिता में से एक सेमिटिक (Semitic) था। इस विचारधारा के बाद प्रधान प्रचारक 'एशिया माइनर' (Asia Minor) के रहने वाले थे जहां कि यूनानियों और एशियाइयो का परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो रहा था। इस प्रकार अरस्तु की मृत्यु के बाद यूनान में पनपने वाली अन्य सभी विचारधाराओं की अपेक्षा स्टोइसिज्म का यूनान विशेष से कुछ कम सम्बन्ध था। पहिले यूनान में और फिर रोम में जहां कि सम्राट मार्कस ऑरीलियस (Marcus Aurelius), सिसरो, सैनेका (Seneca) तथा एपिक्टटिस सरीखे विचारशील व्यक्ति इसके उपासकों में गिने जाते थे, स्टोइसिज्म कई शताब्दियों तक मनुष्यों के विचारों को प्रभावित करता रहा। दूसरी शताब्दी के शिक्षित रोम निवासी तो इससे बहुत ही प्रभावित हुए।

कहा जाता है कि जीनो क्रेटीज (Crates) का शिष्य था जो कि सिनिक (Cynic) मण्डली का नेता था। इसलिए स्टोइसिज्म को हम सिनिसिज्म (Cynicism) का ही एक विकसित रूप कह सकते है। सिनिसिज्म की मूल धारणायें—पूर्ण आत्मसंयम, परिस्थितियों से स्वतन्त्रता, पूर्ण आत्म-निर्भरता तथा स्वपर्याप्तता, और प्रकृति के अनुकूल जीवन, स्टोइसिज्म का आरम्भ बिन्दु है—किन्तु यह उनकी एक विधेयात्मक और रचनात्मक व्याख्या करता है। फलतः सिनिसिज्म के एकदम निषेधात्मक तथा शून्यवादी सिद्धान्तों के बजाय स्टोइसिज्म ने विधेयात्मक और रचनात्मक विचार हमारे सामने रक्खे जो सिसरो से लेकर १८वी शताब्दी तक यूरोप के राजनीतिक विचारों को प्रभावित करते रहे।

'प्रकृति' (Nature) की धारणा स्टोइक्स के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है, 'प्रकृति' उनकी उपास्य देवी है, उनकी समस्त कामनाओं का लक्ष्य है और उनकी समस्त क्रियाओं का स्रोत है। 'प्रकृति' के अनुसार जीवन व्यतीत करना, उसके साथ एकाकार हो जाना, उनके अनुसार जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है। यह विचार उन्होंने सिनिक्स से लिया परन्तु उसकी एक भिन्न व्याख्या की। सिनिक्स का विचार था कि जीवन का ध्येय आनन्द प्राप्ति है परन्तु उसकी खोज हमें अपने अन्दर करनी चाहिये, बाहर नहीं। इसकी प्राप्ति चरित्र की पवित्रता में हो सकती है, इच्छा तृप्ति या सामाजिक क्रिया में नहीं। इसीलिये उनकी शिक्षा यह थी कि मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों से स्वतन्त्र रहना चाहिए, अपनी आवश्यकताओं को घटाकर कम से कम कर देना चाहिए और जितने भी कृत्रिम तथा परम्परागत आवश्यकतायें हैं उन्हें समाप्त कर देना चाहिए। साराश यह कि उनका लक्ष्य प्राकृतिक सरलता की ओर जाना था। इसी कारण वे

बहुत सी ऐसी बातो का प्रचार करने लगे जो न केवल अतिशयोक्तिपूर्ण है वल्कि जिनमे विरोधाभास भी है जैसे कि परम्परा सम्मत जीवन पद्धति तथा जनमत का तिरस्कार, अपने साथी मनुष्यों की संगति मे घृणा तथा व्यक्तिगत शिष्टता का अभाव। स्टोइक्स ने सिनिक्स के इस उच्छृंखल प्रकृतिवाद को ठुकराकर उसकी जगह जीवन के एक आदर्शवादी दृष्टिकोण को प्रतिस्थापित किया। उनका विश्वास है कि प्रकृति आकस्मिक घटित होने वाली घटनाओ का एक जमघट नही है, वल्कि एक बुद्धिसंगत व्यवस्था है; इसमे क्रमबद्धता है, विप्लव नही, इसमे देव और मानव दोनो शामिल है और दैविक बुद्धि इस पर शासन करती है। भौतिक तथा मानव जगत दैविक योजना का एक भाग है; यह सार्वभौमिक कानून का साकार रूप है। इसलिए प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ बुद्धि के अनुसार जीवन है; और क्योकि बुद्धि कानूनो के अनुसार कार्य करती है इसलिए प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ हुआ कानून के अनुसार जीवन। दैविक बुद्धि अपने आपको समाज के स्थापित कानूनो तथा रीति-रिवाजो मे अभिव्यक्त करती है, इसलिए उनके अनुसार आचरण करना मनुष्य का धर्म है। इसलिए स्टोइक्स सिनिक्स की तरह रीति-रिवाज और परम्पराओ से भागने के लिए नही कहते; वे यथातथ्य स्थिति के अनुसार रहने का अनुमोदन करते है; यद्यपि वे भी भाग्यचक्र तथा सामाजिक जीवन के मूल्यों की ओर से उपराम रहने की शिक्षा देते हैं।

क्योकि सर्वोत्तम जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य को प्रकृति के साथ एकरूप हो जाना चाहिए, इसलिये स्टोइसिज्म मे सामाजिक जीवन और सम्बन्धों के लिए अधिक स्थान नही हो सकता। एक मनुष्य प्राकृतिक कानून और बुद्धि के अनुसार सरलतापूर्वक अपना जीवन तभी विनियमित कर सकता है जबकि दूसरे मनुष्यों का दबाव उस पर न पड़े। इसलिए उसे राजनीतिक क्रियाओ से बचना चाहिए और जहाँ तक हो सके सामाजिक सम्बन्ध स्थापित नही करने चाहियें। जैसा कि हम पहिले कह चुके है, स्टोइक्स का ध्येय स्वपर्याप्तता तथा आत्म-निर्भरता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव जीवन में नियामक तथा नियत्रक शक्ति आचार-शास्त्र है, राजनीति-शास्त्र नही; यह आवश्यक नही कि एक अच्छा मनुष्य एक अच्छा नागरिक भी हो; दोनो के लिए अलग-अलग गुणों की आवश्यकता है। इसका अर्थ हुआ आचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र का एक दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग हो जाना। राज्य एक व्यक्ति के लिए एक अच्छे जीवन का अपरिहार्य साधन अब नहीं रह जाता।

क्योकि प्रकृति एक क्रमबद्ध और बुद्धिसंगत इकाई है, इसलिए प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ है बुद्धि द्वारा विनियमित जीवन। बुद्धि सार्वभौमिक है; एक ही बुद्धि सर्वत्र व्याप्त है और उसका प्रत्येक वस्तु पर शासन है। इसलिए समस्त मनुष्यो के लिए केवल एक जीवन मार्ग हो सकता है चाहे उनकी जाति और राष्ट्रीयता कुछ भी क्यों न हो। विभिन्न राज्यो के सदस्यो के लिए विभिन्न मार्ग नही हो सकते। इसलिए स्टोइक्स इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्यो को अलग-अलग राज्यो मे रहना छोड देना चाहिये जिनमे कि न्याय की विभिन्न कल्पनाओ ने विभिन्नतायें उत्पन्न कर रक्खी

है। समस्त मानव प्राणी एक महान् तथा पवित्र भ्रातृत्व में एक दूसरे के साथी और मित्र हैं। प्राकृतिक कानून का पालन करने का भाव उन सबको एक ही महान् समाज मे गूथता है। उन्हे सभी मनुष्यों को एक नगर—प्रभु का नगर—का सदस्य समझना चाहिये जिनका एक ही जीवन मार्ग है और जिनमे एक ही व्यवस्था है। इस प्रकार व्यक्ति को नगर-राज्य की संकुचित सीमाओ से ऊँचा उठा कर उसे विश्व नागरिक बना दिया गया है। यह है स्टोइक्स का सार्वभौमिकवाद।

निस्सन्देह यह देवनगर जिसका कि व्यक्ति सदस्य है, कोई वास्तविक नगर नही है, भूतल पर इसका कोई अस्तित्व नही है; अफलातून की 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य की भांति इसका नमूना भी स्वर्ग मे ही पाया जाता है। कान्ट (Kant) की प्रसिद्ध धारणा—'लक्ष्य राज्य' (Kingdom of Ends) से भी इसकी तुलना की जा सकती है। परन्तु यह केवल निषेधात्मक धारणा ही नही है। 'विश्व नागरिक' उक्ति से वह वास्तविक सौहार्द अभिव्यक्त होता है जो समस्त मनुष्यों मे पाया जाता है चाहे वे किसी भी जाति या राष्ट्र के क्यों न हो; इसका अर्थ यह है कि इस महान् परिवार के सदस्य होने के नाते सब मनुष्य भाई-भाई और समान हैं; एक ही प्राकृतिक कानून के विनियमन द्वारा उनके व्यक्तिगत जीवन में तालमेल स्थापित होनी चाहिये।

इस बात से कि सभी मनुष्यो में एक सार्वभौमिक बुद्धि का सामान्य प्रकाश है और वे एक ही आधारभूत कानून के अधीन हैं प्राकृतिक समता का सिद्धान्त नि.सृत होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है एक महान् मानव परिवार के घटक होने के नाते हम सब भाई-भाई हैं और हमारे सबके समान अधिकार हैं। मनुष्यो की प्राकृतिक असमानता का जिसके ऊपर अफलातून और अरस्तु के सिद्धान्त आधारित थे स्टोइक्स कड़ा विरोध करते थे। दास प्रथा के वे स्वाभाविक विरोधी थे।

सार्वभौमिक प्राकृतिक कानून, सार्वभौमिक नागरिकता, तथा मानव की प्राकृतिक समानता स्टोइक आदर्श थे। परन्तु यूनानी स्टोइक्स ने उन्हें राजनीतिक जीवन में लागू करने का कोई प्रयत्न नही किया। यह काम आगे चलकर रोमन स्टोइक्स ने किया। रोमन साम्राज्य की स्थापना के साथ सार्वभौमिक कानून और सार्वभौमिक नागरिकता वास्तविक तथ्य हो उठे। 'प्राकृतिक कानून' के विचार तथा इस विश्वास को कि न्याय के कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो मानव मात्र के लिए सामान्य है रोमन न्यायविदो (Jurists) तथा न्यायाधीशों ने अपनाया जिनका मत समस्त सभ्य संसार में कानून समझा जाता था; मानव भ्रातृत्व की धारणा को ईसाइयत ने अपनाया, उसको प्रसारित किया और आधुनिक संसार तक पहुचाया जिसके बड़े गहरे परिणाम निकले।

राजनीतिक विचार को एपीक्यूरियनिज्म तथा स्टोइनिज्म की क्या देन है इसका बड़ा भव्य चित्र निम्नांकित उद्धरण में खींचा गया है:

बहुत सी ऐसी बातों का प्रचार करने लगे जो न केवल अतिशयोक्तिपूर्ण हैं बल्कि जिनमें विरोधाभास भी है जैसे कि परम्परा सम्मत जीवन पद्धति तथा जनमत का तिरस्कार, अपने साथी मनुष्यों की संगति से घृणा तथा व्यक्तिगत शिष्टता का अभाव। स्टोइक्स ने सिनिक्स के इस उच्छृंखल प्रकृतिवाद को ठुकराकर उसकी जगह जीवन के एक आदर्शवादी दृष्टिकोण को प्रतिस्थापित किया। उनका विश्वास है कि प्रकृति आकस्मिक घटित होने वाली घटनाओं का एक जमघट नहीं है, बल्कि एक बुद्धिसंगत व्यवस्था है; इसमें क्रमबद्धता है, विप्लव नहीं, इसमें देव और मानव दोनों शामिल हैं और दैविक बुद्धि इस पर शासन करती है। भौतिक तथा मानव जगत दैविक योजना का एक भाग है; यह सार्वभौमिक कानून का साकार रूप है। इसलिए प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ बुद्धि के अनुसार जीवन है; और क्योंकि बुद्धि कानूनों के अनुसार कार्य करती है इसलिए प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ हुआ कानून के अनुसार जीवन। दैविक बुद्धि अपने आपको समाज के स्थापित कानूनों तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त करती है, इसलिए उनके अनुसार आचरण करना मनुष्य का धर्म है। इसलिए स्टोइक्स सिनिक्स की तरह रीति-रिवाज और परम्पराओं से भागने के लिए नहीं कहते; वे यथातथ्य स्थिति के अनुसार रहने का अनुमोदन करते हैं; यद्यपि वे भी भाग्यचक्र तथा सामाजिक जीवन के मूल्यों की ओर से उपराम रहने की शिक्षा देते हैं।

क्योंकि सर्वोत्तम जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य को प्रकृति के साथ एकरूप हो जाना चाहिए, इसलिये स्टोइसिज्म में सामाजिक जीवन और सम्बन्धों के लिए अधिक स्थान नहीं हो सकता। एक मनुष्य प्राकृतिक कानून और बुद्धि के अनुसार सरलतापूर्वक अपना जीवन तभी विनियमित कर सकता है जबकि दूसरे मनुष्यों का दबाव उस पर न पड़े। इसलिए उसे राजनीतिक क्रियाओं से बचना चाहिए और जहाँ तक हो सके सामाजिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करने चाहियें। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, स्टोइक्स का ध्येय स्वपर्याप्तता तथा आत्म-निर्भरता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव जीवन में नियामक तथा नियंत्रक शक्ति आचार-शास्त्र है, राजनीति-शास्त्र नहीं; यह आवश्यक नहीं कि एक अच्छा मनुष्य एक अच्छा नागरिक भी हो; दोनों के लिए अलग-अलग गुणों की आवश्यकता है। इसका अर्थ हुआ आचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र का एक दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग हो जाना। राज्य एक व्यक्ति के लिए एक अच्छे जीवन का अपरिहार्य साधन अब नहीं रह जाता।

क्योंकि प्रकृति एक क्रमबद्ध और बुद्धिसंगत इकाई है, इसलिए प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ है बुद्धि द्वारा विनियमित जीवन। बुद्धि सार्वभौमिक है; एक ही बुद्धि सर्वत्र व्याप्त है और उसका प्रत्येक वस्तु पर शासन है। इसलिए समस्त मनुष्यों के लिए केवल एक जीवन मार्ग हो सकता है चाहे उनकी जाति और राष्ट्रीयता कुछ भी क्यों न हो। विभिन्न राज्यों के सदस्यों के लिए विभिन्न मार्ग नहीं हो सकते। इसलिए स्टोइक्स इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्यों को अलग-अलग राज्यों में रहना छोड़ देना चाहिये जिनमें कि न्याय की विभिन्न कल्पनाओं ने विभिन्नतायें उत्पन्न कर रखी

है। समस्त मानव प्राणी एक महान् तथा पवित्र भ्रातृत्व में एक दूसरे के साथी और मित्र हैं। प्राकृतिक कानून का पालन करने का भाव उन सबको एक ही महान् समाज में गूथता है। उन्हें सभी मनुष्यों को एक नगर—प्रभु का नगर—का सदस्य समझना चाहिये जिनका एक ही जीवन मार्ग है और जिनमें एक ही व्यवस्था है। इस प्रकार व्यक्ति को नगर-राज्य की संकुचित सीमाओं से ऊँचा उठा कर उसे विश्व नागरिक बना दिया गया है। यह है स्टोइक्स का सार्वभौमिकवाद।

निस्सन्देह यह देवनगर जिसका कि व्यक्ति सदस्य है, कोई वास्तविक नगर नही है, भूतल पर इसका कोई अस्तित्व नही है; अफलातून की 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य की भांति इसका नमूना भी स्वर्ग में ही पाया जाता है। कान्ट (Kant) की प्रसिद्ध धारणा—'लक्ष्य राज्य' (Kingdom of Ends) से भी इसकी तुलना की जा सकती है। परन्तु यह केवल निषेधात्मक धारणा ही नही है। 'विश्व नागरिक' उक्ति से वह वास्तविक सौहार्द अभिव्यक्त होता है जो समस्त मनुष्यों में पाया जाता है चाहे वे किसी भी जाति या राष्ट्र के क्यों न हो; इसका अर्थ यह है कि इस महान् परिवार के सदस्य होने के नाते सब मनुष्य भाई-भाई और समान है; एक ही प्राकृतिक कानून के विनियमन द्वारा उनके व्यक्तिगत जीवन में तालमेल स्थापित होनी चाहिये।

इस बात से कि सभी मनुष्यों में एक सार्वभौमिक बुद्धि का सामान्य प्रकाश है और वे एक ही आधारभूत कानून के अधीन है प्राकृतिक समता का सिद्धान्त निःसृत होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है एक महान् मानव परिवार के घटक होने के नाते हम सब भाई-भाई है और हमारे सबके समान अधिकार हैं। मनुष्यो की प्राकृतिक असमानता का जिसके ऊपर अफलातून और अरस्तु के सिद्धान्त आधारित थे स्टोइक्स कड़ा विरोध करते थे। दास प्रथा के वे स्वाभाविक विरोधी थे।

सार्वभौमिक प्राकृतिक कानून, सार्वभौमिक नागरिकता, तथा मानव की प्राकृतिक समानता स्टोइक आदर्श थे। परन्तु यूनानी स्टोइक्स ने उन्हें राजनीतिक जीवन में लागू करने का कोई प्रयत्न नही किया। यह काम आगे चलकर रोमन स्टोइक्स ने किया। रोमन साम्राज्य की स्थापना के साथ सार्वभौमिक कानून और सार्वभौमिक नागरिकता वास्तविक तथ्य हो उठे। 'प्राकृतिक कानून' के विचार तथा इस विश्वास को कि न्याय के कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो मानव मात्र के लिए सामान्य है रोमन न्यायविदों (Jurists) तथा न्यायाधीशों ने अपनाया जिनका मत समस्त सभ्य संसार में कानून समझा जाता था; मानव भ्रातृत्व की धारणा को ईसाइयत ने अपनाया, उसको प्रसारित किया और आधुनिक संसार तक पहुंचाया जिसके बड़े गहरे परिणाम निकले।

राजनीतिक विचार को एपीक्यूरियनिज्म तथा स्टोइसिज्म की क्या देन है इसका बड़ा भव्य चित्र निम्नांकित उद्धरण में खींचा गया है:

"इस प्रकार दो प्रसिद्ध दर्शनधारायें, नगर-राज्य का अतिक्रमण करती हुई, एक सार्वभौमिक जीवन की प्रक्रिया को समझने तथा व्यक्ति के एकान्त की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न में एकमत हैं। दोनों ही जीवन तथा संस्थानों के पीछे एक विशेष नमूना देखती है यद्यपि उसका मानव जीवन के मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'स्टोइक्स' एक कदम आगे बढ़ते है और कहते हैं कि 'प्राकृतिक कानून' अथवा दैविक शक्ति संसार पर शासन करती है जिससे पाप का प्राधान्य होते हुई भी अच्छे मनुष्यों का धर्म है जीवन के उच्चतर मूल्यों की रक्षा करना जो स्वयं अपना पुरस्कार है। यह वह देन है जो 'स्टोइसिज्म' ने 'रोमन कानून' तथा ईसाइयत दोनों को दी है। प्रकृति का नैतिक कानून जो कि सब मनुष्यों पर लागू होता है, बड़ी-बड़ी सरकारों के पीछे उनकी शक्ति का स्रोत बन सकता है। सिसरो की परिभाषाओं को अपना कर और एक कानूनी भाषा में अनूदित होकर वह मध्य युग और उससे आगे के काल में आया।"*

* 'Thus the two famous philosophies, transcending the city state, unite in apprehending a universal life process and in attempting to meet the needs of individual loneliness. Both discern a pattern behind life and institutions, though it is indifferent to human values. The Stoics go farther and maintain that Natural Law or Providence governs a world in which, through all the preponderance of evil, it is the duty of good men to uphold the nobler values which are their own reward Here, then, is the contribution which Stoicism made both to Roman Law and Christianity. A moral law of nature comprehending all men can become the sanction behind large scale government; translated into Roman legal terms, following the definitions, of Cicero, it was transmitted to middle ages and beyond.'

—Bowle: *Western Political Thought*, pgae 85.

९ रोमन राजनीतिक विचार

परिचयात्मक—प्राचीन यूनानियों के राजनीतिक विचार से चलकर जब हम प्राचीन रोमन्स के विचार पर आते हैं तो हमें एक भिन्न मानसिक वातावरण का अनुभव होता है। इन दोनों जातियों के देशीय गुणों तथा शक्तियों में बहुत बड़ा अंतर था। यूनानी अत्यन्त मेधावी लोग थे; उन्होंने मानव जाति को विभिन्न दार्शनिक *प्रणालियों, वैज्ञानिक ज्ञान, नाटक, इतिहास इत्यादि के रूप में अमूल्य निधि दी है,* राजनीतिक क्षेत्र में उन्होने विवेकपूर्ण वाद-विवाद तथा सक्रिय नागरिकता के विचारो की देन दी है। रोमन्स का मस्तिष्क विचारप्रधान नही था; वे व्यवहार प्रधान थे और उनका मस्तिष्क कानूनची था। उन्होंने एक विश्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना की और मानव जाति को एक बहुत विकसित तथा समृद्ध कानून तथा न्यायशास्त्र (Jurisprudence) दिया। राजनीतिक विज्ञान के विद्यार्थी के लिए रोम का अर्थ ही ही कानून तथा न्याय शास्त्र है यद्यपि रोम ने किसी ऐसे ऊंचे विचारक को जन्म नही दिया जिसे अफलातून और अरस्तु की श्रेणी मे रक्खा जा सके और रोमन विचारकों ने राजनीति विज्ञान को कोई उल्लेखनीय देन नही दी तथापि सभ्यता के कोष को रोम वालों ने एक महान् देन दी है। रोम की देन इस बात में है कि उसने यूनान से जो कुछ सीखा था उसे पश्चिमी यूरोप की उन उत्थानोन्मुखी जातियों को दिया जो कि उसके फैलते हुए साम्राज्य के कारण उसकी संस्कृति के प्रभाव में आये। कई शताब्दियों तक राजनीतिक रोमन शिक्षक तथा विचारक समस्त संसार में यूनानी विचार की *व्याख्या* करते रहे और उसका प्रसार करते रहे। परन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि यूनान के राजनीतिक विचारों की व्याख्या, प्रसार तथा प्रचार करने में रोमन विचारको ने अपनी प्रवृत्ति और दृष्टि का कुछ रंग भी उन पर चढाया। इस प्रसंग मे दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि यद्यपि रोम अफलातून और अरस्तु को जानता था और इन दो महान् विचारको की कुछ कृतियो का वहा अनुवाद किया गया और पढ़ा गया, किन्तु इनका रोमन राजनीतिक विचार के ऊपर कोई बड़ा प्रभाव नही पड़ा। रोमन्स ने जिन विचारो की व्याख्या की और पश्चिमी योरुप में इन्हे फैलाया वे अधिकतर हैलिनिस्टिक (Hellenistic) यूनान थे। स्टोइक दर्शन को रोम मे अनुकूल भूमि मिली। व्यवहार-प्रधान रोमन्स के हाथ में पड़कर इसमे संशोधन हुआ और रोमन कानून तथा न्यायशास्त्र के विकास में उसे अपनाया गया जिसके

परिणाम बहुत गहरे निकले जैसा कि पहिले ही उल्लिखित किया जा चुका है, राजनीतिक विचार के सामान्य विकास में रोम ने अपनी देन अपने कानून और न्यायशास्त्र द्वारा दी है। इन्हीं के द्वारा रोम ने हैलिनिस्टिक यूनान की बौद्धिक थाती—सार्वभौमिक कानून, प्राकृतिक कानून, मनुष्य मात्र का भ्रातृत्व तथा विश्वनागरिकता के विचारों को जो कि स्टोइक चिन्तन के आधार थे, पाश्चात्य संसार तक पहुँचाया।

रोम का राजनीतिक जीवन—रोम ने अपने राजनीतिक जीवन का आरम्भ प्राचीन यूनानी राज्यों की तरह एक राजतन्त्री नगर राज्य के रूप में किया और एक गणतन्त्र के रूप में महत्ता प्राप्त की। अपने पतन काल में वह साम्राज्यवादी और निरंकुश हो गया। राजतन्त्री सरकार के बदले में गणतन्त्री व्यवस्था किस प्रकार कायम हुई और अभिजात्य वर्ग तथा जन-साधारण के पारस्परिक संघर्ष को किस प्रकार दूर किया गया और तत्पश्चात् रोम किस प्रकार संसार के सब से बड़े साम्राज्य का स्वामी बना, इन सब बातों का यहाँ वर्णन करना आवश्यक नहीं। यहाँ पर हम केवल इस बात का वर्णन करेंगे कि उसने अपने तथा अपने नये उपनिवेशों की कानूनी प्रणालियों में किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित करके एक व्यापक तथा सार्वभौमिक कानून प्रणाली तथा न्याय-शास्त्र को जन्म दिया, क्योंकि हम पहिले ही कह चुके हैं कि इन्ही दो चीजों के द्वारा उसने यूनानी दर्शन को आत्मसात् किया, उसे भावी संतति को दिया और पश्चिम के राजनीतिक विचार की विकास धारा को प्रभावित किया।

यूनान का रोम पर प्रभाव—रोम पर यूनान के बौद्धिक प्रभाव ने एक बड़ी हद तक रोमन कानून के विकास की रूप-रेखा को निर्धारित किया। यह प्रभाव बहुत पहले ही पड़ना आरम्भ हो गया था, ऐसा लगता है। बहुत लोगों का विश्वास था कि रोमन कानून को 'बारह तालिकाओं' (Twelve Tables) में सजोने का एक बहुत बड़ा कारण यूनानियों का प्रभाव था; ये तालिकायें यूनानी नगरो से लिये हुए कानूनों के ऊपर आधारित थी। यूनान के रोम के अधिकार में आजाने के बाद रोम का यूनान के ऊपर प्रभाव बहुत बढ़ गया। रोम मे बहुत से यूनानी बन्धको (Hostages), राजदूत तथा दासों के रूप मे मौजूद थे; उनके द्वारा यह प्रभाव पडना सम्भव हो सका। अपने लडको को अध्ययन के लिये या तो यूनान भेजना या अपने घरो में ही यूनानी शिक्षको को रखना रोम के ऊंचे घरानो का एक फैशन हो गया। स्टोइक दर्शन को, जो उस समय यूनान मे जनप्रिय था, रोम ने अपनाया और उसे अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा तथा प्रवृत्ति के अनुसार सशोधित किया। कानून प्रणाली को मानवतावादी तथा नैतिक आधार पर रखने मे इसका सबसे बडा भाग है।

रोमन कानून का विकास—एक गणतन्त्र के रूप मे भी रोम का विदेशियो से काफी सम्बन्ध था क्योंकि वाणिज्य तथा अन्य कामो के लिये काफी विदेशी रोम में रहते थे जिनकी मौजूदगी ने न्याय प्रशासन के लिये कुछ विशेष समस्याये उत्पन्न की। रोमन कानून केवल रोमन नागरिको के लिये था। रोम अपने नागरिकता के

ाधिकार रोम में रहने वाले निवासियों तथा अपने नये उपनिवेशों के प्रजाजनों को ने के लिये तैयार न था ; इसलिये उनके पारस्परिक तथा रोमन नागरिकों के साथ सम्बन्ध रोमन कानून के अनुसार निर्धारित नहीं हो सकते थे। किन्तु स्वयं विदेशियों के बीच में और रोमन नागरिकों तथा विदेशियों अथवा उसके उपनिवेशों के प्रजाजनों के बीच में निरन्तर झगड़े उठते रहते थे जिनका निपटारा होता था ; उनके साथ न्याय होना था। ऐसे मामलों का निर्णय करने के लिये एक विशेष मजिस्ट्रेट जिसे प्रेटर पेरीग्रीनस (*Praetor Peregrinus*) कहते थे, नियुक्त किया जाता था। उसके निर्देशन के लिये न तो कोई विधि थी और न कोई तात्विक कानून, उससे आशा यह की जाती थी कि वह वाद के पक्षों के विभिन्न रीति-रिवाजों को ध्यान में रखते हुये उनमें सामान्य तत्वों के अनुसार निर्णय करेगा। बौद्धिक सिद्धान्तों तथा नैतिक मान्यताओं के अनुसार विधि के नियम निर्धारित करने की उसे स्वतन्त्रता थी। ऐसा करने में साधारणतया प्रेटर तात्विक कानून की रचना भी करता था। अपनी न्यायविधि के अन्त में प्रेटर अपने आदेशों को सग्रह कराके उन्हें प्रकाशित करा देता था। यद्यपि शुरु-शुरु में प्रत्येक प्रेटर अपने पूर्वगामी प्रेटर्स के नियमों पर निर्भर करना आवश्यक नहीं समझा जाता था किन्तु शने शनैः यह प्रथा पड़ गई कि प्रत्येक नव-नियुक्त प्रेटर

वैधि का निकास

। नई स्थितियों

जाते थे और

उन पुराने नियमों को संशोधित कर दिया जाता था जो या तो अव्यवहारिक पाये जाते थे या जो तर्क और न्याय के विरुद्ध थे। इन नियमों को सामूहिक रूप से सार्वभौमिक विधि (*Jus gentium*) की सज्ञा दी गई। इसका मतलब उन सिद्धान्तों से है जो कि विभिन्न जातियों के कानूनों तथा परम्पराओं के लिए सामान्य थे और इसीलिए जो साधारणतया सभी को मान्य थे। उनमें से कुछ को तर्कसंगत भी समझा जाता, चाहे वे किसी भी कानून प्रणाली में क्यों न हो।

सार्वभौमिक कानून (*jus gentium*) कई मूलभूत बातों में रोम के नागरिक कानून (*jus civile*) से जिसके अनुसार रोमन नागरिकों के पारस्परिक वादों का निर्णय होता था, भिन्न था : यह विभिन्न जातियों के सामान्य आचरणों और परम्पराओं के ऊपर आधारित नियमों का सग्रह था ; यह निरा रोमन न था जैसा कि नागरिक कानून था। इसलिये यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिये सामान्य था। इसका निर्माण किसी व्यवस्थापिका द्वारा नहीं होता था और न ही इसका आधार जन-साधारण की इच्छा थी ; इसकी रचना न्यायिक और प्रशासनिक पदाधिकारियों द्वारा होती थी। यह निराकार न्याय के सिद्धान्तों का साकार रूप था। सार्वभौमिक कानून का एक भाग स्टोइक दर्शन से लिया गया था। उसके मानव-भ्रातृत्व तथा सार्वभौमिकवाद के सिद्धान्तों ने एक हद तक उस बर्ताव को निर्धारित किया जो कि गणतन्त्री युग के अन्तिम दिनों में विदेशियों के साथ किया जाता था। इस प्रकार सार्वभौमिक कानून प्राकृतिक कानून (*jus naturale*) के बहुत निकट आ गया जो कि स्टोइक

दर्शन की शिक्षाओं में इतना महत्वपूर्ण स्थान रखता था और रोमन कानून की आरम्भिक अवस्था में तो इन दोनों में सरलतापूर्वक विभेद भी नहीं किया जा सकता था। प्रोफेसर मैकेलवेन का विचार है कि प्रारम्भिक न्यायविदों ने स्टोइसिज्म के सिद्धान्तों तथा इटली के स्थानीय कानूनों को एक जगह विलीन करके रोमन कानून को दार्शनिक तत्त्व प्रदान किया। यह विलीनीकरण सार्वभौमिक तथा कानून तथा नैसर्गिक कानून में लगभग एकरूपता के कारण था। प्रारम्भिक न्यायविदों को इन दोनों में एकरूपता देखने में कोई कठिनाई न थी क्योंकि उन्हें प्रचलित दर्शनधारा का समुचित ज्ञान था और उनकी दृष्टि केवल कानून तक ही सीमित न थी, वे उससे बहुत आगे का देखते थे। रोमन कानून उस समय अपनी शैशवावस्था में था और उस पर बाहरी प्रभाव सरलता से पड़ सकता था; आगे चल कर इसमें बड़ी जटिलता आ गई और यह एक टेक्निकल विज्ञान बन गया। उसके इस प्रारम्भिक लचीलेपन का परिणाम यह हुआ कि उन दिनों के यूनानी विचारकों द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक सिद्धान्तों को 'इटली के रीति-रिवाजों के ऊपर आधारित सिद्धान्तों के साथ मिलाया गया और यह सम्मिश्रण आगे चलकर पश्चिमी यूरोप की नई जातियों के कानून और राजनीति का आधार बना। यह सम्मिश्रण और प्रत्यावर्तन पश्चिमी राजनीतिक विचारों के विकास को रोम की मुख्य देन है और इसका व्यावहारिक महत्त्व किसी से कम नहीं है।'*

सार्वभौमिक कानून तथा प्रकृति कानून, दोनों में यह बातें सामान्य थीं कि (१) कुछ नियम सर्वमान्य सिद्धान्त है, और (२) वे सिद्धान्त है जिन्हें मौलिक रूप से तर्कसगत समझा जाता था चाहे वे किसी भी कानून पद्धति में क्यों न पाये जायें। इस हद तक प्रारम्भिक न्यायविद इन दोनों में कोई भेद न करते थे; किन्तु आगे चलकर न्यायविदों ने इन दोनों में विभेद कर दिया। उन्होंने देखा कि दास-प्रथा जैसे व्यवहारों को जो बहुत सी जातियों की कानून प्रणालियों के लिये सामान्य थे, सार्वभौमिक कानून में तो शामिल किया जा सकता है किन्तु न्यायपूर्ण और बुद्धिसगत मानकर उन्हें प्राकृतिक कानून की श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता। इस प्रकार प्राकृतिक कानून को किसी देश विशेष के कानूनों से श्रेष्ठ समझा जाने लगा; उसे वह कसौटी समझा गया जिस पर कि वास्तविक राज्यों के कानूनों को कसा जाना चाहिये और जिसके अनुसार उसकी आलोचना होनी चाहिये; यह एक बौद्धिक तथा सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के स्वभाव के लिये योग्यता का एक आधारभूत सिद्धान्त बन गया जोकि किसी भी मानवकृत कानून का औचित्य है और होना चाहिए।'† कानून के सामने समानता, ईमानदारी के साथ कर्त्तव्य पालन करना, न्यायपूर्वक बर्ताव करना, शब्दों की अपेक्षा उद्देश्य का अधिक महत्व, आश्रितों की रक्षा, अपने सगोत्रों के दावों

* McIlwain : *Ibid*, page 105.

† Sir Frederick Pollock : *History of the Law of Nature*, quoted by Sabine.

को अधिक मान्यता देना इत्यादि को साधारणतया सामाजिक प्राणी के नाते मनुष्य के स्वभाव से उद्भूत योग्यता के सिद्धांत समझा जाता था। इन्हीं के प्रकाश में राज्य के मानवकृत कानूनों की व्याख्या और समीक्षा की जा सकती थी। इस प्रकार प्राकृतिक कानून का अभिप्राय मानवकृत कानून की एक गहरी और नैतिक समीक्षा थी।

साम्राज्य की छत्रछाया में कानून का विकास—उपरोक्त समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने राजनीतिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में रोम में कानून की तीन विभिन्न प्रणालियां थीं; नागरिक कानून, सार्वभौमिक कानून तथा प्राकृतिक कानून। नागरिक कानून 'बारह तालिकाओं' के ऊपर आधारित नियमों का संग्रह था जिसके अनुसार रोमन नागरिकों के सम्पत्ति तथा परिवार सम्बन्धी अधिकार निर्धारित होते थे; जबकि अनागरिकों अर्थात् रोम में रहने वाले विदेशियों तथा रोमन उपनिवेशों की प्रजा के बीच के सम्बन्ध सार्वभौमिक कानून के अनुसार निर्धारित होते थे। प्राकृतिक कानून दार्शनिकों की चीज था और न्याय रक्षकों तथा न्यायविदों के कार्य को प्रभावित करता था। साम्राज्य के अन्तर्गत इन तीनों के एक धारा में समावेश हो जाने से एक नवीन सम्पूर्ण बन गया और साम्राज्य के समस्त प्रजाजनों पर लागू होने वाले एक विश्वव्यापी कानून का जन्म हुआ। तीनों का यह विलीनीकरण और एकीकरण कुछ-कुछ निम्नांकित ढंग से हुआ।

प्रारम्भ में रोम का कानून 'बारह तालिकाओं' (Twelve Tables) में संगृहीत था; उस समय जीवन सरल था और कानूनी धारणायें तथा सम्बन्ध प्रारम्भिक थे। जैसे ही नगर-राज्य की वृद्धि हुई और जीवन अधिक जटिल हो गया, नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में यह असमर्थ सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त जब उन्होंने अपने आप की अनागरिकों से तुलना की जिनके मामलों का निर्णय उस सार्वभौमिक कानून के अनुसार होता था जिसमें एक अति सभ्य और संस्कृत समाज की परम्परायें सन्निहित थीं तो उन्होंने अपने को प्रतिकूल स्थिति में पाया। इस प्रकार सार्वभौमिक कानून तथा नागरिक कानून को एक जगह विलीन करने की माग उत्पन्न हुई। एक अत्यन्त केन्द्रीभूत साम्राज्यवादी प्रशासन के अन्तर्गत इस विलीनीकरण की प्रवृत्ति को बहुत अधिक सम्बल मिला। साम्राज्य के कोने-कोने से सम्राट के पास आवेदन-पत्र आते थे जिसने अपनी सहायता के लिए बहुत ही योग्य तथा दक्ष न्यायविदों की सेवायें प्राप्त कीं। नागरिक कानून तथा सार्वभौमिक कानून का समन्वय करके एक सम्पूर्ण तैयार करना उन न्यायविदों का कार्य था। जैसा कि ऊपर ही कहा जा चुका है, सार्वभौमिक कानून में बहुत से प्रेटर्स के आदेश तथा बहुत से भिन्न-भिन्न और कुछ परस्पर विरोधी विचार तथा रीति-रिवाज शामिल थे। उस ढेर में से न्यायविदों को ऐसे नियमों को छाटना पड़ा जो कि सामान्य सिद्धांतों के अनुकूल थे और जिन्हें समस्त रोमन पर लागू किया जा सकता था। इस चयन और संग्रहीकरण के कार्य को समुचित रूप से सम्पन्न करने के लिए न्याय तथा अधिकार के स्वरूप को जानना आवश्यक था, जिसके लिए प्राकृतिक कानून का ज्ञान अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकता था।

साम्राज्य के वकील तथा न्यायविद कोरे अधिवक्ता (Advocates) ही नहीं थे; वे कानून के पंडित थे और स्टोइसिज्म की विश्वव्यापी कानून तथा मानव-भ्रातृत्व की भावनाओं से ओत-प्रोत थे और इसीलिए उस कानून को जिसे कि उन्होंने बनाया एक नैतिक स्वरूप दे सके। उन्होंने वास्तविक और कल्पित मामलों तथा सामान्य कानूनी सिद्धांतों की विवेचना की। उन्होंने जो कुछ किया उसमें से एक बुद्धिसंगत संहिता प्रणाली का विकास हुआ जिसमें सभी प्रकार के मामले आ जाते थे। उन्होंने केवल यथार्थ कानून को ही व्यक्त नहीं किया; उन्होंने उसमें मानवतावादी तथा सार्वभौमिकवादी स्टोइक दर्शन के प्रकाश में सुधार किया और उसके भागों को वह सामान्यता और व्यापकता प्रदान की जिसका आधार बुद्धि है। इस प्रकार नागरिक कानून सार्वभौमिक कानून तथा प्राकृतिक कानून को एक जगह मिलाकर जगतविख्यात 'रोमन कानून' की उद्भावना हुई। इस प्रक्रिया में प्राकृतिक कानून अधिक व्यावहारिक हो उठा; सार्वभौमिक कानून से सम्बद्ध होकर वह स्वर्ग से धरती पर उतर आया। और सार्वभौमिक कानून अधिक सामान्य हो गया। रोम का दृष्टिकोण अधिक मानवी हो गया और कम संकुचित रह गया, उसका मूलतः व्यावहारिक चरित्र स्टोइसिज्म से लिए हुये न्याय के व्यापक आदर्श को पाकर अधिक भव्य हो उठा। रोमन कानून के विभिन्न स्वरूपों और अंगों *jus civile, jus gentium* तथा *jus naturale* का अनुवाद क्रमशः नागरिक कानून, सार्वभौमिक कानून तथा प्राकृतिक कानून किया है। यद्यपि हिन्दी के ये शब्द अंग्रेजी शब्दों के भाव को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाते क्योंकि प्रचलित अभिव्यंजना में इनका अर्थ संकुचित होता है, किन्तु अधिक उपयुक्त शब्दों के अभाव में इनका प्रयोग करना ही पड़ा।

रोम की कानून विषयक धारणा—रोमन कानून के विकास का जो विवरण हमने ऊपर दिया उसका अन्तिम फल हुआ कानून की एक नवीन धारणा की उद्भावना जो कि परम्परावादी यूनानी विचार से एकदम भिन्न थी। यूनानियों ने कानून को धर्म तथा आचार-शास्त्र से अलग नहीं किया। यूनानी मस्तिष्क में यह विचार कभी नहीं आया कि कानून का स्रोत एक श्रेष्ठ मानव की इच्छा है। उनके लिए कानून विशुद्ध और निर्लिप्त बुद्धि की अभिव्यंजना था और उसकी *मान्यता* का आधार नैतिक या धार्मिक था। हो सकता है कि पहिले रोमनों के मन में भी ऐसे विचार आये हों किन्तु यदि ऐसा है तो उनमें आगे चलकर भारी परिवर्तन हुआ। रोम में कानूनी विकास का अन्तिम फल यह हुआ कि कानून का धर्मनिरपेक्षीकरण हो गया जिस आधार पर कानून की यह प्रचलित धारणा टिकी हुई है कि कानून एक निश्चित श्रेष्ठ मानव का आदेश है।

शुरु-शुरु में रोमन कानून धार्मिक तथा परम्परागत नियमों का सम्मिश्रण था। यह विचार कि राज्य कानून बना सकता है वहाँ नहीं था। प्रथा के ऊपर आधारित कानून को भंग करना राज्य के प्रति अपराध की अपेक्षा देवताओं के प्रति पाप अधिक समझा जाता था। परन्तु ४५० ई० पू० के लगभग 'बारह तालिकाओं' के रूप में

रोमन कानूनों के संग्रहबद्ध हो जाने से रोम के कानूनी इतिहास में एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद धार्मिक तत्त्व को अधिकाधिक तिरस्कृत किया गया और कानून को अधिकाधिक राज्य की इच्छा समझा जाने लगा। यह सिद्धान्त कि कानून राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति है, राज्य ही इसका निर्माण करता है और राज्य की शक्ति उसकी स्वीकृति का आधार है, दृढतापूर्वक स्थापित हो गया। कानून धर्म और आचार-शास्त्र से अलग हो गया। यह कानून के स्वरूप के विषय में किसी सिद्धान्तीकरण का परिणाम नहीं था बल्कि व्यावहारिक आवश्यकता का फल था। एक विस्तृत साम्राज्य में जिनमें विभिन्न धर्मों के लोग हों कानून तथा धर्म में सम्बन्ध बनाये रखना एकदम असम्भव था।

यह विचार कि रोमन कानून धर्मनिरपेक्ष और मानवीकृत हो गया, कि धर्म और आचार-शास्त्र से इसे अलग कर दिया गया और यह कि यह सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति था, एक हद तक ही सही है। यह समझना गलत होगा कि पूर्ण रूप से विकसित आधुनिक विचारों की उद्‌भावना रोमन विचारकों द्वारा हुई। पहिली बात जो हमें याद रखनी चाहिये वह यह है कि यद्यपि रोम में यह सिद्धान्त स्थापित हो चुका था कि शासक की शक्ति का अन्तिम स्रोत जनता है और शासक की इच्छा कानून की शक्ति इसलिए रखती है क्योंकि जनता ने अपना अधिकार उसे दे दिया है, तथापि रोमन कानून की उत्पत्ति विधेय (Legislation) द्वारा बहुत थोड़े ही अंश में हुई थी। जो अभिकरण रोम में कानून बनाता था उसे आधुनिक सरकार का व्यवस्थापक अंग कहना कठिन है। यह विचार कि कानून एक समर्थ व्यवस्थापिका की इच्छा की अभिव्यक्ति है, बहुत नवीन है। दूसरी बात यह कि रोमन न्यायविदों तथा अभिभाषकों (Lawyers) के मस्तिष्क में यह विचार सदैव वर्तमान रहता था कि प्रकृति का उच्चतर कानून कुछ निश्चित कसौटियाँ रखता है जिनके ऊपर राज्य द्वारा निर्मित मानवकृत कानून को कसा जाना चाहिये। वे स्टोइसिज्म के मानववादी विचारों से बहुत अधिक प्रभावित थे। यह प्राचीन सिद्धान्त कि कानून अमूर्त विवेक है और एक कानून विहित सरकार तथा एक सफल आततायीतन्त्र में एक मोटा भेद है उनकी आँखों से पूर्णतया कभी ओझल नहीं हुआ। कानून की [illegible] तथा मानव गौरव में सामंजस्य हो सकता था क्योंकि कानून किसी न किसी प्रकार से जन-इच्छा की अभिव्यक्ति है जबकि दयालु से दयालु निरंकुश राजा की [illegible] को भी नैतिक अध:पतन का कारण समझा जाता था। जैसा कि सेबाइन ने कहा है, रोमन कानून ने सिसरो के इस वाक्य की भावना को सदा अपनाये [illegible] कानून की अधीनता इसलिये स्वीकार करते है ताकि हम स्वतंत्र रह सकें।*

राजनीतिक विचार को रोम की देन—जैसा कि [illegible] कानून तथा न्याय-शास्त्र को रोमनों की मुख्य देन यह है कि कानून धर्मनिरपेक्ष है जिसकी शक्ति का स्रोत धर्म या आचार-शास्त्र नहीं [illegible]

* "We are servants of the law in order that we may be free."

मे सन्निहित यह विचार है कि राज्य समाज से भिन्न है और वह नैतिक समुदाय इतना नही जितना कि कानूनी ढाचा है।

यूनानियों ने राज्य और समाज मे कोई भेद नही किया जिसका फल यह हुआ कि उन्होने, विशेषकर अफलातून ने, व्यक्ति को राज्य मे विलीन कर दिया। रोमन विचार मे व्यक्ति का अस्तित्व सुरक्षित है, उसे राज्य मे विलीन नही किया गया उसे राज्य से अलग कर दिया गया और दोनों के निश्चित अधिकारों और कर्त्तव्यों के क्षेत्र अलग-अलग कर दिये गये। व्यक्ति को कानूनी विचार का केन्द्र बनाया गया; व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा करना राज्य का प्रमुख कार्य था। और न एपीक्यूरियन्स तथा स्टोइक्स की भांति राज्य को अनावश्यक ही समझा गया। राज्य को एक कानूनी व्यक्ति समझा गया जो अपने अधिकार का प्रयोग निश्चित सीमाओं के अन्दर करता था। सारांश यह कि रोमनों ने राज्य के कानूनी व्यक्तित्व का प्रतिपादन किया जिसने बहुत बडी सीमा तक मध्यकालीन विचारकों के विचार की रूपरेखा निर्धारित की। इस विचार की उत्पत्ति समाज से अलग राज्य के निराकार विचार के कारण सम्भव हो सकी। राज्य और समाज में यह भेद सब से अधिक सेनीका ने किया है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि मिश्रित संविधान की धारणा का प्रतिपादन अरस्तु ने किया था जिसे कि वह शासन की स्थिरता मे सहायक समझता था, और कुछ हद तक उसे व्यवहार मे भी परिणत किया जा चुका था, किन्तु इस धारणा को विकसित करना तथा इसे व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा का आधार बनाने का कार्य रोमनों का था। पोलिबियस की धारणा थी कि रोमन साम्राज्य की महानता और स्थिरता मूख्य रूप से रोमन प्रणाली के मिश्रित स्वरूप तथा नियन्त्रण तथा संतुलन के सिद्धान्त, और कुछ हद तक शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के कारण थी।

हमे यह भी याद रखना चाहिये कि सार्वभौमिक कानून और विश्व नागरिकता की स्टोइक धारणायें अमूर्त ही रह जाती, यदि उन्हे एक बडी हद तक उस रोमन साम्राज्य मे मूर्त रूप न दिया जाता जैसा कि ऑगस्टस के शासन के बाद की शताब्दियों में स्थापित हुआ था। साम्राज्य के सभी व्यक्तियों पर, उनकी जाति और निवास स्थान का विचार किये बिना, एक कानून लागू होता था और सार्वभौमिकवाद का यह विचार कि मनुष्यो के आधार उनकी जाति और निवास स्थान से स्वतन्त्र होते है, एक हद तक क्रियान्वित हो उठा था।

हम पहिले ही कह चुके है कि रोम ने अपना राजनीतिक जीवन एक राजतन्त्री नगर राज्य के रूप मे आरम्भ किया और गणतन्त्र के रूप मे ऐश्वर्य प्राप्त किया। राजतन्त्री युग मे भी रोम ने गणतन्त्र के इस तत्व की पूर्ण रूप से अवहेलना नही की कि राज्य की अन्तिम शक्ति समस्त जनता मे रहती है। जहां तक कि सिद्धान्त का सम्बन्ध है रोमन सम्राट अपनी शक्ति जनता से प्राप्त करते थे, उसके अभिकर्ताओं के

रूप में कार्य करते थे तथा उसके प्रति उत्तरदायी थे। यद्यपि राज्य के कानून सम्राट की इच्छा को अभिव्यक्त करते थे, परन्तु जनता उनको इसलिए मानती थी क्योंकि उनका विश्वास था कि सम्राट उन्ही की दी हुई शक्ति का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त रोम में बहुत दिनों तक यह धारणा बनी रही कि कानून न्यायरक्षकों तथा जनता के समझौते द्वारा बनाए जाते हैं। न्यायरक्षक-गण कानूनों का प्रस्ताव रखते थे और जनता उन्हें स्वीकार करती थी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि रोमन सिद्धान्त के अनुसार कानून जनता के ऊपर किसी बाहरी शक्ति द्वारा नहीं लादा जाता था बल्कि गैटल के शब्दों में वह 'परस्पर वार्तालाप के बाद राज्य के निर्णायक तत्वों के बीच में एक अनुबन्ध था।' जनता द्वारा अपनी शक्ति न्यायरक्षको, कन्सलो (Consuls) तथा सम्राटो को एक अनुबन्ध द्वारा दे देना, यह विचार राजनीतिक विचार को रोमनो की एक मुख्य देन है। इस प्रकार की शक्ति एक बार देने के बाद फिर वापिस नही ली जा सकती थी; जनता के पास अत्याचारी शासकों का कोई इलाज न था। इस प्रकार रोमन न्याय-शास्त्रियों ने जन-इच्छा के आधार पर एक निरंकुश शासन का भवन खड़ा कर दिया।

एक बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जिसकी उद्‌भावना रोमनों ने स्वतन्त्र रूप से की थी भी उल्लेखनीय है; इसके विकास में यूनानी विचार का कोई प्रभाव नहीं पडा। यह है Imperium अर्थात राजसत्ता का सिद्धान्त। आदि काल से ही रोमनो का यह विश्वास था कि प्रत्येक समाज अथवा जाति में अपने व्यक्तिगत सदस्यों को आदेश देने तथा उनसे असीमित आज्ञा-पालन करने की एक अन्तर्निहित शक्ति होती है जिसे वह किसी को दे नही सकती; वह अदेय होती है। इस शक्ति को वह Imperium कह कर पुकारते थे जिसे आधुनिक भाषा मे राजसत्ता या सार्वभौमिकता कहा जा सकता है। इस अधिकार का होना प्रत्येक समाज की मुख्य विशेषता थी। रोमनों ने इस विचार का कोई क्रमबद्ध विकास नही किया; परन्तु इसका प्रयोग करके कानून की एक भव्य प्रणाली का विकास किया। यह उनके राज्य के संघटन का आधार थी। राज्य के इम्पीरियम का स्वरूप उसकी अन्य किसी भी प्रकार की शक्ति से भिन्न था।

शुरु-शुरु में राजसत्ता राजाओं में रहती थी जिनकी निरंकुश शक्ति पर जनता का किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नही होता था। राजशक्ति के प्रयोग में जनता का कोई हाथ नही होता था। एक राजा के मरने पर राजसत्ता उसके उत्तराधिकारी के हाथ में आ जाती थी। गणतन्त्र के समय राजसत्ता बहुत से अधिकारियों में विभक्त थी ये अधिकारी राजसत्ता के प्रयोग के लिए अपने पद की अवधि समाप्त होने पर, पदासीन रहते समय नही, जनता के प्रति उत्तरदायी होते थे। इससे ज़ाहिर होता है कि गणतन्त्री युग में राजसत्ता का अन्तिम स्वामी स्वयं जनता को समझा जाता था। जनता ही इस बात का निर्णय करती थी कि राजसत्ता किसे मिलनी चाहिए और विभिन्न न्यायरक्षकों में वह किसी प्रकार विभक्त नही होनी चाहिए। परन्तु जनता

स्वयं उसका प्रयोग नहीं कर सकती थी ; और एक या अधिक अधिकारियों को ए वार हस्तान्तरित करके उनसे वह वापिस नहीं ले सकती थी, उसे उनकी आज्ञा व पालन करना पड़ता था। इस प्रकार यह सिद्धान्त उत्पन्न हुआ कि राज्य की अन्ति शक्ति पर जनता का अधिकार है किन्तु वह एक या अधिक व्यक्तियों को दे देती है साम्राज्यवादी युग में भी इस कल्पना का ह्रास नहीं हुआ कि राजसत्ता का अन्ति स्रोत जनता है और सम्राट जनता का अभिकर्ता (Agent) है ; यद्यपि वास्तव सम्राट किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं था ; केवल उसे ही आदेश देने और आज्ञापाल करवाने का अधिकार था। अपने बुद्धि-चातुर्य और कौशल से वकीलों ने एक ऐसे निरपेक्ष शासक की सृष्टि कर डाली थी जिसकी इच्छा कानून था। गणतन्त्री तथा साम्राज्यवादी युगों में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह था कि साम्राज्यवादी युग में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही राजसत्ता एकीकृत थी। गणतंत्र में सैनिक अधिकारी-गण भी राजसत्ता के प्रयोग में भाग लेते थे। साम्राज्य के अन्तर्गत शासकों को सेना के नियन्त्रण पर अधिकाधिक निर्भर करना पड़ता था ; इसलिए राजसत्ता के नागरिक और सैनिक अंग एक जगह घुल-मिल गए और राजसत्ता एकीकृत हो गई। राजसत्ता-धारी को निरंकुश बनने से रोकने वाली यह भावना थी कि राजसत्ता एक धरोहर है जिसका प्रयोग जनहित के लिए होना चाहिए। राजतन्त्र के युग में यह भावना एक वास्तविकता थी ; गणराज्य और साम्राज्य के काल में भी यह जीवित रही। गणतन्त्र के युग में सचमुच और साम्राज्य के युग में केवल सैद्धान्तिक रूप से यह विश्वास किया जाता था कि राजसत्ता का आधार जन-इच्छा है। इस हद तक हम कह सकते हैं कि रोमन लोग जनप्रिय सत्ता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे।

पोलिबियस (Polybius)—यह है रोम की कानूनी पद्धति के विकास और राजनीतिक विचार को रोम की देन का संक्षिप्त इतिहास। किन्तु रोम की शासन पद्धति की महानता, विजय तथा स्थिरता के कारणों के बारे में पोलिबियस के विचार तथा सिसरो और सेनेका (Seneca) के राजनीतिक सिद्धांतों का उल्लेख किए बिना उपरोक्त विवरण अधूरा और अपूर्ण ही रहेगा।

पोलिबियस का जन्म २०४ ई० पू० में हुआ था ; वह एक यूनानी दार्शनिक इतिहासकार था। १६ वर्षों तक रोमनों ने उसे एक राजनीतिक बन्धक के रूप में रखा था। रोम में रहते हुए उसने वहाँ के बौद्धिक तथा सैनिक नेताओं से सम्बन्ध स्थापित किए और रोम के मन, चरित्र तथा संस्थाओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया। वह इस बात से बहुत प्रभावित हुआ कि रोमनों ने ५३ वर्ष से कम के समय में ही संसार को परास्त कर डाला और अपने 'रोम का इतिहास' नामक ग्रन्थ में उसने रोम की इस अद्भुत सफलता के कारणों का अनुमान लगाने का प्रयास किया है। उसके विचार में इसका कारण रोम की असाधारण स्थिर शासन प्रणाली थी।

पोलिबियस ने अफलातून और अरस्तु की यह बात अपनाई कि सरकारों को ६ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है और सरकार एक परिवर्तन-चक्र में से गुजरती

है। यद्यपि इस विचार की कि एक मिश्रित सरकार की अपेक्षा अमिश्रित सरकार अधिक शीघ्रता से पतित हो जाती है सबसे पहिले उद्भावना अफलातून और अरस्तु ने की किन्तु पोलिबियस द्वारा इसे बहुत बड़ा सम्बल मिला। उसके विचार से रोमन सरकार की इतनी अधिक स्थिरता का कारण उसका मिश्रित चरित्र था। यह राजतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा जनतन्त्री तत्वों का एक सुन्दर समन्वय था। राजतन्त्री तत्व का प्रतिनिधित्व कन्सल्स (Consuls), कुलीनतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व सीनेट (Senate) तथा जनतन्त्री तत्त्व का प्रतिनिधित्व जनता की सभाओं द्वारा होता था। मिश्रित सविधानों के विषय में अफलातून तथा अरस्तु और पोलिबियस के विचारों में बहुत बड़ा अन्तर है। अरस्तु जनतन्त्र तथा धनतन्त्र के आधारभूत राजनीतिक सिद्धान्तों का सम्मिश्रण करना चाहता था। उसकी 'पोलिटी' एक ऐसा राज्य था जिसमें मध्य-वर्ग सबसे अधिक शक्तिशाली था और जिसमें स्वतन्त्र जन्म के जनतन्त्री सिद्धान्त तथा राज्य के पदों के वितरण के लिये धनतन्त्र के गुणात्मक सिद्धान्त का गठजोड़ करने का प्रयास किया गया था। पोलिबियस ने अपने मिश्रित सविधान में उन तत्वों का सम्मिश्रण करने की चेष्टा की है जो कि विभिन्न प्रकार की सरकारों की विशेषतायें हैं; वह सरकार की शक्तियों को विभिन्न अगों में विभिक्त करता है जिनमें से प्रत्येक अङ्ग सरकार के एक विशिष्ट रूप का प्रतिनिधित्व करता है। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं, राज्य की सर्वोच्च सैनिक शक्ति कन्सल्स (Consuls) के हाथों में थी जोकि राज्य के राजतन्त्री अग का प्रतिनिधित्व करते थे; न्यायिक तथा वित्त सम्बन्धी शक्तियाँ सीनेट को दी गई थीं जो कि कुलीनतन्त्री-वर्ग की प्रतिनिधि थी, और नीति-निर्धारक कार्य जनप्रिय सभाओं को दिये गये जिन्हे जनतन्त्री अंग कहा जा सकता है। परन्तु रोमन पद्धति को वास्तविक स्थिरता प्रदान करने वाली चीज यह थी कि इसमें वे तीनों अग एक दूसरे को नियंत्रित करते थे और उसे अति शक्तिशाली होने से रोकते थे। यदि कन्सल्स अपने अधिकार की सीमाओं का उल्लघन करते थे तो सीनेट जिसका धन के ऊपर अधिकार था, उन्हें नियन्त्रित कर सकती थी। जनप्रिय सभायें राज्य पदों को वितरित करने तथा कानून बनाने और उन्हे रद्द करने की अपनी शक्ति द्वारा अन्य दो अगों को नियन्त्रित कर सकती थी। रोमन प्रणाली मे प्रत्येक अंग का एक दूसरे के ऊपर नियत्रण था; यह 'नियन्त्रण और सन्तुलन' (Checks and Balances) के सिद्धान्त के ऊपर आधारित था। इस सिद्धान्त को एक विकसित रूप में सामने रखने का सर्वप्रथम श्रेय पोलिबियस को है। रोम की सफलता की कुंजी यह "नियंत्रण और सतुलन" का सिद्धान्त था जैसा कि पोलिबियस का विचार था या कोई और चीज? यह एक कठिन प्रश्न है जिसमें जाने की यहाँ कोई आवश्यता नहीं। हम केवल इतना कहेंगे कि मोमसेन (Mommsen), जो कि एक महान् इतिहासकार था, पोलिबियस के इस अनुमान को एक बुद्धिहीन राजनीतिक कल्पना समझता है।

सिसरो (Cicero)—अब हम सिसरो और सैनेका (Seneca) पर आते हैं, जिनका रोम में स्टोइक दर्शन का प्रवेश कराने में मुख्य हाथ है। सिसरो का जन्म पोलिबियस से लगभग एक सौ वर्ष बाद १०६ ई० पू० में हुआ था, जब कि रोम में दो शक्तिशाली गुटों में गृहयुद्ध होने के फलस्वरूप गणतन्त्री संविधान ढल रहा था। वह सामाजिक संघर्ष का युग था; गणराज्य के विभिन्न अंगों का गतिरोध समाप्त करने के लिए शक्ति का सहारा लिया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि गणतन्त्री संविधान की असफलता की पृष्ठभूमि में सिसरो ने अपनी रचनायें की। उसका उद्देश्य गणराज्य को टाइबीरियस ग्रेकस (Tiberius Gracchus) के क्रांतिकारी शासन से पूर्व के रूप में प्रतिष्ठित करना था। उसका ध्येय यह भी था कि उसके देशवासी रोम के जनसेवा के परम्परागत धर्म तथा प्राचीन शासन पद्धति को फिर से अपनायें। उसे अपने उद्देश्य में कोई विशेषता नहीं मिली; उस समय उसकी कृतियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु उनमें एक महान् गुण था; उनकी शैली ओजपूर्ण है, उसमें धाराप्रवाह है और उनका व्यापक अध्ययन हुआ। उनका महत्व अपने विचारों की मौलिकता में नहीं, अपनी अभिव्यंजना की शैली में है। जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है उसकी कृतियां संग्रह-मात्र थीं, परन्तु जैसा कि सैबाइन ने कहा है, उसने जिस विचार को एक बार लेखबद्ध कर दिया वह पाठकों के लिए सदा बना रहा और वह अमर हो गया। यूनानी राजनीतिक विचारों का सबसे महत्वपूर्ण प्रसारक (Transmitter) होने के नाते सिसरो का राजनीतिक विचार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि सिसरो ही वह व्यक्ति था जो कि स्टोइक्स के प्राकृतिक कानून को स्वर्ग से धरती पर लाया। उसके द्वारा ही प्राकृतिक कानून और समानता से स्टोइक विचारों की रोमन पद्धति में अनुभूति हुई और वे विश्व की थाती का एक स्थायी भाग बने। वह अफलातून की रचनाओं से भी परिचित था और उसने अपनी महत्वपूर्ण कृतियों का नामकरण करने में भी उस महान् यूनानी विचारक का अनुकरण किया है। उसकी महत्वपूर्ण कृतियों के नाम हैं; डी रिपब्लिका (De Republica), डी लेजीबस (De Liegibus) तथा डी ऑफीसिस (De officiis)। परन्तु सिसरो यूनानी विचार का पुनर्कथन मात्र नहीं करता; उसने उसकी पुनर्व्याख्या भी की है और रोमन वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए उसे अधिक ठोस अर्थ प्रदान किया है। उसने स्टोइक दार्शनिक विचारों को लैटिन कानूनी शब्दों में परिभाषाबद्ध कर दिया जिनका प्रयोग आगे आने वाले रोमन तथा ईसाई वकीलों ने किया। उसने नये-नये शब्द भी घड़े जिनका बाद के लेखक बराबर प्रयोग करते रहे।

'डी रिपब्लिका' की रचना में अफलातून की 'रिपब्लिक' का अनुकरण किया गया है। न केवल उनके नामों में बल्कि सामान्य विषय सामग्री तथा विषय प्रबन्ध में भी दोनों में एक घनिष्ठ समानान्तर है। न्याय के स्वरूप की मीमांसा दोनों ग्रंथों का मुख्य विषय है। सिसरो कार्नीडीज (Carneades) की विध्वंसक आलोचना

के विरुद्ध न्याय का पक्ष समर्थन करते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन करता है। अफलातून की भांति ही सिसरो भी अपनी 'डी रिपब्लिका' में एक आदर्श राज्य अंकित करता है। परन्तु जब कि अफलातून का आदर्श राज्य हवाई किला था और इस धरती के वास्तविक मानव जीवन से उसका कोई सम्बन्ध न था, सिसरो का आदर्श राज्य यथार्थ के अत्यन्त निकट है। यह उसके सिद्धान्तों का विकास रोमन संविधान के इतिहास की धारा में देखता है। एक आदर्श राज्य का संविधान एक लम्बे विकास का परिणाम है जिसमें विभिन्न परिस्थितियों में सोचने वाले बहुत से व्यक्तियों ने योग दिया है। इसकी स्थापना एक व्यक्ति की प्रतिभा द्वारा नहीं हो सकती, उसके लिए युगों की आवश्यकता है। ऐसा संविधान मिश्रित होता है। रोमन प्रणाली में ये सभी गुण पाए जाते थे। अफलातून नगर-राज्य का दार्शनिक था; सिसरो, जिसका पोषण स्टोइक दर्शन से हुआ था, विश्व की भावना रखता था।

सिसरो राज्य को एक 'कॉमनवैल्थ' (Commonwealth) कह कर पुकारता है। यह मनुष्यों का समूह है जो एक दूसरे के लिए स्वाभाविक संवेदना की भावना द्वारा एक जगह संघटित हुए हैं; उनका राजनीतिक संघटन सूत्र का एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है, समाज से अलग रहकर निर्बलता का अनुभव या कोई भौतिक स्वार्थ नहीं। राज्य का आधार मनुष्यों के पारस्परिक हितों की एकता तथा न्याय के ऊपर आधारित कानून को स्वेच्छापूर्वक मानना है, भय अथवा लोभ नहीं। यहां तक तो सिसरो और अफलातून में कोई अन्तर नहीं है; सिसरो ने राज्य के मूल तथा स्वरूप के विषय में यूनानी विचारों को पुनर्व्यक्त किया है। परन्तु एक बात में उसमें तथा अफलातून में एक आधारभूत अन्तर है। सिसरो का राज्य अफलातून के राज्य की भांति एक विशिष्ट तत्व नहीं है जिसमें कि राजनीतिक शक्ति केवल कुछ व्यक्तियों के हाथ में है और शेष उसके अंग होते हुए भी उसकी शक्ति में भाग से वंचित हैं; सिसरो का राज्य जनता का राज्य है। इसका ध्येय सबकी भलाई है; समस्त जनता का इससे सम्बन्ध है। उचित और कानूनी राजनीतिक शक्ति जनता की सामूहिक शक्ति है।

सिसरो के सरकारों के वर्गीकरण में कोई बात नहीं है। वह उन्हें तीन प्रारंभिक वर्गों में विभक्त करता है: (१) राजतन्त्र, (२) कुलीनतन्त्र, (३) जनतन्त्र। इनमें से प्रत्येक विशुद्ध रूप की प्रवृत्ति अपने अनुरूप भ्रष्ट रूप में परिवर्तित हो जाने की होती है। इस प्रवृत्ति को रोकने का केवल एक ही साधन है और वह है इन तीनों के तत्वों को सम्मिश्रण कर देना। पोलिबियस के चरणचिह्नों पर चलते हुये वह भी रोमन संविधान को मिश्रित संविधान का सर्वोत्तम उदाहरण समझता है। प्रोफेसर डनिंग (Dunning) के अनुसार सिसरो का 'नियन्त्रण तथा संतुलन' का सिद्धांत पोलिबियस के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक सजीव है, वह उतना यान्त्रिक नहीं है; रोमन विचारक सिसरो तत्वों और वर्गों की अपेक्षा सिद्धांतों के संतुलन को अधिक पसन्द करता था।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि प्राकृतिक कानून नित्य और अपरिवर्तनीय है। अनादि होने के कारण वह स्वयं राज्य का स्रोत है। इसमें यह बात निहित है कि एक राज्य विशेष के द्वारा बनाए हुए कानून प्राकृतिक कानून अथवा शुद्ध बुद्धि के अनुसार होने चाहियें। उनका पालन करना नागरिकों के लिए वहीं तक बाध्य है जहां तक कि वे प्राकृतिक कानून के अनुसार हैं। यदि वे उनके अनुकूल न हों तो नागरिकों के लिए उन का मानना अनिवार्य नहीं। वास्तव में राज्य द्वारा बनाया हुआ कोई भी कानून जो इसके विरुद्ध हो सच्चे अर्थों में कानून नहीं हो सकता; जो चीज स्वयं गलत है उसे कोई भी शासक अपनी मोहर लगाकर सही नहीं कर सकता। स्वयं सिसरो के शब्दों में 'इस कानून को मानव के बनाए हुए कानूनों द्वारा रद करना नैतिक रूप से कभी भी उचित नहीं हो सकता।

दूसरे शब्दों में, मनुष्य दो कानूनों के अधीन है: (१) प्रकृति का कानून, (२) जिस राज्य में वे रहते हैं उसके बनाए हुए कानून। पहिले का पालन करने का उनका कर्तव्य निरपेक्ष और अशर्त है; दूसरे के प्रति उनकी भक्ति सशर्त है। प्राकृतिक कानून के विरुद्ध होते ही राज्य के कानून अपनी मान्यता खो बैठते हैं। सिसरो का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य में प्राकृतिक कानून को जान लेने की क्षमता है। अफलातून के अनुसार वह शक्ति केवल दार्शनिक राजा का एकाधिकार था। सिसरो की शिक्षाओं में प्राकृतिक कानून का सिद्धांत एक अन्य बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत से सम्बद्ध है और वह है मनुष्य की प्राकृतिक समानता का सिद्धांत। यह सिद्धांत राजनीतिक विचार को स्टोइसिज्म की सबसे महत्वपूर्ण देन है; मनुष्य धन, विद्या तथा शारीरिक बल में समान नहीं है; किन्तु बुद्धि पर उन सब का समान अधिकार है और वे सब के सब समान प्राणी हैं। इसलिए वे समान हैं। मनुष्य ईश्वर की दृष्टि में समान हैं। असमानता पाप से उत्पन्न होती है, प्रकृति से नहीं; वह मनुष्य-जनित है, प्राकृतिक नहीं। मनुष्य की प्राकृतिक समानता में यह विश्वास स्टोइक्स तथा सिसरो को अफलातून और अरस्तु की अपेक्षा हमारे अधिक निकट ले आता है। डा० कारलाइल (Carlyle) के शब्दों में यह प्राचीन तथा आधुनिक राजनीतिक विचार के बीच की विभाजक रेखा है। परन्तु सिसरो समानता को एक तथ्य नहीं बल्कि एक नैतिक आवश्यकता समझता है; वह उसके द्वारा किसी जनतन्त्री परिणाम पर नहीं पहुंचता।

प्राकृतिक कानून की धारणा की एक अन्य उपसिद्धि भी उल्लेखनीय है। एक बुद्धि में भागीदार होने के कारण सभी मनुष्य एक सामान्य तथा विश्वव्यापी प्राकृतिक कानून के अधीन होने तथा एक ही न्याय को प्राप्त करते हैं। एक ही कानून के अधीन होते तथा एक ही न्याय में भागीदार होने के कारण समस्त मानव प्राणी एक ऐसे समाज के घटक है जो कि जाति तथा भाषा का अतिक्रमण करता है और जो स्वयं मानवता का एकाकार है। हमें समस्त विश्व को एक सामान्य संघ समझना चाहिए अच्छे बुरे सभी मनुष्य जिसके घटक हैं। विश्वनागरिकता के स्टोइक सिद्धांत की यह पुनरावृत्ति है।

नहीं। जिस चीज ने पाश्चात्य राजनीतिक विचार के इतिहास मे सिसरो को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है वह उसकी राज्य की परिभाषा या सरकारों का वर्गीकरण नहीं बल्कि प्राकृतिक कानून (Law of Nature) की स्टोइक धारणा की उसके द्वारा की हुई पुनर्व्याख्या तथा उसका व्यावहारिक प्रयोग है। उसके लेखों के बहुत से अवतरणों को जिनमे कि इनकी अभिव्यंजना हुई है, रोमन वकीलों तथा 'चर्च पिता' (Church Fathers) ने प्राय: उद्धरित किया है जिनके द्वारा वह रोमन कानून का एक अंग बना और फिर मध्यकालीन लेखकों तथा उनसे भी आगे तक पहुंचा। सिसरो की धारणा थी कि समस्त ब्रह्माण्ड को शासित करने वाला एक ही कानून या कानून-प्रणाली है जो कि ब्रह्मा की सृष्टि से प्रत्येक वस्तु—चैतन्य, जड, बुद्धि-परक अथवा अबुद्धि-परक—के ऊपर लागू होता है। यह इतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कानून और यह स्वयं राज्य का स्रोत है; मनुष्यों को राज्यरूपी माला में गूंथने वाला सूत्र है कानून। सिसरो के शब्दों में कानून "प्रकृतिसम्मत विवेकपूर्ण बुद्धि है, जो सब मनुष्यों में प्रसरित है, जो नित्य और शाश्वत है; जो अपनी आज्ञा द्वारा कर्तव्य का पालन कराता है और निषेधाज्ञा द्वारा छल छन्द से रोकता है।"* यद्यपि समस्त चीजों का व्यवहार इसके अनुसार चलता है; किन्तु इसका पालन करने के सब के ढंग भिन्न-भिन्न होते हैं। जड जगत प्राकृतिक आवश्यकता के वश उससे बंधा हुआ है; पशु अपनी विवेकहीन सहज प्रवृत्तियों के कारण उसके निर्देशन में रहते हैं; वे उसका पालन तो करते हैं किन्तु वे नहीं जानते कि वह क्या है। मनुष्य और केवल मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा उस कानून को जानने की सामर्थ्य रखता है और चेतनापूर्वक उसके अनुसार आचरण करता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि भौतिक वस्तुएं तथा निम्नतर प्राणी प्रकृति के कानून के अनुसार व्यवहार करते हैं; किन्तु मनुष्य उस कानून के सम्बन्ध में अपनी धारणा के अनुसार आचरण करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्राकृतिक कानून का सिसरो का अर्थ आधुनिक वैज्ञानिकों से भिन्न है। गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत (Law of Gravitation) मानव प्राणियों पर उतना ही लागू होता है जितना कि पत्थरों पर; परन्तु मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं का उसके अनुसार होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उससे अवगत हो और उसके अनुसार आचरण करे। और न ही कोई व्यक्ति उसका उल्लंघन कर सकता है। सिसरो का प्राकृतिक कानून मानव व्यापार पर स्वयमेव लागू नहीं होता; मनुष्य उसे अपनी चेतना द्वारा ग्रहण करके और स्वेच्छा द्वारा ही उसके अनुसार आचरण कर सकते हैं। यह स्वयं अपने ऊपर लगाया जाता है और इसलिए कोई व्यक्ति इसका पालन करने के लिये विवश नहीं है यद्यपि प्रत्येक को इसका पालन करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृतिक कानून भौतिक नियमों से भिन्न होता है; उसका स्वरूप नैतिक सिद्धान्त जैसा होता है; इसे ईश्वरी कानून कहना अधिक समुचित होगा।

* Law is right reason consonant with nature, diffused among all men, constant and eternal; which summons to duty by its command and hinders from fraud by its prohibition.

हम पहिले ही कह चुके है कि प्राकृतिक कानून नित्य और अपरिवर्तनीय है। अनादि होने के कारण यह स्वयं राज्य का स्रोत है। इसमें यह बात निहित है कि एक राज्य विशेष के द्वारा बनाए हुए कानून प्राकृतिक कानून अथवा शुद्ध बुद्धि के अनुसार होने चाहियें। उनका पालन करना नागरिको के लिए वही तक बाध्य है जहा तक कि वे प्राकृतिक कानून के अनुसार हैं। यदि वे उनके अनुकूल न हो तो नागरिकों के लिए उन का मानना अनिवार्य नही। वास्तव मे राज्य द्वारा बनाया हुआ कोई भी कानून जो इसके विरुद्ध हो सच्चे अर्थों मे कानून नही हो सकता ; जो चीज स्वयं गलत है उसे कोई भी शासक अपनी मोहर लगाकर सही नही कर सकता। स्वयं सिसरो के शब्दों मे 'इस कानून को मानव के बनाए हुए कानूनों द्वारा रद्द करना नैतिक रूप से कभी भी उचित नही हो सकता।

दूसरे शब्दों में, मनुष्य दो कानूनो के अधीन हैं : (१) प्रकृति का कानून, (२) जिस राज्य में वे रहते हैं उसके बनाए हुए कानून। पहिले का पालन करने का उनका कर्तव्य निरपेक्ष और अशर्त है ; दूसरे के प्रति उनकी भक्ति सशर्त है। प्राकृतिक कानून के विरुद्ध होते ही राज्य के कानून अपनी मान्यता खो बैठते हैं। सिसरो का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य मे प्राकृतिक कानून को जान लेने की क्षमता है। अफलातून के अनुसार वह शक्ति केवल दार्शनिक राजा का एकाधिकार था। सिसरो की शिक्षाओं में प्राकृतिक कानून का सिद्धात एक अन्य बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत से सम्बद्ध है और वह है मनुष्य की प्राकृतिक समानता का सिद्धात। यह सिद्धात राजनीतिक विचार को स्टोइसिज्म की सबसे महत्वपूर्ण देन है ; मनुष्य धन, विद्या तथा शारीरिक बल मे समान नही है.; किन्तु बुद्धि पर उन सब का समान अधिकार है और वे सब के सब समान प्राणी है। इसलिए वे समान है। मनुष्य ईश्वर की दृष्टि मे समान हैं। असमानता पाप से उत्पन्न होती है, प्रकृति से नही ; वह मनुष्य-जनित है, प्राकृतिक नही। मनुष्य की प्राकृतिक समानता में यह विश्वास स्टोइक्स तथा सिसरो को अफलातून और अरस्तु की अपेक्षा हमारे अधिक निकट ले आता है। डा० कारलाइल (Carlyle) के शब्दों में यह प्राचीन तथा आधुनिक राजनीतिक विचार के बीच की विभाजक रेखा है। परन्तु सिसरो समानता को एक तथ्य नही बल्कि एक नैतिक आवश्यकता समझता है ; वह उसके द्वारा किसी जनतन्त्री परिणाम पर नहीं पहुचता।

प्राकृतिक कानून की धारणा को एक अन्य उपसिद्धि भी उल्लेखनीय है। एक बुद्धि में भागीदार होने के कारण सभी मनुष्य एक सामान्य तथा विश्वव्यापी प्राकृतिक कानून के अधीन होने तथा एक ही न्याय को प्राप्त करते है। एक ही कानून के अधीन होने तथा एक ही न्याय मे भागीदार होने के कारण समस्त मानव प्राणी एक ऐसे समाज के घटक है जो कि जाति तथा भाषा का अतिक्रमण करता है और जो स्वयं मानवता का एकाकार है। हमें समस्त विश्व को एक सामान्य सघ समझना चाहिए अच्छे बुरे सभी मनुष्य जिसके घटक हैं। विश्वनागरिकता के स्टोइक सिद्धांत की यह पुनरावृत्ति है।

सिसरो के राजनीतिक सिद्धांत मे तीन विचार प्रमुख है ; उन्हे लगभग सभी रोमनों ने स्वीकार कर लिया था और कई शताब्दियो तक वे पश्चिम के बौद्धिक थाती के भाग बने रहे। वे ये है : (१) राज्याधिकार का स्रोत जनता है, (२) इसका प्रयोग कानून के अनुसार होना चाहिए, और (३) नैतिक आधार पर ही इसका प्रयोग करना उचित है। परन्तु इन विचारो को व्यावहारिक रूप से लागू करने मे विभिन्न लेखको तथा विद्वानो मे काफी मतभेद था। उदाहरण के लिए, यद्यपि प्रत्येक इस बात को स्वीकार करता था कि आततायीतन्त्र घृणात्मक है और उसे सहन नही किया जाना चाहिए, तथापि एक आततायी शासक से किस प्रकार छुटकारा पाया जाए, इस प्रश्न का कोई सामान्य उत्तर न था। इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति यह स्वीकार करता था कि सरकार की शक्ति का स्रोत जनता है ; किन्तु इस प्रश्न के बारे मे एकमत न थे कि जनता का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार कैसे प्राप्त होता है। 'साम्राज्य' मे ऐसे विचार गणतन्त्री युग के अवशेष थे किन्तु उनमें अधिक तथ्य नही रह गया था।

सैनेका (Seneca)—रोमनो मे स्टोइक विचारों तथा सिद्धातो का बहुत बड़ा प्रचार करने वालो में दूसरा बडा विचारक सैनेका था जिसका प्रादुर्भाव सिसरो से एक शताब्दी मे बाद हुआ। 'साम्राज्य' के प्रारम्भिक दिनो में रोम ने राजनीतिक सद्‌गुणों का बहुत बड़ा पराभव देखा था। राज्य निरकुश हो चुका था ; जनता भी उतनी ही पतित हो चुकी थी जितना कि शासक। ऐसी परिस्थियों मे राज्य को अब जनता के नैतिक विकास का साधन नही समझा जाता था ; नागरिक सद्‌गुणों का अभाव हो गया था। उस समय पर याच्छादित निराशावाद का प्रतिबिम्ब हमे सैनेका के लेखो मे मिलता है। यह एक नई तान है जो हमे सिसरो में सुनाई नहीं पडती थी। सिसरो ने एक नैतिक उद्देश्य को लेकर अपनी रचनाये की हैं और वह उद्देश्य था रोमनो के परम्परागत नागरिक सद्‌गुणो को पुनर्जीवित करना ; परन्तु सैनेका के मन मे ऐसा कोई सपना न था। वह महसूस करता था कि एक अच्छा व्यक्ति एक सार्वजनिक पद पर बैठ कर अपने देशवासियो का अधिक हित नहीं कर सकता। इसीलिए वह सरकार के रूपभेद को कोई महत्त्व न देता था। वह इस उक्ति का हृदय से स्वागत करता था कि 'सरकार के रूप के लिए केवल मूर्ख झगडते हैं ; सर्वोतम सरकार वही है जो सर्वोतम ढंग से चलाई जाए।'*

परन्तु आदिकालीन 'सिनिक्स' तथा 'स्टोइक्स' की भांति सैनेका ने सामाजिक जीवन का परित्याग करने की सलाह नही दी। उसने राज्य और समाज में भेद किया। उसकी धारणा थी कि मनुष्य पर दो सघो का अधिकार है जिनमे से एक राज्य है जिसका कि वह एक सदस्य है और दूसरा व्यापक मानव समाज है जिसका प्रत्येक व्यक्ति एक मानव होने के नाते घटक है। इस व्यापक समाज का घटक होने के नाते

* 'For forms of government let fools contest.
Whatever is best administered is best.'

मनुष्य जो भी समाज-सेवा कर सके उसे करनी चाहिये ; इस समाज के बन्धन सामाजिक हैं ; राजनीतिक नहीं । सैनेका के हाथ में जाकर स्टोइसिज्म ने एक धार्मिक दर्शन का रग ग्रहण कर लिया जो कि, सैबाइन के शब्दो में, 'इस ससार मे शक्ति और सान्त्वना प्रदान करते हुए भी एक आध्यात्मिक जीवन पर विचार करने की ओर प्रवृत्त थी । इस प्रकार जीवन के आध्यात्मिक और इहलौकिक हितों मे एक निश्चित और स्पष्ट दराड उत्पन्न हुई जिसके ऊपर आगे चलकर ईसाई धर्म ने बल दिया और जिसने मध्ययुग के राजनीतिक विचार पर गहरा प्रभाव डाला ।'

एक दूसरे ढग से भी सैनेका मध्ययुग के राजनीतिक विचार का पूर्वाभास देता है और परम्परागत यूनानी दृष्टिकोण से बहुत दूर हट जाता है । अफलातून, अरस्तु तथा आदिकालीन स्टोइक्स में से कोई भी मनुष्य को मूलरूप से पापमय नही समझता । यह विचार ईसाई धर्म के साथ सम्बद्ध है । सैनेका मे यह पाया जाता है और उसके राज्य के सिद्धात को प्रभावित करता है । वह मनुष्य को तत्वत. पापी समझता है और राज्य को मनुष्य के पाप का इलाज और दण्ड मानता है ; उसे वह मनुष्य के नैतिक सुधार का यन्त्र नहीं समझता । भ्रष्ट रोमन राज्य मे उसने अपने चारो ओर जो पाप और भ्रष्टाचार देखा, हो सकता है उसी के कारण उसका ऐसा दृष्टिकोण बना हो । शायद मनुष्य के पापमय स्वभाव की अनुभूति के कारण ही सैनेका ने सहानुभूति तथा नम्रता के गुणो को इतना महत्त्व दिया और कहा कि धर्म पाप का निरन्तर विरोध करने मे है, मोक्ष प्राप्त करने की चेष्टा मे नही ।

पाप और दुख को देखकर ही, जो कि मनुष्य के सामाजिक जीवन के इतने मुख्य प्रत्यय है, सैनेका ने एक 'स्वर्णिम युग' (Golden Age) की कल्पना की जिसमें कि मनुष्य नागरिक समाज का आविर्भाव होने से पहिले रहता था । स्वर्णिम युग में मनुष्य एक सरल आनन्द और निष्पाप जीवन व्यतीत करते थे ; सभ्य जीवन की कृत्रिमतायें तथा विलासितायें उनमें न थी । उसके स्वर्णिम युग के वर्णन को देखकर हमें प्राकृतिक अवस्था मे मानव जीवन के सम्बन्ध मे रूसो के विचारो की याद आ जाती है । तब लोगों को सरकार की कोई आवश्यकता न थी ; वहां कोई लोभ नहीं था, कोई निजी सम्पत्ति नही । परन्तु मनुष्यो पर जब लोभ सवार हो गया और उनमें वस्तुओ को अपना बनाने की इच्छा उदय हुई तो सरकार की आवश्यकता भी महसूस होने लगी । इस प्रकार सरकार मनुष्य के प्रारभिक जीवन की सरलता को निश्छलता से पतित हो जाने का परिणाम है ; इसलिए यह अभिसमयात्मक (Conventional) है ; वह उस अर्थ मे प्राकृतिक कभी नही हो सकती जिसमें कि अफलातून और अरस्तु उसे प्राकृतिक समझते थे । यह विचार 'मध्य युग' में ईसाई धर्मशास्त्रियो के सिद्धान्त के बहुत निकट है । यह यूनानियों और यहां तक कि सिसरो के विचारो से भी एकदम भिन्न है । सिसरो का यह सिद्धात कि मनुष्यमात्र समान है और सैनेका का यह सिद्धान्त कि सरकार मानव पाप का परिणाम तथा उसका एक इलाज है, ये दोनों मिलकर राजनीतिक जीवन के यूनानी मूल्यों को पूर्ण रूप मे नष्ट देते है । "नागरिकता के

सर्वोच्च मूल्य की जगह वहा प्रत्येक सरकार और स्थिति के मनुष्यों की समानता है ; वहाँ राज्य मानव जीवन को पूर्ण बनाने के एक यन्त्र की जगह एक शक्ति है जो बलपूर्वक मनुष्य के लौकिक जीवन को ऐसा बनाने की चेष्टा करती है जिस प्रकार सहन किया जा सके ; किन्तु अपने इस उद्देश्य में भी राज्य सफल नहीं हो पाता। मूल्यों का यह क्रान्तिकारी परिवर्तन यद्यपि अभी तक सुझावमात्र है ; किन्तु आगे चलकर उसके परिणामों की खोज की गई और वे 'ईसाई फादर्स' के राजनीति दर्शन में अधिकाधिक दृढता से जमते गये।"*

---

* In place of the supreme of citizenship there is a common equality shared by all sorts and conditions of men; and in place of the State as a positive agency of human perfection there is a coercive power that struggles ineffectively to make an earthly-life tolerable. Though this revolutionary change in the scale of values is yet only suggested, its implications were destined to be explored to become more and more firmly embedded in the political philosophy of the Christian Fathers.' —Sabine : *Ibid*, page 160.

१० प्रारम्भिक ईसाइयत का प्रभाव

परिचयात्मक—'ईसाई धर्म' के प्रादुर्भाव के साथ 'पश्चिम' के राजनीतिक विचार में एक नया तत्त्व प्रविष्ट हुआ जो कि यूनानियों तथा रोमनो की देन से बहुत भिन्न था। इसको समुचित रूप से समझने के लिए यूनानी और रोमन देन पर फिर से दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है।

यूनान तथा रोम की देन—नगर राज्य के स्वरूप तथा ध्येय के विषय में विचार करते हुए अफलातून और अरस्तु ने मानव जाति के सामने एक स्वतन्त्र नागरिकता का आदर्श रक्खा जो कि आज भी उतना ही मान्य है जितना कि कभी पहिले था। स्वतन्त्र नागरिकता का अर्थ था समाज के राजनीतिक जीवन में समान रूप से भाग लेना और राजनीतिक अधिकारों का समान रूप से उपभोग करना। राज्य का कार्य बुद्धिसगत वाद-विवाद द्वारा होना चाहिये और सरकार सवैधानिक हो यह विचार भी यूनानियों की देन है। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि यूनान मे धर्म और राजनीति में कोई विभाजन नही था; यूनानियो ने कभी एक ऐसे सस्था-बद्ध धर्म की कल्पना नही की जिसका कार्यक्षेत्र राज्य से बिल्कुल भिन्न और अलग हो। जहाँ तक कि नगर राज्य का जीवन तथा समृद्धि दास प्रथा के ऊपर निर्भर करती थी, जो कि एक मानी हुई संस्था थी, यूनानी विचारकों के मन मे मानव समानता का विचार उत्पन्न नही हो सकता था। क्योंकि वे नगर राज्य को सामाजिक सगठन का सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट रूप समझते थे इसलिये वे यूनान की राष्ट्रीय एकता की धारणा को स्पष्ट रूप से सामने रखने में विफल रहे। यहाँ तक कि अरस्तु ने भी सिकन्दर की सैनिक विजय के राजनीतिक परिणामों की ओर से अपनी आँखे बन्द कर लीं। यूनान का दुर्भाग्य था कि उसके राजनीतिज्ञ तथा राजनीतिक विचारक राज्य के आन्तरिक कलह तथा अन्तर्राज्य प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न हुई समस्याओं का कोई हल न निकाल सके। उन्हे अपनी विफलता का दण्ड भुगतना पड़ा। विभिन्न राज्यों के एक सूत्र में सगठित न होने और अपने सामान्य शत्रु के सामने एक सामान्य मोर्चा न लगा पाने का कटु फल यह हुआ कि यूनान ने पहिले तो मकदूनिया की शक्ति के सामने घुटने टेक दिये और फिर रोम के हाथो परास्त हुआ।

बदली हुई राजनीतिक स्थितियो में पुराने नागरिक आदर्श नहीं बने रह सकते थे; यह धारणा समाप्त हो गई कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और वह एक

स्वशासक समाज का अभिन्न अंग है ; इसकी जगह यह विचार प्रतिष्ठित हो गया कि मनुष्य समाज मे अधिक से अधिक स्वाधीन रहने वाला एक व्यक्ति है। एक अच्छे या बुद्धिमान व्यक्ति को राज्य के राजनीतिक जीवन में भाग लेने से बचना चाहिये। अफलातून और अरस्तु का दर्शन उस स्टोइसिज्म की बढती हुई बाढ के सामने न टिक सका जो कि विश्वव्यापी कानून, मानव समानता तथा विश्व नागरिकता के विचारो पर जोर देता था।

रोमनो ने यूनानियो से जो कुछ लेकर पश्चिम को दे दिया वह अफलातून और अरस्तु की दर्शन धारा नही थी बल्कि विश्वव्यापी प्राकृतिक कानून तथा विश्व नागरिकता के अत्यन्त फलदायक स्टोइक सिद्धान्त थे। इन आदर्शो की साकार अभिव्यक्ति रोम के विश्वसाम्राज्य मे हुई जो कि यूरोप तथा उस भूभाग के, जिसे हम आज 'निकट पूर्व' (Near East) कहते है, दो तिहाई भाग पर आच्छादित था। यह एशिया माइनर तथा आईबेरियन पठार के बीच में तथा भूमध्य सागर और उत्तरी सागर के बीच मे रहने वाली जातियो को एक ही विश्वव्यापी कानून तथा एक ही सामान्य संस्कृति के अन्तर्गत ले आया। रोमन न्यायविदो ने मानव समानता और मानव-भ्रातृत्व के स्टोइक आदर्शों को न्यायशास्त्र की माला मे पिरो दिया। मानव जाति को एक शानदार कानून प्रणाली तथा न्याय-शास्त्र देने के अतिरिक्त रोम ने अपने विशाल साम्राज्य में आठ शताब्दियों तक शान्ति स्थापित रक्खी। उसने सड़कें बनवाई, पुल बनवाये, सफाई के प्रबन्ध मे सुधार किया और वाणिज्य तथा व्यापार को भारी प्रोत्साहन दिया। रोम ने विचार जगत को कोई विशेष देन नही दी; उसकी देन यह है कि यूनान, मिस्र और कार्थेज से जो टेक्नीकल, कलात्मक तथा बौद्धिक विरासत मिली उसे उसने कायम रक्खा, उसे पचाया तथा उसे आने वाली नस्लों तक पहुँचाया।

रोम के कारनामों का एक निषेधात्मक पक्ष भी है। अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण करने तथा उसमें कई शताब्दियो तक शान्ति और व्यवस्था कायम रखने में उसे विवश होकर विजित जातियों की स्वतन्त्रता का अपहरण करना पड़ा। जीती हुई विभिन्न जातियों को एकता के सूत्र मे गूथने के लिये रोम को कानून, अनुशासन तथा एकता पर अधिक जोर देना पड़ा, स्वतन्त्रता और जनतन्त्र पर नही। स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के विचारो को न केवल रोम के पराधीन देशो मे बल्कि स्वयं रोम में भी कुचला गया। वास्तव मे स्वतन्त्रता तथा जनप्रिय सरकार के सिद्धान्तो का एक अत्यन्त केन्द्रीकृत साम्राज्यवादी प्रशासन मे कोई स्थान नही हो सकता था। इससे पहले कि मानव जाति राष्ट्र राज्य द्वारा उत्पन्न एक ऐसे यन्त्र को उत्पन्न करे जो कि एक विशाल राज्य मे जनप्रिय सरकार को सम्भव बनादे, जनतन्त्र-हीन साम्राज्य का यह रोमन प्रयोग शायद आवश्यक था।

परन्तु यूनान और रोम की देन एक दूसरे से कितनी भी भिन्न क्यो न हो, ईसाई धर्म के आविर्भाव के समय ये दोनो एक ही संस्कृति का अंग थी। इस संस्कृति को हम यूनानी-रोमन (Graeco-Roman) संस्कृति कह सकते है। इसकी मुख्य

विशेषता यह थी कि इसने एक अन्तर्मुखी धार्मिक जीवन के विचार को उत्पन्न नहीं किया। यूनानी और रोमन, दोनों ही बाह्य क्रियाओं और संस्कारों को धर्म समझते थे; धर्म उनके लिए न्यूनाधिक राज्य का ही एक उपकरण था। यद्यपि सैनेका ने इहलौकिक तथा आध्यात्मिक हितों को एक दूसरे से अलग कर दिया और शरीर को आत्मा के लिए एक बन्धन समझा तथापि व्यक्ति के जीवन में व्यक्ति की सामाजिक तथा राजनीतिक क्रियाओं से पृथक् धार्मिक हित को एक निजी और स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया। न तो यूनानियों ने और न रोमनों ने आध्यात्मिक शक्ति को सांसारिक शक्ति से अलग किया। यूनानी-रोमन युग की यह मौलिक धर्मनिरपेक्ष एकता तब तक भंग नहीं हुई जब तक कि ईसाई धर्म का आविर्भाव नहीं हुआ जिसने पश्चिम के इतिहास में पहिली बार मनुष्य के लौकिक तथा आध्यात्मिक हितों में एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींची और 'उसके द्वारा, इस संसार में एक नवीन करुणा तथा एक नवीन आशा का संचार किया' और 'मुक्ति का नया आश्वासन तथा पाप का एक नया विचार दिया।

ईसाइयत की देन--पाश्चात्य विचार तथा संस्कृति को ईसाई धर्म की प्रमुख देन यह है कि इसने मनुष्य के लौकिक तथा पारलौकिक हितों में एक स्पष्ट विभाजन किया है। इसका विश्वास है कि मनुष्य दो तत्वों से बना है; एक ओर वह शरीर है और दूसरी ओर आत्मा। शरीर का हित आत्मा के हित से भिन्न है, शरीर होने के नाते मनुष्य इन्द्रिय-सुख, सांसारिक शक्ति और समृद्धि की कामना करता है, आत्मा होने के नाते उसका ध्येय पाप से मुक्त होना और मोक्ष प्राप्त करना है। पहिली चीज को वह लौकिक समाज का सदस्य होकर और उसके कानूनों का पालन करके प्राप्त कर सकता है; दूसरे लक्ष्य की सिद्धि वह ईसाई चर्च की सदस्यता तथा परमात्मा की अनुकम्पा (Grace) द्वारा कर सकता है। इन दोनों हितों में सदैव सामंजस्य नहीं हो पाता; कभी-कभी चर्च की सदस्यता और उसके प्रति कर्त्तव्य तथा राज्य-भक्ति में संघर्ष उठ खड़ा होता है। ऐसी स्थिति में चर्च के प्रति भक्ति की राज्य के प्रति भक्ति पर प्रधानता होती है। सारांश यह कि रोमन साम्राज्य के केन्द्र बिन्दु पर ही एक दैविक चर्च की स्थापना करके ईसाई धर्म ने एक नई बात उत्पन्न की; उसने एक ऐसे और सर्वथा नवीन समाज की धारणा को जन्म दिया जो कि राज्य के सामने खड़ा हुआ उससे स्वतन्त्र रहकर कार्य करने का दावा कर रहा था।

ईसाइयत ने मनुष्य के भौतिक हितों की अपेक्षा उसके आत्मिक कल्याण को अधिक महत्व दिया, इसलिये शुभ जीवन (Good Life) के विषय में उसकी धारणा का तत्सम्बन्धी प्रचलित धारणा से अत्यन्त भिन्न होना स्वाभाविक ही था। यूनानियों ने शरीर और बुद्धि के समन्वयपूर्वक विकास पर बल दिया और मनुष्य के सामने शुभ अथवा नैतिक जीवन का एक कुलीनतन्त्री, बौद्धिक तथा सौंदर्यप्रधान आदर्श रक्खा, और रोमनों ने साहस, अनुशासन तथा राज्यभक्ति के गुणों पर जोर दिया; ईसाई धर्म ने मनुष्य को यह सिखाया कि आध्यात्मिक हितों की पूर्ति किये बिना जीवन को

शुभ नही कहा जा मकना। परमात्मा के पितृत्व तथा मनुष्य के भ्रातृत्व के अपने सिद्धान्त द्वारा इसने मानव समानता के स्टोइक सिद्धान्त को साकार रूप दिया और एक रागात्मक तत्त्व द्वारा उसे सम्बल पहुचाया। इसने मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान करना सिखाया और यह माग की कि उसे साध्य समझा जाना चाहिये, साधन नही। विश्वास, आशा तथा दानशीलता ईसाइयत के विशेष गुण समझे जाने लगे और उसका प्रेम का सिद्धात स्टोइसिज्म तथा मानवतावाद, दोनो का अतिक्रमण कर गया। ईसाइयत का करुणाशील तथा समताप्रधान दृष्टिकोण तभी से पश्चिमी संस्कृति का एक अभिन्न अग बना हुआ है।

इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ईसाइयत ने जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति को राज्य के कार्यक्षेत्र से बाहर निकाल लिया। यह यूनानी-रोमन दृष्टिकोण के बिल्कुल विपरीत था जिसके अनुसार राज्य मानव जीवन के समस्त मूल्यो की प्राप्ति की सुविधा प्रदान करता है। इसका न केवल यह अर्थ था कि जीवन के लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र एक दूसरे से अलग-अलग है बल्कि इसमें यह बात भी निहित थी कि धार्मिक अथवा आध्यात्मिक जीवन अन्तर्मुखी होता है, इस बात से यूनानी और रोमन एकदम अपरिचित थे। जिस ईश्वर के राज्य का वर्णन ईसा करता था वह मनुष्य के अन्दर ही है, बाहर नही; उसकी प्राप्ति के लिए एक निश्चित नैतिक विधान का पालन करना आवश्यक है, समाज के राजनीतिक जीवन मे भाग लेना नही। उसका अर्थात् ईश्वर के राज्य का सदस्य बनने, के लिए इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्य समस्त स्वार्थ भावना, निर्दयता तथा कामुकता का परित्याग करके अपने हृदय को पवित्र करे और अपने पडौसियो से वैसा ही प्रेम करे जैसा कि वह स्वयं अपने से करता है। परमात्मा के राज्य की प्राप्ति किसी क्रान्ति अथवा आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की योजनाओ द्वारा नही, बल्कि एक पवित्र जीवन द्वारा की जा सकती है।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि ईसाइयत की सबसे महत्वपूर्ण देन धार्मिक तथा भौतिक जीवन मे विभाजन करना था; इसने सामाजिक ढाचे की उस एकता को भंग कर दिया जो कि यूनानी-रोमन सस्कृति की एक मुख्य विशेषता थी। सैबाइन के शब्दों मे हम कह सकते है कि ईसाई चर्च का एक ऐसी संस्था के रूप में जिसे कि मानव के आत्मिक विषयों के ऊपर राज्य से स्वतन्त्र रहकर शासन करने का अधिकार हो, अभ्युदय होना पश्चिमी यूरोप के इतिहास मे, राजनीति और राजनीति दर्शन के दृष्टिकोण से, एक सबसे अधिक क्रातिकारी घटना थी।

ईसाई चर्च के अभ्युदय को यूरोप के इतिहास मे सबसे अधिक क्रातिकारी घटना समझने के निम्नलिखित कारण हैं: प्रथम यह कि तत्कालीन समाज के अन्तर्गत एक ऐसे समाज को जन्म देकर जिसका कि अपना संघटन था और अपने नियम तथा सस्कार थे, यह प्राचीन परम्परा से एकदम दूर जा हटा। अपने धार्मिक विचारों तथा सस्थाओं का समर्थन करने मे प्रारम्भिक ईसाई लोग तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था

की कटु आलोचना करते थे और ऐसा करके उन्होंने इतिहास के प्रवाह पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला। सुप्रसिद्ध इतिहासकार गिबन (Gibbon) के अनुसार रोम के अधःपतन में मुख्य हाथ ईसाइयत का था। उसका कहना है कि ईसाइयत ने उस पुराने विश्वास को नष्ट कर दिया जिसने कि रोमनों के चरित्र तथा साम्राज्य को स्थिरता प्रदान की थी; मनुष्य का मस्तिष्क इहलौकिक व्यापार से हटाकर व्यक्तिगत मोक्ष की ओर आकृष्ट किया; अपने अनुयायियों को पद ग्रहण करने तथा सैनिक सहायता पहुंचाने से रोका तथा साम्राज्य की एकता को भंग किया। इन सब बातों ने मिलकर ही रोम का पतन कर डाला, ऐसा गिबन का विचार है। इसके विपरीत अन्य इतिहासकारों की धारणा है कि ईसाइयत का प्रादुर्भाव रोम के पतन का कारण नहीं बल्कि परिणाम है। विल डयूरेण्ट (Will Durant) का विचार है कि जिस समय ईसाइयत का उत्थान हुआ उस समय रोम एक खोखला मात्र रह गया था; ईसाइयत का इतनी तीव्रगति के साथ प्रसार ही इसलिए हुआ क्योंकि रोम मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ दम तोड़ रहा था। हमारे लिए इस बात का निर्णय करना आवश्यक नहीं है कि रोम के पतन में ईसाइयत का मुख्य हाथ था या नहीं; हां, इतना अवश्य मानना होगा कि एक हद तक ईसाइयत रोम के पराभव के लिए अवश्य उत्तरदायी है। ईसाइयत का इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा, इसके लिए हमें यह नहीं देखना है कि रोम के पतन में उसका कहां तक हाथ है, बल्कि हमें देखना तो यह है कि उसने एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें रोमन विचार ईसाई धारणाओं के साथ घुल मिल गये। रोमन साम्राज्य के खण्डहरों में से पश्चिम में एक ईसाई जगत का जन्म हुआ जिसने रोम की सामाजिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं को नवीन धाराओं में प्रवाहित कर दिया। दूसरी बात यह है कि बर्बरों के आक्रमणों के फलस्वरूप रोमन साम्राज्य के पराभव के बाद पश्चिम में ईसाई चर्च ही पाश्चात्य सभ्यता का एकमात्र संरक्षक रह गया। इसने न केवल ट्यूटनों (Teutonic hordes) के आक्रमण से सभ्यता की रक्षा की बल्कि स्वयं आक्रमणकारियों को भी सभ्य बनाकर सभ्यता की सीमाओं को प्रसारित किया। 'अन्धकार युग' (Dark Ages) में चर्च पश्चिमी सभ्यता का एक बहुत बड़ा सहारा सिद्ध हुआ। रोम के पतन का मार्ग प्रशस्त करने या एक नवीन सामाजिक व्यवस्था कायम करने की अपेक्षा सभ्यता का प्रसार ऐतिहासिक रूप से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

इसी प्रकार ईसाई चर्च का उद्भव पश्चिम में राजनीतिक विचार के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना सिद्ध हुई। प्रथम तो यह कि उसने उस समस्या को जन्म दिया जिसमें समस्त मध्य युग में विचारकों का मन उलझा रहा। उनके सामने मुख्य समस्या यह थी कि आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति, पोपशाही (Papacy) और साम्राज्य में सम्बन्ध क्या हो। इस विवाद के विभिन्न पक्षों के समर्थन और विरोध में रचे गये साहित्य को यदि हम छोड़ दें तो मध्य युग में कोई राजनीतिक विचार शेष नहीं रह जाता। दूसरे यह कि ईसाई धर्म ने उस युग के राजनीतिक विचार में एक नवीन तत्व

का समावेश किया। यूनानी-रोमन युग का दृष्टिकोण प्रगतिशील नही था ; वह मनुष्य अथवा समाज को एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए नही देखता था ; उसके अनुसार जीवन स्वय अपना पुरस्कार और औचित्य था। इसके विपरीत ईसाईधर्म ने मानव जीवन तथा सामाजिक सघटन मे एक उद्देश्य का समावेश किया ; उसने सिखाया कि मनुष्य को एक लक्ष्य की पूर्ति करनी है और समाज का निर्माण उस लक्ष्य की प्राप्ति के दृष्टिकोण से होना चाहिए। उसने व्यक्ति के सामने एक भावी तथा श्रेष्ठतम जीवन का चित्र रक्खा जिसके लिए वर्तमान जीवन एक भूमिका मात्र है। यह बात कि मनुष्य को एक लक्ष्य की प्राप्ति और एक ध्येय की पूर्ति करनी है ईसाई धर्म की एक नवीन कल्पना है ; इसने आधुनिक विचार पर गहरा प्रभाव डाला है और उसका रूप निर्धारित किया है ; यह प्रभाव आज भी शेष है। इसमे मानव व्यक्तित्व के मूल्य तथा सम्मान का सत्कार भी निहित है ; यूनानी और रोमन विचार के लिए वह बात एकदम नवीन है। साराश यह कि प्रगति मे विश्वास, व्यक्ति का सम्मान, और मानवतावाद की धारणा आधुनिक विचार को ईसाई धर्म की मुख्य देन है ; ईसाइयत के आदि काल से ही ये पश्चिमी सस्कृति का एक अभिन्न अग रहे है। मध्यकालीन समाज के संस्थान तथा जीवन के अर्थ और उद्देश्य की व्याख्या का रूप निर्धारण इसी विश्वास द्वारा हुआ कि मनुष्य का मुख्य ध्येय अपनी आत्मिक उन्नति है।

ईसाई चर्च का विकास—ईसाई चर्च के मूल तथा विकास के इतिहास की बारीकियो मे जाना हमारे लिए आवश्यक नही। हमारे उद्देश्य के लिए केवल इतना ही देखना काफी है कि ईसाई धर्म का जन्म रोमन साम्राज्य के एक ऐसे भाग में हुआ था जो अधिक प्रसिद्ध नही था और आरम्भ मे लोगो ने इसकी ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया ; ईश्वर के पितृत्व, मनुष्य के भ्रातृत्व तथा ईसा की अनुकम्पा द्वारा आत्मा की मुक्ति के इसके सिद्धान्त समाज के पीडित और दलित वर्गो को बड़े आकर्षक लगे और उन्ही वर्गों में से आरम्भ मे साधारणतया ईसाई धर्म मे लोग आये। जब तक कि ईसाई धर्म का प्रसार दीन-हीन तक ही सीमित रहा और उसके अनुयायियों की संख्या थोड़ी रही, तब तक रोमन साम्राज्य को उससे भयभीत होने की कोई बात न थी और इसीलिए उसने उसके ऊपर कोई विशेष ध्यान नही दिया। किन्तु जैसे-जैसे यह उच्च तथा अभिजात्य वर्गों मे फैलने लगा और इसकी सख्या बढ़ने लगी, उसका अपना एक सघटन उत्पन्न हुआ और वह एक प्रकार से राज्य के अन्दर राज्य बन गया तो रोमन साम्राज्य उससे आशकित हो उठा और उसे दमन करना शुरू किया। परन्तु इसका उत्पीडन कभी-कभी ही होता था ; इसमें तीव्रता तभी आती थी जबकि ईसाई लोग असन्तोष उत्पन्न करते थे। परन्तु चौथी शताब्दी मे बहुत बड़ी सख्या में रोमन सैनिको ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया और उन्होंने सम्राट् की उपासना करने से इन्कार कर दिया ; इसने एक अत्यन्त जटिल राजनीतिक समस्या उत्पन्न कर दी। सम्राट् कॉन्स्टेण्टाइन (Canstantine) ने महसूस किया कि उस समस्या का एकमात्र हल उसका ईसाई धर्म को स्वीकार करना था। इस प्रकार घटनाओं से विवश होकर

उसने नवीन धर्म स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार के राजनीतिक कारणों से सम्राट् थिडोसियस (Theodosius) ने ईसाइयत को साम्राज्य का एकमात्र कानून-विहित धर्म घोषित कर दिया। इस प्रकार ईसाई धर्म ने दूसरे धर्मों तथा सम्प्रदायों को परास्त कर दिया और महान् शक्ति और सम्मान अपने लिये प्राप्त कर लिया।

ईसाई धर्म की विजय के परिणाम—ईसाई धर्म का दूसरे प्रतिद्वन्द्वी धर्मों को पराजित कर देना और उसका साम्राज्य के एकमात्र शाही धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो जाना एक बहुत बड़े ऐतिहासिक महत्त्व की घटना थी; इसने साम्राज्य और स्वयं ईसाई धर्म में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। ईसाई धर्म की आदिकालीन सरलता और पवित्रता नष्ट हो गई और उसमें जटिलता और कट्टरता आ गई; यह अब एक विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन ही न रहकर एक धार्मिक-राजनीतिक शक्ति भी बन गया। आगे चलकर इसने पोपशाही को जन्म दिया; चर्च ने एक अत्यन्त केन्द्रीकृत और शिखरोन्मुखी (*Hierarchical*) संघटन का विकास किया। दूसरी ओर इसने सम्राट् के अधिकार को एक नई शक्ति—धर्म की शक्ति—प्रदान की। परोक्ष रूप से इस विश्वास का प्रचार किया गया और यह व्यापक रूप से माना जाने लगा कि 'साम्राज्य' एक दैविक रचना है और उसे संसार पर शासन करने के लिये ही बनाया गया है। 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का जन्म तथा आगे चलकर इटली को विजय करने के लिए जर्मन सम्राटों का संघर्ष इसी विश्वास का स्वाभाविक परिणाम मालूम होता है। साम्राज्य का प्रेत मध्य युग के ऊपर सदा लटका रहा।

जब ईसाइयत को 'साम्राज्य' ने शाही धर्म के रूप में अपना लिया तो ईसाई धर्म को मानना एक फैशन हो गया; सभी प्रकार के लोग इसकी ओर आकृष्ट होने लगे। किन्तु उनका धर्म-परिवर्तन केवल नाम मात्र का था; यह कोई हृदय-परिवर्तन के कारण नहीं हुआ था, इसलिये उनके साथ ही बहुत से गैर-ईसाई विचार और व्यवहार भी ईसाई धर्म में आये। इसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई धर्म की मौलिक सरलता और पवित्रता को जबर्दस्त आघात लगा। सारांश यह कि विजय उस ईसाई धर्म की नहीं जिसका उपदेश ईसा तथा उसके शिष्यों ने किया था बल्कि उस ईसाई चर्च की हुई जो मैक्सी के शब्दों में "एक भानुमती का कुनबा था जिसमें ईसाइयत के कुछ शेष तत्त्व उन सभी गैर-ईसाई धर्मों में से उधार ली हुई बातों के साथ मिले हुए थे जिन्हें कि इसने पराभूत कर दिया।"* 'साम्राज्य' के ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने से चर्च भी एक हद तक मूर्तिपूजकों की संस्था हो गया।

ईसाई धर्म की विजय का एक दूसरा मुख्य परिणाम यह हुआ कि यह अब एक विशुद्ध धार्मिक आन्दोलन नहीं रहा बल्कि एक धार्मिक-राजनीतिक शक्ति बन गया।

* Christian Church was "a hybrid thing in which a residue of Christian elements were mingled with borrowings from almost every pagan creed which it had supplanted in its struggle for supremacy."

चर्च राज्य का एक विभाग बन गया और उसके प्रमुख सदस्य अर्थात् विशपगण सरकार के माने हुए अधिकारी बन गये और इस प्रकार वे राजनीति में प्रविष्ट हो गए। जागीरदारी (Feudal) प्रणाली के अन्तर्गत भूमिपति होने के नाते विशपगण, एवटगण तथा अन्य पादरी लोग राज्य के चाकर बन गये और इस नाते राज्य के प्रति उनके कुछ कर्तव्य हो गये। गिरजाओं (Churches) ने विशाल सम्पत्ति प्राप्त कर ली और पादरी लोग तत्कालीन राजनीति के तूफान में फंस गये। जब-जब भी उत्तराधिकार का प्रश्न उठता था वे शाही चुनावों के षड्यन्त्र और दाँवपेच में पड़ जाते थे। इस प्रकार कर्म और राजनीति में विभाजन समाप्त हो गया जो कि ईसाई धर्म ने पहिले किया। सम्राट् (Caesar) इस वसुन्धरा पर प्रभु का अवतार बन गया और उसकी आज्ञा का पालन करना एक दैनिक कर्तव्य समझा जाने लगा। यह आदेश कि "लौकिक बातों में राजा का और पारलौकिक बातों में परमात्मा की आज्ञा का पालन करो" (Render unto Caesar the things that are Caesar's and unto God the things that are God's) निरर्थक हो गया।

इसका अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ पोपशाही का जन्म। ईसाई चर्च का प्रारम्भिक संघटन स्थानीय और जनतन्त्री था; उसमें कोई ऐसी केन्द्रीय शक्ति नहीं थी जोकि स्थानीय तथा प्रान्तीय शाखाओं के ऊपर नियन्त्रण रखती। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नगर में चर्च का एक प्रमुख अधिकारी विशप होता था जो कि प्रान्त के अन्य विशप-गण के ऊपर कुछ नियन्त्रण रखता था; किन्तु जहाँ तक कि नगरों के विशपों के पारस्परिक सम्बन्धों का सम्बन्ध है उन सब का दर्जा बराबर होता था; किसी का दूसरे के ऊपर कोई नियन्त्रण या अधिकार नहीं होता था। जब ईसाइयत 'साम्राज्य' का शाही धर्म बन गया तो रोम के विशप को समस्त धार्मिक विषयों में सम्राट् का परामर्शदाता बना दिया गया। इस प्रकार उसे अन्य विशपों के ऊपर एक सीमा तक प्रभुता प्राप्त हो गई। इस बात को इस विश्वास से भी सम्बल मिला कि रोम के चर्च की स्थापना सन्त पीटर ने की है। कुछ अन्य कारणों ने भी इसी दिशा में योग दिया। इस प्रकार रोम ईसाई धर्म का केन्द्रीय स्थान बन गया और एक अत्यन्त केन्द्रीकृत तथा शिखरोन्मुखी संगठन का जन्म हुआ।

साम्राज्य की राजधानी रोम से हटकर कुस्तुन्तुनिया (Constantinople) में जा पहुंची और तदनन्तर 'साम्राज्य' दो भागों में विभक्त हो गया जिनमें से एक पूर्वी भाग था जिसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया थी और दूसरा पश्चिमी जिसका केन्द्रीय स्थान रोम था। अन्त में ४७६ ई० में सम्राट् ऑगस्टस (Augustus) को सिंहासन से उतारने के साथ पश्चिमी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इन सब बातों ने रोम के विशप के पोप बनने और उसके पश्चिम के समस्त धार्मिक संगठन के प्रधान बनने में योग दिया। राजधानी के रोम से हटकर कुस्तुनतुनिया में चले जाने से रोमन विशप नगर में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारी रह गया; सम्राट् की अनुपस्थिति में वह अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता था। इस प्रकार वह अपने कुस्तुनतुनिया

में रहने वाले प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा अधिक रूढ़िभक्त माना जाने लगा। सम्राट् की शक्ति का धीरे-धीरे ह्रास हो जाने के कारण रोमन बिशप को नगर के राजनीतिक मामलों में दिलचस्पी लेनी पड़ी। आगे चलकर जब कि बर्बरों के आक्रमण के फलस्वरूप पश्चिमी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और नये राज्यों का जन्म हुआ तो रोमन बिशप की शक्ति और अधिकार और भी अधिक बढ़ गये। अन्त में पूर्वी चर्च और पश्चिमी चर्च के जो कि क्रमशः 'यूनानी कैथोलिक चर्च' तथा 'रोमन कैथोलिक चर्च' के नाम विख्यात हुए, एक दूसरे से अलग हो जाने के कारण रोमन बिशप पश्चिमी चर्च का सर्वेसर्वा हो गया। इस प्रकार पोपशाही का जन्म हुआ। ग्रेगरी महान् सरीखे शक्तिशाली पोप स्वतन्त्र होकर कार्य करने लगे। अधिकन्तर पूर्वी सम्राटों की असमर्थता ने पोपशाही के एक स्वाधीन धार्मिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने में बड़ी सहायता दी।

ईसाई धर्म की विजय का एक अन्तिम परिणाम भी उल्लेखनीय है जिसने कि पश्चिम के विकास को कई शताब्दियों तक प्रभावित किया। जब तक ईसाई धर्म वर्जित और गैरकानूनी था उसके अनुयाइयों को राज्य राजनीतिक कारणों से कुचलता था तब तक तो यह उत्पीडन की निन्दा करता था और इस आधार पर कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी धर्म के मानने तथा पालन करने का अधिकार होना चाहिये अपने लिये सहिष्णुता की मांग करता था। परन्तु जब यह स्वयं साम्राज्य एकमात्र और कानूनी धर्म बन गया तो इसके दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया और इसने साम्राज्य के अन्दर किसी अन्य धर्म को सहन करने से इन्कार कर दिया। समस्त गैर-ईसाई धर्मों का उत्पीड़न प्रारम्भ हुआ। यह उत्पीडन इक्का-दुक्का, अनियमित तथा किसी स्थिति से विवश होकर नहीं किया जाता और न ही इसका स्वरूप राजनीतिक था जैसा कि साम्राज्य के अन्तर्गत ईसाइयों के साथ होता था; यह नियमित, क्रमबद्ध रूप से निरंतर चलता था। इसके पीछे यह विश्वास था कि ईसाई मत ही एकमात्र सच्चा धर्म है जो परमात्मा ने स्थापित किया है, इसलिए राज्य का प्रत्येक ऐसे मत को जो कि मनुष्य से विमुख करता है कुचलने का पवित्र कर्तव्य है। वह राज्य जो मिथ्या मतों के कुचलने में कोताही करता है वह मानो प्रभु की इच्छा की अवहेलना करता है जो कि समस्त मनुष्यों को मुक्ति दिलाना है। इसलिए गैर-ईसाइयों को कुचलना राज्य का परम कर्तव्य हो गया। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि लगभग एक हजार वर्षों तक बुद्धि कट्टरता की जंजीरों में जकड़ी रही और दर्शनशास्त्र ईसाई चर्च के हाथ की कठपुतली बना रहा। किसी का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि यूनानी युग का ध्येय मनुष्य के विचारों को बुद्धि की संगति में बैठाना था और आधुनिक युग का ध्येय उनको तथ्य के अनुरूप ढालना है किन्तु मध्य युग का ध्येय मनुष्य की धारणाओं को चर्च के रंग में रंगना था। ऐसे मानसिक वातावरण में ज्ञान की प्रगति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए मध्य युग को कभी-कभी अन्धकार युग कहा जाता है।

यह बात समाविहित है कि राजनीतिक क्षेत्र से परे जीवन का एक और क्षेत्र है जिसके अपने कर्त्तव्य है। यदि कुछ चीजें ऐसी हैं जिनमें राजा की इच्छा सर्वोपरि है तो कुछ चीजें ऐसी भी है जिनमे राजा की नही, ईश्वर की इच्छा सर्वोपरि है। राजनीतिक महत्त्व इस विभेद में है और इससे बढकर यह कहने मे कि ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाली बातो मे ईश्वर की इच्छा ही का पालन होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे ईसाई धर्म का सिद्धात यह है कि मनुष्य का कर्त्तव्य दोहरा है, एक राज्य के प्रति और दूसरा ईश्वर के प्रति। यदि इन दोनो मे संघर्ष हो तो एक सच्चे ईसाई का धर्म ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है, न कि राजाज्ञा का। राज्यभक्ति के ऊपर सैद्धान्तिक रूप से जोर देने के बावजूद इस सिद्धात में एक ऐसा तत्व वर्तमान है जो कि उस अपरिमित और विभक्त भक्ति से बिल्कुल ताल नही खाता जिसकी माग रोमन राज्य व्यक्ति से करता था। यही कारण है कि मार्कस ऑरीलियस (Marcus Aurelius) सरीसे धर्मात्मा सम्राट् को ईसाईयों का उत्पीड़न करना पडा। इस कथन का कि 'लौकिक विषयों मे राजा की और पारलौकिक विषयो मे ईश्वर की आज्ञा का पालन करो' पूर्ण महत्त्व समझने के लिये हमे इनकी तुलना अफलातून और अरस्तु के इस विचार से करनी चाहिए कि मनुष्य जीवन समस्त मूल्यों की प्राप्ति राज्य की सदस्यता द्वारा ही कर सकता है। ईसाई धर्म का दृष्टिकोण यूनानी दार्शनिको के सिद्धात की जड पर ही आघात करता है; आध्यात्मिक क्षेत्र को लौकिक क्षेत्र से अलग करके यह जीवन के अन्तिम मूल्यों को राजनीतिक क्षेत्र अर्थात् राज्य के अधिकार से बाहर ले जाता है। "वह व्यक्ति को नगर अथवा धर्म राज्य की जैविक एकता से निकाल लेता है और उसे एक ऐसे संसार के सम्बन्ध मे रख देता है जो कि उनसे ऊपर है। यह अधिक प्रारम्भिक और कम व्यक्तिकृत समाज के ढाचे और उस मनोवैज्ञानिक एकता को ढहाता है जिसके कारण प्रारम्भिक समाज दृढ और स्थिर बने रहे थे, भले ही वे भावुक न हों।"*

ईसाई धर्म के उपरोक्त सिद्धांत का आधार यह धारणा है कि मनुष्य दो तत्वों से मिलकर बना है और इसलिए वह दो विभिन्न शक्तियों के अधीन है। शरीर के रूप में वह नागरिक समाज का अङ्ग है, उसके भौतिक अथवा लौकिक हित लौकिक राज्य की सदस्यता से सम्बद्ध हैं; इसलिए उसकी आज्ञा का पालन करना एक लौकिक आवश्यकता है। आत्मा होने के नाते उसके भिन्न हित है और भिन्न लक्ष्य हैं; वह ईश्वरीय राज्य का सदस्य हो जाता है जो उसके अन्दर है; उसके

Temple State and sets him in relation to a world beyond them. It undermines the whole structure of the more primitive; less individualised community and the psychological solidarity which had kept earlier societies stable, if insensitive."
—Bowle : [*Western Political Thought*, page 107.

प्रारम्भिक ईसाई धर्म के राजनीतिक विचार—सैबाइन के इस कथन को, कि मानव जाति के आध्यात्मिक विषयों को अनुशासित करने का अधिकार लिए एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में ईसाई चर्च का आविर्भाव राजनीतिक विचार के इतिहास मे एक सब से अधिक क्रान्तिकारी घटना थी, पूर्ण रूप से समझने के लिए ईसाई धर्म के कुछ सिद्धान्तो के राजनीतिक परिणामों का तनिक विस्तार के साथ वर्णन करना आवश्यक है। ऐसा करना इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि आरम्भ मे ईसाइयत एक धार्मिक आन्दोलन था, राजनीतिक सिद्धान्त नहीं; प्रारम्भिक ईसाइयो का सगठन सूत्र आध्यात्मिक धारणायें थी, सासारिक या राजनीतिक हित नही। उनके जो कुछ भी राजनीतिक विचार थे वे कुछ उन्ही के निराले नही थे बल्कि वे सामान्य रूप से दूसरो के भी थे। उनका स्वरूप अधिकतर स्टोइक था। उदाहरण के लिए, वे इस बात को एक स्वयसिद्ध सत्य समझते थे कि कानून विहित शक्ति की आज्ञा का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है और मनुष्य की परमात्मा की आँखों के सामने एकता और ससार के ऊपर दैविक शासन भी थे। ये स्टोइक विचार परमात्मा के पितृत्व तथा मनुष्य के भ्रातृत्व सम्बन्धी ईसाई धारणाओं से सम्बद्ध होकर अधिक सारगर्भित हो उठे; मानव समानता की जनतन्त्री धारणा से कि एक ही दैविकता मे भागीदार होने के नाते सभी मनुष्य आपस मे भाई-भाई है, इस स्टोइक धारणा की अपेक्षा कि सब मनुष्य एक ही विश्वव्यापी कानून के अधीन है, अधिक समर्थन प्राप्त हुआ। इसी प्रकार विश्ववाद की स्टोइक धारणा 'लक्ष्य राज्य' (Kingdom of Ends) के द्वारा अधिक अर्थगर्भित और गहरी हो उठी।

ईसा ने इन विख्यात तथा प्राय: उद्धरित शब्दों मे राज्यभक्ति के महत्व पर बल दिया था: "ससार की बातो मे राजा की आज्ञा मानो; पारलौकिक बातो मे परमात्मा के आदेश का पालन करो।" सन्त पाल (St. Paul) ने इसी विचार को निम्नांकित शब्दो में व्यक्त किया है: "प्रत्येक आत्मा उच्चतर शक्तियो के अधीन रहनी चाहिये। क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति है ही नही, इसलिए जो भी शक्ति ससार मे है वह ईश्वर की प्रकट की हुई है। इसलिए जो कोई भी सासारिक शक्ति की अवहेलना करता है, मानो वह स्वय ईश्वर के आदेश की अवहेलना करता है। और अवहेलना करने वालो पर ईश्वर का प्रकोप होगा।"* राजकीय आज्ञा पालन के कर्तव्य को इससे अधिक जोरदार और प्रभावक भाषा मे व्यक्त नही किया जा सकता। इस प्रकार राजा की आज्ञा का पालन करना ईसाई विचार की एक मुख्य विशेषता बन गई।

किन्तु ईसाई धर्म की उक्त शिक्षा इतनी सरल और निष्क्रिय नहीं है जितनी कि यह दिखाई पड़ती है; इसमें एक अत्यन्त क्रान्तिकारी परिणाम निहित है। इसमें

* "Let every soul be subject to unto higher powers. Fore there is no powers but of God: the powers that be are ordained of God. Whosoever therefore resisteth the power resisteth the ordinance of God; and they that resist shall receive unto themselves damnation."

और जो भी प्रभुत्व होगा वही सबका सेवक होगा :"* सारे मध्य युग में राजपद एक ट्रस्ट समझा जाता था।

ईसाई धर्म की धारणा के अनुसार राजनीतिक शक्ति की स्थापना ईश्वर ने मनुष्य के अधःपतन के बाद और उसके फलस्वरूप की। यदि आदम अर्थात् आदि पुरुष ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन न करता और वर्जित फल न खाता तो वह ईश्वर का कोपभाजन न बनता और सरकार की बिल्कुल कोई आवश्यकता न होती। सारांश यह कि ईसाई धारणा के अनुसार सरकार की स्थापना का कारण मानव पाप है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह स्वयं पापमय है। वह पापमय नहीं है क्योंकि स्वयं ईश्वर ने न्याय की रक्षा के लिए उसकी स्थापना की है। न्याय का अर्थ है पुण्य और पाप के लिए पुरस्कार और दण्ड की समुचित व्यवस्था द्वारा ईश्वरीय कानून को कायम रखना। इस प्रकार राज्य को एक पवित्र चरित्र प्रदान किया गया; उसके प्रधान को ईश्वर का एक एजेण्ट समझा गया। इस प्रकार राज्य को ईश्वर द्वारा स्थापित और मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक समझा गया। प्रारम्भिक ईसाइयों में फैली हुई अराजकतावादी प्रवृत्तियों का प्रतिकार करने की भावना से प्रेरित होकर धर्मावतारों (Apostles) ने कानूनविहित राज्य की आज्ञा पालन के कर्तव्य पर जोर दिया।

धर्मावतारों ने न केवल राज्यभक्ति को उचित ठहराया, वरन् उस समय पाई जाने वाली दास प्रथा का भी समर्थन किया जो कि ईसाई धर्म की शिक्षाओं के एकदम विपरीत थी। यदि स्वभावतया सभी मनुष्य समान हैं; यदि ईश्वर किसी भी मनुष्य को परतंत्र उत्पन्न नहीं करता तो फिर दास प्रथा का औचित्य ही क्या है? सत पाल ने इसे इस आधार पर उचित ठहराने का प्रयत्न किया कि राज्य की भांति दास प्रथा भी पाप का परिणाम और उससे मुक्त होने का साधन है। ईश्वर ने तो सब मनुष्यों को समान बनाया किन्तु मनुष्य के 'पतन' के कारण यह मौलिक समानता नष्ट हो गई और मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियों के दास हो गये। दासता या पशु प्रकृति का पाश एक स्वामी के प्रति आज्ञाकारी रहने से ही दूर हो सकता है। बाह्य दासता एक ऐसा अनुशासन है जो परमात्मा ने दास की आत्मा के कल्याण के लिए उस पर थोपा है। इसलिये दास को अपनी संकटमय स्थिति से भाग निकलने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये बल्कि उसे प्रभु इच्छा समझकर उसके सामने समर्पण कर देना चाहिये। ईसाई चर्च ने शताब्दियों तक दास प्रथा को सहन किया।

प्रारम्भिक ईसाइयों ने परिवार तथा पैतृक अधिकार को भी पुनर्जीवित किया क्योंकि यह उस नवीन सामाजिक व्यवस्था को एक दृढ़ आधार प्रदान करता था जो कि उस समय जन्म ले रही थी। याद रहे कि सन्तान के ऊपर पिता का नियन्त्रण जो कि रोमन इतिहास के प्रारम्भिक काल में बिल्कुल निरपेक्ष था 'साम्राज्य' के समय में राज्य के दबाव के कारण प्रायः नष्ट हो गया था। इसी के साथ-साथ उस समय

* "Whosoever shall be great among you shall be your minister. And whosoever will be the chiefest shall be the servant of all."

हितो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, इसलिए राज्य-भक्ति तथा ईश्वर-भक्ति मे यदि सघर्ष हो तो दूसरी को पहली के ऊपर सदा तरजीह मिलनी चाहिये ।

निस्सन्देह स्टोइक्स भी दो राज्यो की सदस्यता में विश्वास करते थे ; उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक ओर तो उस राज्य का सदस्य है जिसमें कि उसका जन्म हुआ है और दूसरी ओर वह समस्त विश्व का एक घटक है। परन्तु विश्व नागरिकता का स्टोइक विचार ईश्वरीय राज्य की सदस्यता की ईसाई धारणा के अनुरूप नही हो सकता। ईसाई धारणा के अनुसार व्यक्ति के जीवन का एक ऐसा ध्येय है जो कि स्टोइक धारणा से एक दम भिन्न है। ईसाई धारणा का अर्थ दूसरे प्रसग मे स्पष्ट किया जायेगा। यहाँ हम केवल इस बात पर जोर देना चाहते है कि दोहरी भक्ति का ईसाई सिद्धात जिसका कोई जोड यूनानी या रोमन विचार में नही है, शरीर और आत्मा के विभेद पर आधारित है जिस पर ईसाई धर्म ज़ोर देता है।

ईसाई सिद्धात के एक दूसरे राजनीतिक परिणाम पर भी हमें ध्यान देना चाहिये। सन्त पाल ने ईसाइयों को तत्कालीन राजनीतिक शक्ति का सम्मान करने और उसकी आज्ञा का पालन करने की प्रेरणा इस आधार पर की थी कि समस्त शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है और जो भी नागरिक शक्ति की अवहेलना करता है वह स्वय ईश्वर की अवहेलना करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य एक दैविक सस्था है और शासक अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करते है। वे इसे जनता से प्राप्त नही करते जैसा कि रोम की परम्परागत धारणा थी ; वे दैविक अधिकार द्वारा शासन करते हैं, जनता द्वारा दिए हुए अधिकार द्वारा नही। दूसरे शब्दों में ईसाई धर्म के अनुसार, राजाज्ञा का पालन करना एक धार्मिक कर्त्तव्य है ; राजा की आज्ञा भंग करना ईश्वर की आज्ञा भंग करना है। यह केवल समाज के प्रति ही एक अपराध नही है, यह ईश्वर के प्रति पाप भी है। यह राजनीतिक कर्तव्य के सविदात्मक आधार का खण्डन है। ईसाई सिद्धात के इस पहलू को उस समय अच्छी तरह नही समझा गया ; इसके और रोमन दृष्टिकोण के विरोध को स्पष्ट रूप से नही देखा गया। सत पाल की शिक्षाओं में यह बात निहित है कि आज्ञापालन राजा के पद का होता है, स्वय राजा का नही ; इसलिए जहा तक उसकी शक्ति को आज्ञा पालन करने के कर्तव्य का सम्बन्ध है राजा के व्यक्तिगत गुण, दोष अप्रासगिक हैं। ईसाई धर्म ने समर्थन राज्य के दैविक अधिकार का किया है, राजाओं के अधिकार का नही।

यहाँ यह बताना भी अनावश्यक न होगा कि ईसाई धर्म के अनुसार राजा जनता का स्वामी नही है बल्कि उसका प्रथम सेवक है। उसका समुचित कार्य जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, उसके ऊपर प्रभुत्व जमाना नही। सत पाल ने निम्नाकित घोषणा की थी ; "तुम मे जो भी महान् होगा वही तुम्हारा मत्री बनेगा।

और जो भी प्रभुत्व होगा वही सवका सेवक होगा :"* सारे मध्य युग में राजपद एक ट्रस्ट समझा जाता था।

ईसाई धर्म की धारणा के अनुसार राजनीतिक शक्ति की स्थापना ईश्वर ने मनुष्य के अध.पतन के बाद और उसके फलस्वरूप की। यदि आदम अर्थात् आदि पुरुष ईश्वर की आज्ञा का उल्लघन न करता और वर्जित फल न खाता तो वह ईश्वर का कोपभाजन न बनता और सरकार की बिल्कुल कोई आवश्यकता न होती। सारांश यह कि ईसाई धारणा के अनुसार सरकार की स्थापना का कारण मानव पाप है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह स्वयं पापमय है। वह पापमय नहीं है क्योंकि स्वय ईश्वर ने न्याय की रक्षा के लिए उसकी स्थापना की है। न्याय का अर्थ है पुण्य और पाप के लिए पुरस्कार और दण्ड की समुचित व्यवस्था द्वारा ईश्वरीय कानून को कायम रखना। इस प्रकार राज्य को एक पवित्र चरित्र प्रदान किया गया ; उसके प्रधान को ईश्वर का एक एजेण्ट समझा गया। इस प्रकार राज्य को ईश्वर द्वारा स्थापित और मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक समझा गया। प्रारम्भिक ईसाइयों में फैली हुई अराजकतावादी प्रवृत्तियों का प्रतिकार करने की भावना से प्रेरित होकर धर्मावतारों (Apostles) ने कानूनविहित राज्य की आज्ञा पालन के कर्त्तव्य पर ज़ोर दिया।

धर्मावतारों ने न केवल राज्यभक्ति को उचित ठहराया, वरन् उस समय पाई जाने वाली दास प्रथा का भी समर्थन किया जो कि ईसाई धर्म की शिक्षाओं के एकदम विपरीत थी। यदि स्वभावतया सभी मनुष्य समान हैं ; यदि ईश्वर किसी भी मनुष्य को परतन्त्र उत्पन्न नहीं करता तो फिर दास प्रथा का औचित्य ही क्या है ? सत पाल ने इसे इस आधार पर उचित ठहराने का प्रयत्न किया कि राज्य की भाँति दास प्रथा भी पाप का परिणाम और उससे मुक्त होने का साधन है। ईश्वर ने तो सब मनुष्यों को समान बनाया किन्तु मनुष्य के 'पतन' के कारण यह मौलिक समानता नष्ट हो गई और मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियों के दास हो गये। दासता या पशु प्रकृति का पाश एक स्वामी के प्रति आज्ञाकारी रहने से ही दूर हो सकता है। बाह्य दासता एक ऐसा अनुशासन है जो परमात्मा ने दास की आत्मा के कल्याण के लिए उस पर थोपा है। इसलिये दास को अपनी संकटमय स्थिति से भाग निकलने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये बल्कि उसे प्रभु इच्छा समझकर उसके सामने समर्पण कर देना चाहिये। ईसाई चर्च ने शताब्दियों तक दास प्रथा को सहन किया।

प्रारम्भिक ईसाइयों ने परिवार तथा पैतृक अधिकार को भी पुनर्जीवित किया क्योंकि यह उस नवीन सामाजिक व्यवस्था को एक दृढ़ आधार प्रदान करता था जो कि उस समय जन्म ले रही थी। याद रहे कि सन्तान के ऊपर पिता का नियन्त्रण जो कि रोमन इतिहास के प्रारम्भिक काल में बिल्कुल निरपेक्ष था 'साम्राज्य' के समय में राज्य के दबाव के कारण प्रायः नष्ट हो गया था। इसी के साथ-साथ उस समय

* "Whosoever shall be great among you shall be your minister. And whosoever will be the chiefest shall be the servant of all."

विवाह को एक कानूनी समझौता समझा जाने लगा जिसे उभय पक्ष अपनी इच्छानुसार कभी भी तोड़ सकते थे। इन दो बातों ने मिलकर परिवार बन्धन को बहुत दुर्बल बना दिया। आदिकालीन ईसाइयो ने परिवार को पुनर्जीवित करने का एक सफल प्रयास किया। वे विवाह को एक कानूनी समझौता नही, बल्कि एक संस्कार समझते थे जिसे भग नही किया जा सकता; उन्होंने पिता के सन्तान पर पूर्ण नियंत्रण रखने के अधिकार को स्वीकार किया। परिवार के ऊपर परिवार के प्रधान का अधिकार का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। "प्रत्येक ईसाई पुरुष राजनीतिक शक्ति को चुनौती दे रहा था क्योंकि उसका दृढ विश्वास था कि विवाह एक पवित्र संस्कार है और ईश्वर ने उसे परिवार का प्रधान बनाया है। इस पद पर अपने को ईश्वर द्वारा नियुक्त समझते हुये वह सरकारी अधिकारियों की ओर से कोई हस्तक्षेप सहन करने के लिए तैयार न था। प्रारम्भिक ईसाइयो द्वारा परिवार इकाई को पुनर्जीवित करना राजनीतिक समाज की एक नवीन व्यवस्था की रचना की ओर उनका एक पहिला महत्वपूर्ण कदम था।"*

आदिकालीन ईसाइयों ने एक दूसरा कदम उठाया जिसके महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम निकले। राज्य के प्रति भक्तिभाव का उपदेश तो उन्होंने अवश्य दिया; किन्तु साथ-साथ संत पाल की यह धारणा थी कि ईसाइयो को अपने झगड़ो का निर्णय मूर्तिपूजको के न्यायालयो में नही कराना चाहिये। इसका अर्थ यह समझा गया कि ईसाइयों को अपने मामलों का निपटारा ईसाई कानून के अनुसार और ईसाइयों द्वारा ही कराना चाहिये। इस प्रकार इस बात की माग उठी कि ईसाई कानून के अनुसार काम करने वाले ईसाई न्यायालय कायम किये जाये। ज़ाहिर है कि ऐसे न्यायालय राज्य के न्यायालयो के प्रतिद्वन्द्वी थे। इसका अर्थ था राज्य के अन्दर एक राज्य का कायम होना।

इस प्रकार चौथी शताब्दी तक ईसाई चर्च एक निश्चित संघटन बन गया; उसने परिवार का पुनरुत्थान किया जो कि नवीन सामाजिक व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण इकाई थी; और अपने सदस्यो के लिए अलग न्यायालयो की स्थापना करके उसने राज्य के अन्दर राज्य को जन्म दिया। यह थी वह स्थिति जिसने सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन को धर्म परिवर्तन करके ईसाई बनने के लिए विवश किया और जिसके कारण अन्य धर्मों पर ईसाइयत की विजय हुई।

एक नई समस्या का उत्पन्न होना—यह सही है कि ईसा के इस कथन में कि 'लौकिक विषयो में राजा की और पारलौकिक मामलो मे ईश्वर की आज्ञा का पालन

* "Political authority was being challenged by every Christain man who, firmly convinced that his marriage was a holy sacrament, knew himself to be placed at the head of the family by the will of God; and regarding himself as divinely appointed to this position could not brook interference from the pagan authority of imperial officials. The revival of the family unit by the early Christians was one of their first significant move towards the constitution of a new order of political authority."

—Doyle : *A History of Political Thought*, page 58.

करों क्रांतिकारी परिणाम निहित थे और इसके ऊपर विभक्त भक्ति का सिद्धान्त आधारित था और एक निश्चित संस्था के रूप में ईसाई चर्च की स्थापना रोमन साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक गम्भीर खतरा थी। परन्तु इन सब बातों के बावजूद प्रारम्भिक ईसाइयत का स्वरूप अराजनीतिक था ; राजनीतिक विचारकों के लिए उसने कोई समस्या खड़ी नहीं की। उसके प्रमुख सदस्यों की नम्रता, पारलौकिकता तथा राजनीतिक उदासीनता और उनका मुख्य रूप से आत्मा की मुक्ति की समस्या में रहना राजनीतिक कल्प-विकल्प के विकास के लिए एकदम प्रतिकूल था। नवीन धर्म के निर्माण काल में आध्यात्मिक तथा लौकिक क्षेत्र के विभेद ने राज्य और चर्च के पारस्परिक सम्बन्ध को कोई समस्या उत्पन्न नहीं की क्योंकि चर्च एक ऐच्छिक समुदाय था और यदा-कदा उसके ऊपर अत्याचार होता रहता था। परन्तु जब ईसाइयत साम्राज्य का राज्य धर्म बन गई और चर्च साम्राज्य का एक अंग हो गया तो स्थिति में परिवर्तन हुआ। चर्च और राज्य मे एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ और सब लोग यह स्वीकार करते थे कि दोनों को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिये। राज्य भक्ति का उपदेश देना चर्च का कर्तव्य था और चर्च की रक्षा तथा सहायता करना राज्य का कार्य था। प्रारम्भ में सम्राट समस्त विषयों में, चाहे वे लौकिक हों या धार्मिक, अंतिम अधिकार का प्रयोग करता था ; धर्म राज्य का एक विभाग समझा जाता था ; चर्च में अभी आत्म-चेतना तथा शक्ति नहीं आई थी। परन्तु ज्यों ही चर्च शक्तिशाली बना उसने विशाल सम्पत्ति प्राप्त की और अपने संघटन तथा सिद्धान्तों का विकास किया, त्यों ही वह आध्यात्मिक विषयों मे स्वायत्त शासन की मांग करने लगा। संत एम्ब्रोज (St Ambrose) मिलान के बिशप ने बड़ी तत्परता के साथ इस धारणा का प्रतिपादन किया। जब उसने आध्यात्मिक विषयों में चर्च की स्वतन्त्रता का दावा किया तब से ही राज्य और चर्च के बीच में उचित सम्बन्ध की समस्या खड़ी हुई। परन्तु ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक इसने कोई संघर्ष उत्पन्न नहीं किया। तब तक दोनों का सम्बन्ध 'दो तलवारों, के सिद्धान्त पर आधारित रहा। दोनों के पारस्परिक संघर्ष का वर्णन १२वें अध्याय में किया जायेगा। यहां पर हम प्रारम्भिक काल मे चर्च के दृष्टिकोण का उल्लेख करेंगे जिसकी सुन्दर अभिव्यक्ति संत एम्ब्रोज, संत ऑगस्टाइन (St Augustine) तथा पोप ग्रेगरी महान् (*Pope Gregory, the Great*) ने की। इनमें से किसी भी विचारक ने राज्य और चर्च के सम्बन्ध मे किसी क्रमबद्ध सिद्धान्त का विकास नहीं किया ; उन्होंने आध्यात्मिक विषयों में चर्च की स्वाधीनता पर जोर दिया और उन्होंने जो विचार प्रगट किये वे ईसाई विचार का एक अभिन्न अंग बन गये।

सन्त एम्ब्रोज—सन्त एम्ब्रोज (३४०–३६७), मिलान के बिशप का राजनीतिक विचार के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि उन्होंने चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईसाई चर्च की बढ़ती हुई आत्म-चेतना तथा शक्ति को अभिव्यक्त किया। सम्राट थ्यूडोसियस तथा वेलन्टीनियन (Valentinian) के साथ व्यवहार करने में

रता से काम लिया और आध्यात्मिक विषयों में चर्च की स्वाधीनता की रक्षा की। उन्होंने सम्राट वेलन्टीनियन को लिखा कि धर्म के विषयो मे सम्राट विशपगण के अधीन है, विशपगण सम्राट के नही। आध्यात्मिक विषयो मे समस्त ईसाई जिनमे सम्राट भी सम्मिलित थे चर्च के अधिकार क्षेत्र मे थे; सम्राट का चर्च के ऊपर आधिपत्य नही था बल्कि वह स्वयं चर्च के अधीन था, और आध्यात्मिक विषयों पर उसका कोई नियन्त्रण नही था। जब सम्राट ने संत एम्ब्रोज को एरियन्स (Arians) के प्रयोग के लिए चर्च देने का आदेश दिया तो उसने यह कहकर इकार कर दिया कि महलो का स्वामी सम्राट है, चर्चों के स्वामी विशपगण हैं। चर्च की भूमि सम्पत्ति पर सम्राट का अधिकार था किन्तु चर्च के भवनो पर नही था जो कि प्रभु सेवा के लिए अर्पित थे। एक दूसरे अवसर पर उसने सम्राट थ्यूडोसियस की उपस्थिति मे एक उत्सव मनाने से इन्कार कर दिया क्योंकि सम्राट एक हत्याकाण्ड का अपराधी था और इसलिए चर्च द्वारा नैतिक भर्त्सना का पात्र था।

सन्त आगस्टाइन : उनका जीवन तथा समय--सन्त ऑगस्टाइन (३५४-४३० ई०) संत एम्ब्रोज के एक महान् शिष्य थे। उन्हे रोमन चर्च फादर्स मे महानतम समझा जाता है और आने वाले विचार पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। सैबाइन का कहना है कि उनके लेख विचारो की खान हैं जिनमे से बाद के विचारकों ने खोदकर विचार निकाले है। ईसाई चर्च के इतिहास मे सन्त पाल के बाद सन्त ऑगस्टाइन को सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता है।

उनका प्रादुर्भाव ससार के इतिहास के एक अत्यन्त नाजुक जमाने मे हुआ। यह एक भारी सकट और बवण्डर का समय था जबकि रोमन साम्राज्य और रोमन कैथोलिक चर्च दोनों का ही विनाश निश्चित दिखाई पड़ता था। वह रोमन साम्राज्य जो उस समय तक के इतिहास मे ससार का महनतम साम्राज्य था और जिसने आठ शताब्दियों तक सभ्य ससार मे शान्ति कायम रक्खी थी, उत्तर-पूर्व से आने वाले बर्बरो के आक्रमण से उसकी धज्जियाँ उड रही थी। हूणो ने डैन्यूब और राइन (Rhine) को पार किया और दुर्बलताग्रस्त साम्राज्य के ऊपर बाज की तरह झपट पडे। उन्होने रोम की सेनाओं को ३७६ ई० में परास्त कर दिया और वे आधुनिक सर्विया तथा बलगेरिया के प्रदेशो में बस गये। वे केवल दो वर्षो के निवास के बाद उन क्षेत्रों से आगे बढे और बीस वर्षों तक साम्राज्य के विभिन्न प्रातो मे लूट मार करते रहे। अन्त मे ४१० ई० मे राजा अलारिक के नेतृत्व मे विजीगोथ्स ने रोम को तीन दिन तक लूटा-खसोटा। वह रोम जिसकी ओर लोग ८०० वर्ष तक मार्ग दर्शन और नियन्त्रण के लिए देखते रहे थे, और जिसे प्रत्येक स्थायी और बलशाली चीज़ का प्रतीक समझा जाता था, उसकी पराजय ने मूर्ति-पूजको तथा ईसाइयो, सभी के दिल को आघात पहुचाया। मूर्तिपूजक चिल्ला उठे कि 'रोम का नाश ईसाई धर्म मे हुआ है।' उन्होने कहा कि जब तक रोम तथा रोम के नागरिक मंगल, बृहस्पति इत्यादि प्राचीन देवताओं की उपासना करते रहे तब तक सफलता तथा विजय उनके

कदम चूमती रही और देश-देशान्तर में रोम का झण्डा लहराता रहा। जब उन्होंने प्राचीन देवताओं का परित्याग करके नवीन धर्म को अपनाया तभी उनके ऊपर संकट आया और रोम का पतन हो गया। ईसाई यद्यपि इस विचार का खन्डन करते थे तथापि वे इस बात से बहुत दुखी और चिंतित थे कि नवीन धर्म रोम की रक्षा न कर सका। उन्हें यह देखकर घोर निराशा हुई कि वह साम्राज्य, जिस पर वह अपनी सहायता तथा रक्षा के लिए भरोसा रखते थे, स्वयं अपने आपको भी न बचा सका।

केवल साम्राज्य के दुर्भाग्य ने ही विचारशील व्यक्तियों को चिंतित नहीं किया बल्कि विजेता ईसाई चर्च की स्थिति भी उनके लिये चिंता का विषय बन गई। इसके अन्दर ऐसी फूट और पारस्परिक कलह उत्पन्न हो गई जिनका कोई उपचार दिखाई नहीं पड़ता था; साम्राज्य से संघर्ष के समय इसमें जो एकता पाई जाती थी वह लुप्त हो गई। "सिद्धान्त के ऊपर मतवैभिन्य, विशेष रूप से आलरियस (Alrius) तथा अथानासियस (Athanasius) के मतभेद ने ऐसी दरारें उत्पन्न करदी जिनका सम्बन्ध डोनेटिस्ट्स (Donatists) से था, कलहकारी मतभेद उत्पन्न किये; पद, पुरस्कार, सम्पत्ति तथा शक्ति के लिए संघर्ष ने पादरी समाज को चित्तभ्रष्ट कर दिया, धर्मावलम्बियों को दुखित और संसार को चकित कर दिया।"* अन्य किसी जगह की अपेक्षा उत्तरी अफ्रीका में स्थिति अधिक गम्भीर थी जहाँ कि नाना प्रकार के मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये, नास्तिकता फैल गई और यह खतरा उत्पन्न हो गया कि कहीं ऐसा न हो कि चर्च के शत्रु उसे विल्कुल नष्ट कर दें।

सन्त ऑगस्टाइन ने अपने सामने तीन कार्य रक्खे. (१) ईसाई धर्म को अपनाने के बाद रोमन साम्राज्य के पतन का कारण बतलाना, (२) नास्तिकता को कुचलना तथा ईसाई-विरोधी धर्म का सामना करना, और (३) चर्च को शक्तिशाली बनाना तथा वह आदर्श अंकित करना जिसकी ओर अग्रसर होना था। अपने इस साकार लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उसने अपने हिपो (Hippo) के विशप होने तथा अपनी दार्शनिक प्रतिभा का पूरा लाभ उठाया। बिशप के रूप में उसने अपनी समस्त शक्तियों को चर्च के दृढ़ करने तथा नास्तिकता को कुचलने में लगाया और रोम के पतन का कारण समझाने के लिए अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'डी सिविटेट डेई' (De Civitate Dei) की रचना की जो अंग्रेजी में 'दी सिटी ऑफ गॉड' (The City of God) के नाम से प्रसिद्ध है।

* "Differences of Doctrine, particularly that which divided Alrius from Athanasius, caused irreconcilable breaches; doubtful problems of discipline, particularly that associated with the Donatists, led to schismatical dissent; conflicts for office, emolument, property, power distracted the episcopate, scandalised the faithful and amazed the world.

—Hearnshaw : *Social and Political Ideas of the Middle Ages*, page 36.

सन्त ऑगस्टाइन का जन्म ३५४ ई० में उत्तरी अफरीका में रोम के एक प्रान्त नूमीडिया (Numidia) में हुआ था। उनका पिता एक मूर्तिपूजक था और उनकी माता ईसाई थी। उनके पिता ने अपनी शक्ति भर उन्हें सर्वश्रेष्ठ शिक्षा दी और उनकी माता ने उन्हें ईसाई धर्म का पाठ पढ़ाया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसका उनके ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि वह अपनी तरुणावस्था में भी ईसाई नहीं थे। शुरू में उन्होंने मैनीकिज्म (Manichaeism) अपनाया; और फिर एक 'नियो-प्लाटोनिस्ट' (Neo-Platonist) हो गये। अन्त में मिलान के बिशप सन्त एम्ब्रोज ने उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित किया और वह एक बहुत सक्रिय और उत्साही पादरी बन गये। ४३० ई० में अपने ही प्रान्त हिप्पो के वह बिशप नियुक्त किये गये जहाँ कि वह अपने जीवन के अन्त तक रहे। उनकी मृत्यु के समय 'वैन्डल्स' (Vandals) ने नगर का घेरा डाला हुआ था। यहाँ पर हम उनके महान् ग्रन्थ 'दी सिटी ऑफ गॉड' का संक्षिप्त विवरण देंगे जिसमें उनके सब से अधिक महत्वपूर्ण विचारों में से दो पाये जाते हैं'— (१) ईसाई कॉमनवैल्थ की धारणा तथा (२) इतिहास का दर्शन जो कॉमनवैल्थ की स्थापना को मानव जाति के आध्यात्मिक विकास की अन्तिम सीढ़ी समझता है। उसके दर्शन को अफलातूनवाद तथा ईसाई धर्म का समन्वय समझा जा सकता है जिसमें प्रेम तथा विश्वास पर बल है जो ईसाई धर्म का सार है।

इतिहास का दर्शन (Philosophy of History)—जैसा कि हम पहिले ही संकेत कर चुके हैं, ऑगस्टाइन ने अपने महान् ग्रन्थ 'दी सिटी ऑफ गॉड' की रचना ईसाई धर्म के विरुद्ध लगाये गये इस आरोप का खण्डन करने के लिये की थी कि उसके कारण ही रोम का पतन हुआ। उनकी धारणा थी कि यह 'विश्वास करना मूर्खता है कि साम्राज्यों का उत्थान या पतन देवताओं की प्रसन्नता या प्रकोप के कारण होता है। न तो रोमन साम्राज्य की सम्पन्नता और विजय रोमन देवताओं का वरदान था और न उसके पतन का कारण ईसाई धर्म की दुर्बलता थी; ये दोनों ही बातें दैविक योजना और उद्देश्य की अभिव्यंजना की घटनायें थीं। दूसरे शब्दों में, सन्त ऑगस्टाइन मानव इतिहास के प्रवाह को ईश्वर इच्छा की अभिव्यक्ति समझता था। उसकी शिक्षा यह थी कि समस्त वस्तुयें इस वसुन्धरा पर प्रभु के राज्य की स्थापना की ओर जा रही हैं। रोम का पतन इसलिये हुआ क्योंकि उसका पराभव दैविक उद्देश्य की पूर्ति और रोमवासियों के हृदय को मूर्तिपूजक धर्म के दोष से हटाकर उन्हें प्रभु की दया के लिये तैयार करने के लिये आवश्यक था।

कार्ल मार्क्स की भांति ऑगस्टाइन भी मानव इतिहास के प्रवाह को एक निरन्तर संघर्ष के रूप में देखता था; किन्तु मार्क्स के अनुसार यह संघर्ष आर्थिक शक्तियों के बीच में होता है जबकि ऑगस्टाइन उसे पाप और पुण्य का द्वन्द्व समझता है जिसमें विजय सदा पुण्य की होती है। ऑगस्टाइन का यह विचार हमारे प्राचीन साहित्य में पाई जाने वाली देवासुर संग्राम की धारणा से बहुत मिलता-जुलता है।

जिस प्रकार श्रीमद्‌भगवद्-गीता के अनुसार पाप का नाश करने तथा धर्म की स्थापना करने के लिये ईश्वर अवतार लेता है उसी प्रकार ईसाइयों का भी यह विश्वास था कि ईश्वर अपने पुत्र ईसा के द्वारा इस पृथ्वी पर 'ईश्वरीय राज्य' स्थापित करना चाहता था। रोम का पतन इसलिए हुआ क्योंकि ईश्वर ईसाई कॉमनवैल्थ स्थापित करने की तैयारी के लिए उसे आवश्यक समझता था।

सन्त ऑगस्टाइन ने इस स्टोइक धारणा को ही स्वीकार किया कि मनुष्य दो राज्यों, अपने जन्म के राज्य तथा समस्त विश्व, का नागरिक है किन्तु मनुष्य के दोहरे स्वभाव की ईसाई धारणा से प्रेरित होकर उसकी एक नई व्याख्या की। शरीर होने के नाते मनुष्य सांसारिक राज्य का सदस्य है जिसका आधार मनुष्य की पाशविक प्रकृति की तृष्णापूर्ण तथा सम्रहात्मक भावना है। आत्मा होने के नाते वह 'ईश्वरीय राज्य' का सदस्य है जिसकी सदस्यता आत्मा की मुक्ति के लिए अपरिहार्य है। ऑगस्टाइन मानव इतिहास को इन दो राज्यों तथा समाजों के बीच में संघर्ष की एक कहानी समझता था जिन्हें वह क्रमशः शैतान का राज्य' (Civitas Terrena) तथा 'दैविक राज्य' (Civitas Dei) कह कर पुकारता था। अपने स्वभाव से ही 'शैतान का राज्य' अर्थात् सांसारिक राज्य नाशमान है; एक न एक दिन इसे अवश्य नष्ट होना है। इसके विपरीत 'ईश्वरीय राज्य' स्थायी है; केवल यही सदा कायम रहेगा; केवल इसी में शान्ति प्राप्त होना सम्भव है। "सभी सांसारिक राज्य एक न एक दिन नष्ट हो जायेंगे; क्योंकि सांसारिक शक्ति स्वभाव से ही परिवर्तनशील और नाशमान है; इसका आधार मानव जीवन की वे प्रवृत्तियाँ है जो अवश्य ही युद्ध तथा शक्तिलोलुपता को जन्म देती है।"* इस प्रकार संत ऑगस्टाइन ने रोम के पतन को दैविक योजना की पूर्ति के मार्ग में एक कदम बताया।

ईश्वरीय राज्य तथा सांसारिक राज्य—ऑगस्टाइन की शिक्षाओं को समुचित रूप से समझने के लिए इन शब्दों का अर्थ अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है। ऑगस्टाइन का 'ईश्वरीय राज्य' भी स्टोइक के 'इश्वरीय नगर' की भांति विश्वव्यापी समाज है जो कि जाति, वर्ग तथा राज्य के भेदों का अतिक्रमण करता है; यह एक ऐसा समाज है जिसका सदस्य प्रत्येक मानव प्राणी केवल मानव होने के नाते बन सकता है। परन्तु स्टोइक समाज की भाँति कोई व्यक्ति मनुष्य रूप में जन्म लेने के कारण ही इसका सदस्य स्वयमेव नहीं बन जाता। जब से मनुष्य का 'पतन' हुआ है तब से मनुष्य केवल प्रभु कृपा से ही सदस्य बन सकता है और यह कृपा हर किसी को प्राप्त नहीं होती; यह केवल उन्हीं को मिलती है जो ईसा में विश्वास रखते हैं। दूसरे शब्दों में, स्टोइक्स के विश्वव्यापक समाज के विपरीत ऑगस्टाइन की कल्पना

---

* "All earthly kingdoms must pass away, for earthly power is naturally mutable and unstable; it is built on those aspects of human nature which necessarily issue in war and the greed of domination"

—Sabine: *A History of Political Theory*, page 190.

के 'ईश्वरीय राज्य' के क्रोड मे समस्त मानवता नही आती ; उसके अंक मे केवल वे ही लोग आते हैं जो कि ईसाई चर्च के सदस्य हैं या थे। जो चीज उन्हें एकता के सूत्र में गूथती है और समाज के रूप मे उनका निर्माण करती है वह है ईश्वर के प्रति उनका सामान्य प्रेम और भक्ति ; वर्ग जाति तथा राज्य भेद का उसमें कोई स्थान नहीं है।

इसका अर्थ यह नही है कि ईसाई चर्च ही 'ईश्वरीय राज्य' है ; ऑगस्टाइन दोनों को एक नही समझता। 'ईश्वरीय राज्य' में देवगण तथा वे स्वर्गीय आत्मायें भी सम्मिलित है जो कि इस पृथ्वी को छोड चुकी हैं ; इस दृष्टिकोण से चर्च की अपेक्षा इसकी सदस्यता अधिक व्यापक है। यद्यपि इन दोनो को एकरूप नहीं समझा जा सकता तथापि इन दोनो मे घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि 'ईश्वरीय राज्य' का सदस्य साधारणतया चर्च की शिक्षाओ का पालन करके ही बनाया जा सकता है। 'ईश्वरीय राज्य' एक अमूर्त कल्पना है ; वह कोई ऐतिहासिक तथ्य नही है ; ईसाई चर्च को उसका साकार रूप समझा जा सकता है। दोनो के सम्बन्ध को फॉस्टर ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे इस प्रकार वर्णन किया है : चर्च 'ईश्वरीय नगर' का वह विभाग है जिसमे वे सब सदस्य सम्मिलित है, जो कि अभी अपनी विश्व यात्रा ही कर रहे हैं और जिसमे को वे सब (या लगभग सब) जो कि 'ईश्वरीय राज्य' के सदस्य है, गुज़र चुके हैं।' * जहां तक कि वह ईश्वर प्रेम से प्रेरित है ईश्वर का राज्य सम्पूर्ण मानव जाति है।

ईसाई चर्च को 'ईश्वरीय राज्य' का साकार रूप तथा उन सब लोगो का एक समाज समझना जिन्होने कि धार्मिक संस्कारो मे भाग लेकर प्रभु की कृपा प्राप्त की है, एक युगनिर्मायक धारणा थी। इसने एक विश्वव्यापी ईसाई समाज के विचार के लिये भूमि तैयार की जो कि सारे मध्य युग की चिंतन-धारा के ऊपर छाया रहा। क्योकि ईसाई चर्च वह माध्यम है जिसके द्वारा प्रभु अपनी दया प्रदान करता है, इसलिए उसकी स्थापना देवासुर संग्राम के इतिहास मे एक नवीन युग का सूत्रपात था ; इसका अर्थ यह था कि भविष्य मे राज्य को ईसाई राज्य होना चाहिये "जिसका कर्तव्य एक ऐसे समाज की सेवा करना, जो कि एक सामान्य ईसाई धर्म का पालन करने के नाते एक है, एक ऐसे जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति करना, जिसमे आध्यात्मिक हित सर्वोपरि है तथा धर्म की पवित्रता को सुरक्षित रखकर मनुष्य की मोक्ष-प्राप्ति मे सहायता करना है।" एक ऐसे सार्वभौमिक समाज की धारणा जिसमें कि एक ही

जाता है कि ऑगस्टाइन वह व्यक्ति था जिसने एक नवीन युग का सूत्रपात किया ; उसने प्राचीन विचार को पूर्णता प्रदान की और नवीन विचार की पूर्व सूचना दी। 'पवित्र रोमन साम्राज्य' (Holy Roman Empire) की सारी धारणा 'ईश्वरीय राज्य' के ऊपर आधारित है।

ईश्वरीय राज्य की धारणा की भांति आसुरी राज्य अथवा इहलौकिक राज्य की कल्पना भी अमूर्त है। रोमन साम्राज्य (या भूतकाल का अन्य कोई मूर्तिपूजक राज्य) के तद्रूप न होते हुए भी यह उसके बहुत निकट थी। जिस अपूर्ण ढग से ईसाई चर्च को ईश्वरीय राज्य का साकार रूप समझा जा सकता है उसी प्रकार से रोमन साम्राज्य को भी आसुरी राज्य का पार्थिव प्रतिनिधि कहा जा सकता है। दोनों मे इसी साम्य के कारण ऑगस्टाइन ने चर्च की तुलना मे लौकिक राज्य को हीन ठहराया है और उसके अधिकार की भर्त्सना की है। ऑगस्टाइन के बाद के अन्य मध्यकालीन लेखको मे भी यही तान सुनाई पडती है ; उन्होंने चर्च की श्रेष्ठता का समर्थन किया है। ऑगस्टाइन के सन्त एम्ब्रोज़ सरीखे पूर्ववर्तियो ने ऐसा नही किया। राज्य की अपेक्षा चर्च की महत्ता को स्वीकार करके ऑगस्टाइन ने आने वाले युग के राजनीतिक विचार मे एक नई विशेषता उत्पन्न कर दी।

न्याय तथा शान्ति के विषय में ऑगस्टाइन के विचार—ऑगस्टाइन के अनुसार न्याय तथा शान्ति ईश्वरीय राज्य के गुण हैं ; इसलिए इनको केवल उसी समाज में प्राप्त किया जा सकता जो कि ईश्वरीय राज्य का प्रतीक है ; उन्हे ऐसे समाज मे प्राप्त नही किया जा सकता जो आसुरी राज्य का प्रतिनिधि हो। दूसरे शब्दों में, ऑगस्टाइन के अनुसार ईसा के पहिले के मूर्तिपूजक राज्यों मे न्याय खोजना व्यर्थ है ; वह तो केवल ईसाई राज्य मे ही प्राप्त हो सकता है।

यह उपसिद्धि (Corollary) है न्याय की इस परिभाषा की कि न्याय एक व्यवस्थित और अनुशासित जीवन व्यतीत करने तथा उन कर्त्तव्यों का पालन करने में है जिनकी कि व्यवस्था माग करती है। देखने मे यह परिभाषा न्याय की अफलातून द्वारा दी हुई इस परिभाषा मे कि न्याय स्वधर्म का पालन करना है, मिलती-जुलती दिखलाई पडती है ; परन्तु दोनो मे एक आधारभूत अन्तर है। अफलातून के लिए राज्य सर्वोत्कृष्ट इकाई है ; इससे अधिक व्यापक और कोई ऐसी व्यवस्था नही है जिसका कि राज्य एक अग या भाग हो। परन्तु ऑगस्टाइन ऐसा नहीं मानता। वह राज्य को एक अधिक व्यापक समाज का एक अग और इसलिए उसे उसके अधीन मानता है। यदि राज्य इस अधिक व्यापक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करता है और अपने नागरिकों के लिये ऐसा आचरण निर्धारित करता है जो कि उस व्यवस्था को भग करे, तो वह राज्य अन्यायी बन जाता है। यह व्यापक व्यवस्था, जिसके परिवार, नगर तथा राज्य अग हैं, एक सार्वभौमिक व्यवस्था है जिसे ईश्वर इच्छा ने मानव-मात्र के लिए निर्धारित किया है ; यह उन सब मनुष्यो का एक समुदाय है जो ईसाई चर्च द्वारा ईश्वरीय राज्य मे भाग लेते है। जो राज्य ईसाई चर्च के सिद्धान्तो के

अनुसार आचरण नही करता अर्थात् जो एक ईसाई राज्य नही है उसमे सच्चे न्याय की सिद्धि कभी नही हो सकती। मूर्तिपूजक राज्यो मे पाया जाने वाला न्याय सापेक्षिक था, निरपेक्ष नही।

इसी प्रकार, पूर्व-ईसा युग के मूर्तिपूजक राज्य स्थायी तथा सार्वभौमिक शांति की सिद्धि भी नही कर सकते थे। वे अपनी सीमाओं के अन्दर तो शांति स्थापित रख सकते थे, परन्तु आपस मे नही क्योकि उनका आधार आत्म-प्रेम तथा शक्ति का लोभ था। विश्व-शांति के लिये दो शर्तें आवश्यक है। प्रथम, समस्त मनुष्य एक ही विश्व-व्यवस्था के अंग होने चाहिये और वे एक ही सार्वभौमिक कानून के अधीन रहने चाहियें। दूसरे, यह कि मानव मात्र को एक दूसरे से प्रेम करने की प्रेरणा देनी चाहिये जैसा कि वह अपने आपसे करता है। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध इतने घनिष्ठ और दृढ़ हों जितने कि मूर्तिपूजक (Pagan) युग मे सम्भव नही थे। इस पूर्व-आवश्यकता की पूर्ति यूरोप के लिए सबसे पहिले ईसा की शिक्षाओं ने की और इस लक्ष्य की प्राप्ति ईश्वरीय राज्य के प्रतीक और पार्थिव प्रतिनिधि के रूप में ईसाई चर्च की स्थापना से सम्भव हो सकी। इसका यह अर्थ कदापि नही कि मूर्तिपूजक राज्य शान्ति स्थापित नही कर पाये; ऑगस्टाइन ऐसा नही कहता और न ही वह इस दिशा में उसकी सफलता का महत्व कम करता है। उसके कहने का अभिप्राय केवल यह है कि उनके द्वारा स्थापित की हुई शान्ति सापेक्षिक थी, निरपेक्ष या सार्वभौमिक नही; वह शुभ अवश्य थी, परन्तु परम शुभ नही। उनकी शांति कानूनी सम्बन्ध व्यवस्था की उत्पत्ति थी; इसीलिये वह सर्वोत्कृष्ट नही थी। सच्ची अथवा सार्वभौमिक शान्ति का अभिप्राय युद्ध का अभाव नही है बल्कि यह वह व्यवस्था है जो कि मनुष्यों के बीच में एक सुव्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित करके उन्हे प्रेम सूत्र मे गूथती है। ऐसा प्रेम केवल उन्ही में सम्भव हो सकता है जो कि ईश्वर से प्रेम करते हैं और मानवमात्र को ईश्वर की सन्तान समझते हैं। यह है ऑगस्टाइन के विचार से शान्ति का अर्थ।

राज्य तथा सरकार के विषय में ऑगस्टाइन के विचार—सन्त ऑगस्टाइन इस परम्परागत ईसाई परम्परा को स्वीकार करता है कि राज्य को ईश्वर ने मनुष्य के पाप के उपचार के रूप मे स्थापित किया है, इसलिए उसकी आज्ञा का पालन होना चाहिए। परन्तु उसके इस तर्क ने कि पूर्व ईसा मूर्तिपूजक रोमन साम्राज्य ईश्वरीय राज्य नही बल्कि आसुरी राज्य का प्रतिनिधि था और केवल लौकिक जीवन का परिणाम था, उसके लिए ऐसी कठिनाइया उत्पन्न कर दी जो कि प्रारम्भिक चर्च फ़ादर्स के सामने न आई थी। मनुष्य के ऊपर एक ऐसे राज्य को क्या अधिकार हो सकता है जो कि केवल एक लौकिक संगठन है और जो सच्चे न्याय को प्राप्त नही कर सकता क्योकि अपने संविधान के शिकन्जे में जकड़ा होने के कारण वह पारलौकिक अर्थात् आध्यात्मिक बातो मे ईश्वर की आज्ञा का पालन नही कर सकता। ऐसे राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य क्यो करें? ऑगस्टाइन का उत्तर यह है कि ऐसे राज्य का

सम्मान इसलिए होना चाहिये क्योंकि वह शान्ति कायम रखता है और नागरिकों की सम्पत्ति की रक्षा करता है ; शान्ति और व्यवस्था तथा सम्पत्ति की सुरक्षा मे तो आसुरी प्रवृत्ति वालों का भी अनुराग है। शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए सन्त ऑगस्टाइन निजी सम्पत्ति को आवश्यक समझता था और समानतावादी आलोचकों के विरुद्ध उसने निजी सम्पत्ति का समर्थन किया। परन्तु इसके साथ ही साथ उसकी यह भी धारणा थी कि मनुष्य को केवल उतनी ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है जितनी कि उसके लिए आवश्यक है ; आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का प्रयोग सार्वजनहिताय होना चाहिये।

सन्त ऑगस्टाइन दासों को निजी सम्पत्ति का ही एक रूप समझता था और इसीलिये वह दास प्रथा का समर्थन करता था। परन्तु दास प्रथा के ऑगस्टाइन तथा अरस्तु द्वारा समर्थन के कारण बिल्कुल भिन्न-भिन्न है। ऑगस्टाइन इसे स्वाभाविक नही समझता ; उसका यह विश्वास नही कि स्वाभावतया कुछ मनुष्य स्वामी और कुछ दास होते है। दासता को वह पाप का दैविक प्रतिकार समझता है। यदि मनुष्य पाप न करता तो ईश्वर दासता की व्यवस्था न करता ; मनुष्य के पतन ने उसे इस समानता से वंचित कर दिया जो कि शुरू-शुरू में ईश्वर स्थापित करना चाहता था। इसलिये वह दासों से कहता है कि उन्हे अपने स्वामी के शासन में रहना चाहिये, उससे भागना नही चाहिये। व्यक्तिगत रूप से यह सिद्धान्त तभी लागू हो सकता है जबकि हम यह मान लें कि प्रत्येक दास अपने स्वामी की अपेक्षा अधिक पापी है और प्रत्येक दशा में एक दास अपने व्यक्तिगत पाप का फल ही भोगता है। इन मान्यताओं को सिद्ध करना बड़ा कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऑगस्टाइन दास प्रथा को 'आदम' (Adam) अर्थात् आदि पुरुष के पतन का मानवता को सामूहिक दण्ड समझता था।

राज्य तथा चर्च – सन्त ऑगस्टाइन एक ईसाई राज्य की आज्ञा-पालन के कर्तव्य की एक बहुत ही भिन्न व्याख्या देता है। यह चर्च के एक लौकिक अंग के रूप मे काम करता है और इसका ध्येय सच्चे अथवा पूर्ण न्याय की प्राप्ति करना है। इसकी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के पीछे एक दैविक योजना और उद्देश्य है जो इसके चरित्र को परिवर्तित करता है और उसे उदात्त बनाता है। मनुष्य को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये क्योंकि वह दैविक उद्देश्य की पूर्ति में सहायक है, केवल इसलिये नही कि वह शांति और व्यवस्था कायम रखता है और सम्पत्ति की रक्षा करता है। सारांश यह कि ऑगस्टाइन के लिए राज्य का औचित्य इस बात में है कि वह एक सार्वभौमिक नैतिक उद्देश्य की पूर्ति करता है, वह इस बात में नही कि वह जीवन की सामाजिक तथा अन्य सुविधायें जुटाता है जैसा कि प्राचीन यूनानी तथा रोमन लोग मानते थे। ऑगस्टाइन की यह धारणा पुरानी विचारधारा से एकदम भिन्न है।

इसी विचार को एक दूसरे ढग से भी व्यक्त किया जा सकता है। अफलातून तथा अरस्तु सरीखे विचारकों के लिए राज्य एक उच्चतम संगठन था ; उससे उच्चतर

अन्य कोई शक्ति न थी ; वह सर्वोच्च शक्ति थी । ऑगस्टाइन की धारणा इसके एकदम उल्टी है ; वह राज्य को ईश्वर की उच्चतर शक्ति के अधीन मानता है ; उसके कानूनों का पालन करना तथा उसकी शक्ति का सम्मान करना केवल वहां तक उचित है जहा तक कि वह ईश्वर के प्रति कर्तव्य का उल्लघन न हो । दूसरे शब्दो में, राज्य के प्रति भक्ति का कर्तव्य निरपेक्ष नही है ; वह ईश्वर की उच्चतर शक्ति के प्रति कर्तव्य के अधीन है । एक सच्चा ईसाई नागरिक कानूनों का इसलिये पालन करता है क्योंकि वह उनके पीछे ईश्वर की स्वीकृति देखता है । इसमें यह बात स्पष्ट निहित है कि लौकिक भक्ति ईश्वर की उच्चतर शक्ति के अधीन है ।

उपरोक्त धारणा का स्वाभाविक परिणाम राज्य को चर्च के अधीन करना है जैसा कि आगे चलकर सन्त टॉमस ऐक्वीनास, पोप ग्रेगरी सप्तम तथा पोप बॉनीफेस अष्टम ने किया । परन्तु ऑगस्टाइन एक धर्मतन्त्र (Theocracy) की स्थापना नहीं करता ; वह राज्य को चर्च का एक अंग नही बनाता । वह रोमन सम्राट को मान्यता प्रदान करता है, यह स्वीकार करता है कि वह अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है और राजाज्ञा का पालन करना प्रजाजन का कर्तव्य बतलाता है और चर्च की रक्षा करने तथा अधर्म का विनाश करने के लिए सम्राट का आह्वान करता है । परन्तु वह लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों मे एक विभाजन रेखा खीचता है और आध्यात्मिक विषयो मे सम्राट को कोई अधिकार नही देता । उसकी धारणा है कि यदि राज्य आध्यात्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है तो नागरिकों को उसके प्रति भक्ति का परित्याग कर देना चाहिये । राज्य और चर्च को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिये । एक ईसाई शासक को धार्मिक विषयों मे चर्च के
विषयो मे विशपो को राज्य शक्ति की अपेक्षा ...
साथ काम करना चाहिये तथापि ऑगस्टाइन इस बात के ऊपर जोर देता है कि लौकिक शक्ति अर्थात् राज्य आध्यात्मिक रूप से मृतप्राय है यदि वह चर्च के साथ घनिष्ट मित्रता स्थापित न करे । स्वय मानव जीवन की व्यवस्था और महत्व तभी समझ में आ सकता है जबकि मनुष्य के पतन तथा मोक्ष का सिद्धान्त हमारे सामने हो ।

सन्त ऑगस्टाइन का प्रभाव—जैसा कि गत पृष्ठो मे हम बार-बार कह चुके है, मध्यकालीन यूरोप के विचार पर सत पाल के अतिरिक्त अन्य किसी ईसाई लेखक का इतना प्रभाव नही पड़ा जितना कि सत ऑगस्टाइन का । उसके सुविख्यात ग्रंथ 'सिटी ऑफ गॉड' का व्यापक अध्ययन हुआ ; सैबाइन के शब्दो मे यह विचारों की एक खान है जिसमें से आगे आने वाले कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट लेखकों ने खोद-खोद कर विचार निकाले है । इसने शार्लमेन (Charlemagne) तथा ऑटो महान् (Otto the Great) सरीखे मध्यकालीन शासको के विचार का रूप निर्धारित किया और वह आधार प्रस्तुत किया जिसके ऊपर आगे चलकर पवित्र रोमन साम्राज्य का निर्माण हुआ । ईसाई कॉमनवैल्थ की उसकी धारणा मध्य युग के सार्वभौमिकवाद का आधार थी जो कि एक विश्वव्यापक समाज की सत्ता को मानता है । यद्यपि उसने स्वय राज्य

को चर्च के अधीन नहीं किया किन्तु आगे आने वाले लेखकों ने उसके वि... तराश खराद कर धर्म के प्रभुत्व के सिद्धान्त का विकास किया। वह एक... रचनात्मक धर्मवेत्ता था। ईसाई चर्च के उद्देश्यों का, जो कि उसको एक स्वतन्त्र सत्ता प्रदान करते थे, वर्णन करके उसने उसकी शिक्षाओं को एक निश्चित सिद्धान्त प्रणाली का रूप दिया। यह कथन एकदम सत्य है कि इसने एक नवीन युग का प्रवर्तन किया। इस महान ग्रंथ के प्रकाशन के पश्चात् सभ्यता की व्याख्या धर्मशास्त्र के अनुसार होने लगी और विद्या का अधिकाधिक सम्बन्ध बाइबिल के विषयों से बढ़ता गया।

ग्रेगरी महान् (Gregory the Great)—सन्त एम्ब्रोज तथा सन्त ऑगस्टाइन ने चर्च की स्वायत्त स्वाधीनता पर जो ज़ोर दिया था पोप ग्रेगरी महान् ने भी उसी परम्परा को कायम रक्खा। यद्यपि उसने रोम के बिशप पद की शक्ति और सम्मान को बहुत ऊंचा उठाया और उसके हाथ में एक बहुत बड़ी लौकिक एवं धार्मिक शक्ति थी तथापि उसने राज्य को चर्च के अधीन नहीं किया; उसने राजाज्ञा-पालन के कर्तव्य का अधिवक्तन किया। राजनीतिक शासन की आवश्यकता और पवित्रता का उसने जोरदार शब्दों में समर्थन किया; यहां तक कि उसने चुपचाप और निष्क्रिय रूप में आज्ञा-पालन का सुझाव दिया।

यह सिद्धान्त कि चर्च आध्यात्मिक विषयों में और राज्य लौकिक विषयों में स्वाधीन है और इनमें से किसी को भी दूसरे के कार्य में तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जब तक कि वह अपने क्षेत्र की सीमाओं का उल्लंघन न करे साधारणतया 'दो तलवारों' (Two Swords) के सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। यह सिद्धान्त चर्च फादर्स के युग में चर्च तथा राज्य के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है। इसके विषय में दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा।

दो तलवारों का सिद्धान्त (The Theory of two Swords)—पाश्चात्य विचार को ईसाई धर्म की देन का वर्णन करते हुए हमने यह कहा था कि ईसाई धर्म ने मानव के लौकिक एवं आध्यात्मिक हितों में विभेद करके और आध्यात्मिक हितों को राजनीतिक क्षेत्र से बिलकुल अलग करके उस युग के राजनीतिक विचार में एक क्रांति उत्पन्न कर दी। प्राचीन भारतीयों के सदृश प्राचीन यूनानियों तथा रोमनों के लिए धार्मिक तथा नागरिक जीवन एक अविभाज्य सम्पूर्ण था। ईसाई धर्म ने इस एकता को भंग कर दिया और दोनों क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग कर दिया क्योंकि उसका विश्वास था कि मनुष्य की दोहरी प्रकृति है और उसका दोहरा जीवन लक्ष्य है। नाशवान् शरीर के रूप में उसके कुछ भौतिक हित होते हैं जो कि लौकिक अथवा नागरिक शक्ति के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत हैं; एक अमर आत्मा के रूप में उसके कुछ पारलौकिक हित हैं जिनके ऊपर अधिकार चर्च अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति का है। अपने शारीरिक तथा आर्थिक कल्याण और सांसारिक शांति तथा समृद्धि का उपभोग करने के लिए मनुष्य को राज्य का शासन स्वीकार करना चाहिये; अपनी आत्मिक उन्नति तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए उसे चर्च के अनुशासन में चलना

चाहिये। इस प्रकार मनुष्य दो विभिन्न शक्तियो के अधीन है ; दो तलवारों के अधीन है क्योकि तलवार शासन शक्ति का प्रतीक है। प्रारम्भिक चर्च फ़ादर्स के अनुसार परमात्मा ने, जो कि समस्त शक्ति का स्रोत है, एक तलवार सम्राट को और दूसरी पोप को दी। राज्य का मुख्य कर्तव्य शांति और व्यवस्था कायम रखना तथा न्याय प्रदान करना है जबकि चर्च के पादरियो का कार्य मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति करना है तथा शाश्वत मोक्ष प्राप्त करने में उसकी सहायता करना है। एक को दूसरे के कार्य-क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही करना चाहिये। परन्तु दोनो मे परस्पर सहयोग और सहायता की भावना होनी चाहिए। ईसा की इस उक्ति से कि 'लौकिक विषयो मे राजा का और धार्मिक विषयो मे ईश्वर के आदेश का पालन करो' यह स्पष्ट है कि राज्य तथा चर्च मे किसी प्रकार के सघर्ष की आशका नही की जाती थी ; यह विश्वास किया जाता था कि उन दोनों में पूर्ण शाति एवं तालमेल रहेगी ; आध्यात्मिक विषयो मे ईसाई शासक चर्च के अधिकारियो का परामर्श लेगा और विशपगण लौकिक विषयो में राज्यों की सहायता करेंगे और राजकीय कानूनों का प्रयोग केवल सासारिक कार्यों के लिए ही करेंगे।

दो तलवारो के इस सिद्धात का सबसे अधिक अधिकारपूर्ण वर्णन पोप गैलेसियस प्रथम (Pope Gelasins 1) ने किया है, जिसकी धारणा थी कि धर्म सिद्धात के विषय मे सम्राट् की अपनी इच्छा चर्च के आदेश के अधीन रखनी चाहिए ; ऐसे विषयो मे उसका कर्तव्य पादरियो से कुछ सीखना है, उन्हे सिखाना नही, और सासारिक विषयो मे पादरियो को सम्राट् द्वारा बताए हुये कानूनों का पालन करना चाहिये। उसने सम्राट् अनस्टेसियस (Anastasius) को निम्नलिखित शब्द लिखे : "महान् सम्राट्" इस ससार पर दो शक्तियो—विशपगण तथा राजाओं—का शासन है। इन दोनों मे पादरियो का उत्तरदायित्व अधिक भारी है, क्योकि उन्हे स्वय राजाओ के कामो के लिए भी ईश्वर को हिसाब देना है······तुम्हें श्रद्धापूर्वक विशपगण के सामने सिर झुकाना चाहिए जो कि धार्मिक विषयो के सचालन के लिए उत्तरदायी हैं ; मुक्ति मार्ग पर चलने के लिए तुम्हे उनकी शरण में जाना चाहिए ; और समस्त धार्मिक सस्कारो की प्राप्ति तथा प्रशासन में, तुम्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि तुम्हारा धर्म उनको आदेश देना नहीं उनके आदेश का पालन करना है·· ···ऐसे समस्त विषयों मे तुम्हे उनके निर्णय पर निर्भर करना चाहिये, और उनमे अपनी इच्छा का पालन कराने का तुम्हें कोई अधिकार नही है····समस्त लौकिक व्यवहार मे धर्माधिकारीगण तुम्हारे कानूनों का पालन करते हैं क्योकि वे जानते हैं कि तुम्हे अपनी शक्तिया ऊपर से मिली हुई हैं।"*

*'August emperor, this world is governed by two powers,—by bishops and by kings ; of these the responsibility of the priests is the weightier, since they have to render an account to God even for kings themselves··· ...You devoutly bow your head to the bishops who are charged with the administration of holy things ; you address yourself to them to be conducted

यदि लौकिक और आध्यात्मिक विषयो की सीमाम्रो को निश्चित रूप से निर्धारित किया जा सकता है तो दो समानान्तर तथा स्वशासक शक्तियों के जिनके समस्त ईसाई लोग अधीन थे, इस सिद्धांत को व्यवहारिक रूप देने में कोई कठिनाई उत्पन्न न होती। परन्तु सामन्तवादी प्रथा द्वारा उत्पन्न जटिलताम्रो के कारण दोनो के अधिकार क्षेत्र एक दूसरे के ऊपर छाये हुए थे, जिसके फलस्वरूप उनमें से प्रत्येक यह महसूस करता था कि दूसरा उसके क्षेत्र मे अनुचित हस्तक्षेप कर रहा है। इस प्रकार पोप तथा सम्राट् का सम्बन्ध एक विवादग्रस्त विषय बन गया। यह विवाद ११वी शताब्दी मे उठा और कई सौ वर्षों तक चलता रहा ; इस बीच में उसमें बहुत उतार-चढ़ाव आये। इसका वर्णन १२वे अध्याय में किया जायगा।

---

in the ways of salvation ; and in all that regards the reception and administration of the sacraments, you acknowledge that far from having any power to command, you are bound to obey them .....in all such concerns you depend upon their judgment, and that you have no right to subject them to your will......... .The ministers of religion obey laws in all that belongs to the temporal order, because they know you have received your powers from above.'

११ मध्यकालीन राजनीतिक विचार की सामान्य पृष्ठभूमि

परिचयात्मक—यद्यपि लगभग सभी लोग राजनीतिक विचार के इतिहास को तीन कालों—प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक—में विभाजित करते है किन्तु प्राचीन काल कहा समाप्त होता है और मध्यकाल कहाँ आरम्भ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में सभी विचारकों का मत एक नही है। मैकलवेन सरीखे कुछ लेखक पूर्व-मध्यकाल तथा उत्तर-मध्यकाल मे विभेद करते हैं और सन्त एम्ब्रोज, सन्त ऑगस्टाइन तथा पोप ग्रेगरी सरीखे चर्च फादर्स को पहिले भाग में स्थान देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे लेखकों के अनुसार मध्यकाल ईसाई चर्च की स्थापना से आरम्भ होता है। इसमें कोई सन्देह नही कि राज्य से स्वतन्त्र तथा पृथक् रहकर मनुष्य के आध्यात्मिक विषयों को अनुशासित करने वाले कई ईसाई चर्च की स्थापना एक अत्यन्त क्रान्तिकारी घटना थी और यह भी सत्य है कि ईसा के इस कथन ने कि "लौकिक विषयो में राज्य का तथा पारलौकिक विषयो में ईश्वर की इच्छा का पालन करो" राजनीतिक विचार में एक ऐसे तत्व का समावेश कर दिया जिससे कि प्राचीन काल सर्वथा अनभिज्ञ था, तथापि यह कहना उचित नही कि ईसाई धर्म का आविर्भाव प्राचीन काल के अन्त तथा मध्यकाल के आरम्भ का सूचक है। सन्त एम्ब्रोज, सन्त ऑगस्टाइन तथा पोप ग्रेगरी महान् के राजनीतिक विचार राज्य तथा कानून सम्बन्धी रोमन धारणाओं से अधिक भिन्न नही थे; पूर्वगामियो की भांति उनके लिये भी रोमन साम्राज्य महान् राजनीतिक तथ्य था जिसके अधिकार क्षेत्र के अन्दर एक सार्वभौमिक कानून प्रचलित था। इसीलिये हमने उन्हे प्राचीन काल में रखना और उनके विचारों की गत अध्याय में विवेचना करना उचित समझा।

मध्यकाल का आरम्भ—मध्यकाल के आरम्भ होने की तिथि के सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नही है। सौभाग्यवश उसका निश्चय करना हमारे उद्देश्य के लिये आवश्यक भी नही है। केवल यही जानना काफी है कि वह घटना जो कि प्राचीन काल के अन्त और मध्यकाल के आदि की सूचना देती है वह है जर्मन तथा ट्यूटन जातियो की पश्चिमी रोमन साम्राज्य पर विजय। इस विजय की प्रतिक्रिया समस्त ५वीं शताब्दी ई० में जारी रही, बल्कि छठी तक भी चली। इस प्रकार यह कहना भी कठिन है कि मध्ययुग का अन्त कब हुआ। यह युग विभिन्न देशों में विभिन्न समय पर समाप्त हुआ। राजनीतिक विचार के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि इसका

अन्त मैकियावेली (१४६६-१५२७) के साथ हुआ जिसे मध्यकाल का अन्तिम तथा आधुनिक काल का प्रथम राजनीतिक विचारक माना जाता है।

मध्यकाल की मुख्य विशेषतायें—इस प्रकार हम देखते है कि मध्यकाल लगभग एक हजार वर्षों तक—छटी शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी ई० तक—जारी रहा। इस लम्बे युग मे सभ्यता में कोई ऐसी महान् प्रगति नही हुई जैसी कि उसके पहिले या उसके बाद के युगो मे हुई ; यह युग वास्तव में मौलिक चिन्तन का नहीं, केवल पाचन (Assimilation) का था। उसके सामने महान् कार्य जर्मन बर्बर को (जो कि रोमन साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तो पर अधिकार करके उनका शासक बन बैठा था) विवेक तथा सभ्यता के उस स्तर पर लाना था जहा से कि वह सभ्यता के उस मिशन को जारी रख सके जिसे कि प्राचीन काल ने विवश होकर छोड दिया था।

यह समझना कठिन नही है कि इन शताब्दियो मे अधिक प्रगति क्यों नही हुई। प्राचीन काल मे प्रगति रुक गई थी ; सभ्यता को एक निश्चित स्तर पर लाकर प्राचीन-काल के लोगों मे उसे और आगे बढ़ाने का सामर्थ्य नही रह गया था। रोमनों के राजनीतिक उत्तराधिकारी जर्मनों में बाहुबल और ओज का तो प्राबल्य था किन्तु प्राचीन यूनानियो की बौद्धिक प्रखरता और प्राचीन रोमनों की कानूनी तथा प्रशासकीय योग्यता का उनमे अभाव था। वे बर्बर, असभ्य तथा अशिक्षित थे ; यूनानी रोमन सभ्यता को समझने और उसका मूल्यांकन करने की उनमें योग्यता ही न थी। कहा जाता है कि एक जर्मन योद्धा एक कमरे के फर्श पर चित्रित तैरती हुई बत्तखों को देखकर आश्चर्यचकित रह गया और यह देखने के लिये कि वे जीवित थी या नहो अपने कुल्हाड़े को उस सुन्दर चित्रकारी पर दे मारा। बर्बरो ने अपनी विध्वंसप्रियता और अज्ञान के कारण रोम की विभूति के एक बड़े भाग को नष्ट कर दिया। बहुत कुछ जैसे कि रोमन कला, रोमन विद्या तथा यूनानी भाषा का रोमन ज्ञान इस कारण नष्ट हो गया क्योंकि उसका प्रयोग नही हुआ और उसे भुला दिया गया। यहां तक कि सड़क और पुल भी मरम्मत के अभाव में नष्ट-भ्रष्ट हो गये जिसके फलस्वरूप वाणिज्य तथा व्यापार का ह्रास हो गया। जीवन सरकार कानून तथा व्यवस्था कायम न रख सकी ; फलत: हिंसात्मक अपराधों की वृद्धि हो गई। छटी से लेकर नवीं तक तीन शताब्दियों में जर्मनों द्वारा शासित पश्चिमी यूरोप में स्थिति इतनी अनिश्चित और डावांडोल रही कि उसमें राजनीतिक अथवा दार्शनिक चिंतन कला अथवा साहित्य के क्षेत्र मे रचनात्मक क्रिया हो ही नही सकती थी। दसवी तथा ग्यारहवीं शताब्दी मे और नये बर्बर आक्रमण हुए जिनके कारण देश मे गड़बड़ी और अव्यवस्था फैल गई। इस प्रकार कैरोलिंगियन्स (Carolingians) के शासन काल के एक छोटे से मध्यान्तर को छोड़ कर, ग्यारहवी शताब्दी तक यूरोपीय विचार मे कोई प्रगति नहीं। इस अस्त-व्यस्त समय मे बौद्धिक जीवन केवल पहिले लेखकों के लेखो की पुनरावृत्ति करने तक सीमित था। डॉयल के शब्दों मे "शिशुओं की भांति नवीन राष्ट्र बौद्धिक वर्णमाला सीख रहे थे ; और सपरिश्रम प्राचीन गुरुओं की कृतियों को समझने का

प्रयास कर रहे थे।"* ग्यारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कही जाकर स्वतन्त्र चित। का प्रयास हुआ। राज्याधिकारियो के द्वारा विशपगण को पदासीन करने के विषय पर उत्पन्न होने वाले पोप ग्रेगरी सप्तम तथा सम्राट हैनरी चतुर्थ के बीच के विवाद ने इस स्वतन्त्र चिन्तन के लिये अवसर प्रदान किया और उसे प्रस्फुरण दिया। आध्यात्मिक तथा लौकिक अधिकारियों के बीच में यह विवाद मध्य युग के अन्त तक चलता रहा और इस युग का लगभग समस्त राजनीतिक विचार इसी की उपज है। यह विवाद विभिन्न समय-समय पर विभिन्न स्तरो पर चला और इसके बीच मे ऐसी समस्यायें उत्पन्न हुईं जो उन समस्याओ से अत्यन्त भिन्न थी जिनमें कि पहिले विचारको का ध्यान उलझा रहा था। १३वी शताब्दी से उन शक्तियो के आविर्भाव के लिये भूमि तैयार होने लगी जिन्होने कि १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आधुनिक युग को जन्म दिया।

यद्यपि मध्य युग प्रगतिहीन था, तथापि वह सर्वथा निष्फल नही रहा; उसकी देन काफी है। उसने यूरोपीय सभ्यता के विकास मे महत्त्वपूर्ण भाग लिया और आधुनिक युग का शिलान्यास किया। प्राचीन इतिहास के कारनामों में जर्मन जातियो के विचारों तथा सस्थानो को जोड़कर अपने पुराने जर्जरित समाज मे नवीन जातियो की तरुण शक्ति तथा ओज का प्रसार करके उसने आधुनिक युग के आविर्भाव के लिये भूमि तैयार की। कैथोलिक चर्च, सामन्तवाद, कानून, राज्यतन्त्र तथा दाते का सार्वभौमिक साम्राज्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन सस्थायें थी। १६वी शताब्दी तक उनमें से बहुतों की उपयोगिता समाप्त हो गई थी। मेकियावेली तथा हॉब्स का विचार मुख्य रूप से उन्ही पर प्रहार करता था। पश्चिमी सभ्यता के विकास मे मध्ययुग का क्या भाग है, इसका सुन्दर वर्णन प्रोफेसर आडम्स ने इस प्रकार किया है : "मध्य युग का कार्य प्राथमिक रूप से प्रगति नही था, बल्कि विभिन्न-जातीय (Heterogeneous) तथा प्रायः परस्पर विरोधी तत्त्वो में से जो कि इसे प्राचीन काल से मिले थे, एक जैविक रूप से एकताबद्ध तथा सजातीय (Homogeneous) ससार का निर्माण करना था, और इस प्रकार इसने उस उन्नति और प्रगति के लिये आवश्यक स्थिति जुटाई जो कि प्राचीन काल वालो के लिये सम्भव नही थी।"† मध्ययुग ने क्या प्राप्त किया और आधुनिक काल उसका कहा तक ऋणी है, इस बात को अच्छी तरह समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि वे विभिन्न तत्त्व क्या थे जिन्हें लेकर मध्यकाल ने आरम्भ किया और उन्हें किस प्रकार एक जगह विलीन करके एक नई

* "The young nations, like children, were learning their intellectual alphabet and were laboriously spelling out the works of former masters."
—Doyle : *A History of Political Thought*, page 67.

† "The work of the middle ages was not primarily progress; it was to form the organically united and homogeneous world out of the heterogeneous and often hostile elements which the ancient world supplied, and so to furnish the essential condtions for an advance beyond any point possible to the ancients."
—Adams : *Civilization during the Middle Ages*, page 14

इकाई का निर्माण किया। परन्तु राजनीतिक विचार के दृष्टिकोण से तफसील में जाना आवश्यक नहीं है। हमारे उद्देश्य के लिये केवल उन मुख्य शक्तियों का वर्णन करना काफी होगा जिन्होंने कि उस युग के विचार की रूपरेखा निर्धारित की और राजनीतिक प्रक्रियाओं के लिये स्थिति-विशेष उत्पन्न की। उनमें से मुख्य ये है : पोपशाही का जन्म, सामन्तवाद का अभ्युदय तथा प्रसार, और साम्राज्यवादी विचार का पुनरुत्थान। इस युग के अन्तिम दिनों में हम एक नई भावना का जन्म होते हुये पाते हैं, वह भावना है राष्ट्रवाद। पोपशाही तथा राज्य के बीच संघर्ष में पोपशाही की पराजय मे मुख्य हाथ राष्ट्रवाद का ही है। हम यहां पर इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

पोप की शक्ति का विकास—मध्य युग को भूतकाल से जो थाती उत्तराधिकार मे मिली उसे हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं : (१) दर्शन, विज्ञान, कला तथा साहित्य के क्षेत्र मे प्राचीन यूनानियो की देन, (२) कानून तथा प्रशासन के क्षेत्र मे रोमनो की देन, और (३) साम्राज्य तथा चर्च का सघटन तथा सिद्धान्त। इन तीनों में शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग रोमन कैथोलिक चर्च का सघटन तथा सिद्धात है। याद रहे कि चर्च तथा वे समस्त वस्तुयें जिनके पीछे ईसाई धर्म की स्वीकृति थी, बर्बरों द्वारा किये गये विनाश से बच निकले। बर्बरों में धर्मग्रंथो, चर्च फादर्स के अधिकार, और चर्च की परम्पराओं के प्रति श्रद्धा थी। इसलिए ईसाई चर्च विजेता जातियों को अपने धर्म मे परिणत कर सका और उन्हें सभ्य बना पाया। उस सकटपूर्ण काल मे यदि चर्च सीधा और डट कर खड़ा न रहता तो पश्चिम मे सभ्यता का सारा ढांचा ही गिर गया होता। परन्तु वह न केवल जीवित रहा बल्कि इसकी शक्ति और भी बढ़ गई और मध्ययुग के राजनीतिक विचार की रूपरेखा निर्धारित करने में यह सबसे अधिक प्रभावपूर्ण साधन बन गया। लोग इसे पवित्र कैथोलिक चर्च कहकर पुकारने लगे। यह सार्वभौमिक चर्च के उस आदर्श के बहुत निकट आ गया जिसका कि चित्र ऑगस्टाइन ने 'दी सिटी ऑफ गॉड' में अंकित किया था। इस महान् धार्मिक सघटन में समस्त पश्चिमी ईसाई संसार एक प्रधान की छत्रछाया मे एकता के सूत्र मे बंध गया। उसका प्रधान, पोप, ईश्वर का प्रतिनिधि था और मानव जाति के धार्मिक शासन मे उसका प्रतिनिधित्व करता था। पिछले अध्याय मे हम यह देख चुके हैं कि ईसाई चर्च की स्थापना कब और किस प्रकार हुई और किस प्रकार पोपशाही का अभ्युदय अर्थात् रोम के बिशप को चर्च में औपचारिक रूप से प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। यहा हम यह देखेंगे कि पोप ग्रेगरी महान् (५८०-६०४) के पदासीन होने के पश्चात् पोप की शक्तियो मे किस प्रकार वृद्धि हुई। पोप ग्रेगरी का शासन ईसाई चर्च के इतिहास मे एक नवीन युग का सूत्रपात करता है।

यद्यपि पोप इन्नोसेण्ट प्रथम (Innocent I) तथा पोप लियो प्रथम (Leo I) जैसे पादरियो के हाथ में आकर पाँचवी शताब्दी मे पोप पद की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, तथापि राजनीतिक विषयों से इसका अभी तक कोई सम्बन्ध न था। परन्तु छटी

प्रयास कर रहे थे।"* ग्यारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कही जाकर स्वतन्त्र चिंतन का प्रयास हुआ। राज्याधिकारियो के द्वारा बिशपगण को पदासीन करने के विषय पर उत्पन्न होने वाले पोप ग्रेगरी सप्तम तथा सम्राट हैनरी चतुर्थ के बीच के विवाद ने इस स्वतन्त्र चिन्तन के लिये अवसर प्रदान किया और उसे प्रस्फुरण दिया। आध्यात्मिक तथा लौकिक अधिकारियों के बीच में यह विवाद मध्य युग के अन्त तक चलता रहा और इस युग का लगभग समस्त राजनीतिक विचार इसी की उपज है। यह विवाद विभिन्न समय-समय पर विभिन्न स्तरो पर चला और इसके बीच मे ऐसी समस्यायें उत्पन्न हुई जो उन समस्याओ से अत्यन्त भिन्न थी जिनमे कि पहिले विचारको का ध्यान उलझा रहा था। १३वी शताब्दी से उन शक्तियों के आविर्भाव के लिये भूमि तैयार होने लगी जिन्होने कि १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक युग को जन्म दिया।

यद्यपि मध्य युग प्रगतिहीन था, तथापि वह सर्वथा निष्फल नही रहा ; उसकी देन काफी है। उसने यूरोपीय सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया और आधुनिक युग का शिलान्यास किया। प्राचीन इतिहास के कारनामो में जर्मन जातियों के विचारो तथा सस्थानो को जोडकर अपने पुराने जर्जरित समाज मे नवीन जातियो की तरुण शक्ति तथा ओज का प्रसार करके उसने आधुनिक युग के आविर्भाव के लिये भूमि तैयार की। कैथोलिक चर्च, सामन्तवाद, कानून, राज्यतन्त्र तथा दाते का सार्वभौमिक साम्राज्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन सस्थायें थी। १६वी शताब्दी तक उनमें से बहुतों की उपयोगिता समाप्त हो गई थी। मेकियावेली तथा हॉब्स का विचार मुख्य रूप से उन्ही पर प्रहार करता था। पश्चिमी सभ्यता के विकास में मध्ययुग का क्या भाग है, इसका सुन्दर वर्णन प्रोफेसर आडम्स ने इस प्रकार किया है : "मध्य युग का कार्य प्राथमिक रूप से प्रगति नही था, बल्कि विभिन्न-जातीय (Heterogeneous) तथा प्राय: परस्पर विरोधी तत्त्वों मे से जो कि इसे प्राचीन काल मे मिले थे, एक जैविक रूप से एकताबद्ध तथा सजातीय (Homogeneous) ससार का निर्माण करना था, और इस प्रकार इसने उस उन्नति और प्रगति के लिये आवश्यक स्थिति जुटाई जो कि प्राचीन काल वालो के लिये सम्भव नही थी।"† मध्ययुग ने क्या प्राप्त किया और आधुनिक काल उसका कहा तक ऋणी है, इस बात को अच्छी तरह समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि वे विभिन्न तत्त्व क्या थे जिन्हे लेकर मध्यकाल ने आरम्भ किया और उन्हे किस प्रकार एक जगह विलीन करके एक नई

* "The young nations, like children, were learning their intellectual alphabet and were laboriously spelling out the works of former masters."
—Doyle : *A History of Political Thought*, page 67.

† "The work of the middle ages was not primarily progress ; it was to form the organically united and homogeneous world out of the heterogeneous and often hostile elements which the ancient world supplied, and so to furnish the essential condtions for an advance beyond any point possible to the ancients."
—Adams : *Civilization during the Middle Ages*, page 14.

इकाई का निर्माण किया। परन्तु राजनीतिक विचार के दृष्टिकोण से तफसील में जाना आवश्यक नहीं है। हमारे उद्देश्य के लिये केवल उन मुख्य शक्तियों का वर्णन करना काफी होगा जिन्होंने कि उस युग के विचार की रूपरेखा निर्धारित की और राजनीतिक प्रक्रियाओं के लिये स्थिति-विशेष उत्पन्न की। उनमें से मुख्य ये है : पोपशाही का जन्म, सामन्तवाद का अभ्युदय तथा प्रसार, और साम्राज्यवादी विचार का पुनरुत्थान। इस युग के अन्तिम दिनों में हम एक नई भावना का जन्म होते हुये पाते हैं, वह भावना है राष्ट्रवाद। पोपशाही तथा राज्य के बीच संघर्ष में पोपशाही की पराजय में मुख्य हाथ राष्ट्रवाद का ही है। हम यहां पर इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

पोप की शक्ति का विकास—मध्य युग को भूतकाल से जो थाती उत्तराधिकार में मिली उसे हम तीन भागों में विभक्त कर सकते है : (१) दर्शन, विज्ञान, कला तथा साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन यूनानियों की देन, (२) कानून तथा प्रशासन के क्षेत्र में रोमनों की देन, और (३) साम्राज्य तथा चर्च का संघटन तथा सिद्धान्त। इन तीनों में शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग रोमन कैथोलिक चर्च का संघटन तथा सिद्धात है। याद रहे कि चर्च तथा वे समस्त वस्तुयें जिनके पीछे ईसाई धर्म की स्वीकृति थी, बर्बरों द्वारा किये गये विनाश से बच निकले। बर्बरों में धर्मग्रंथों, चर्च फादर्स के अधिकार, और चर्च की परम्पराओं के प्रति श्रद्धा थी। इसलिए ईसाई चर्च विजेता जातियों को अपने धर्म मे परिणत कर सका और उन्हें सभ्य बना पाया। उस संकटपूर्ण काल मे यदि चर्च सीधा और डट कर खड़ा न रहता तो पश्चिम में सभ्यता का सारा ढांचा ही गिर गया होता। परन्तु यह न केवल जीवित रहा बल्कि इसकी शक्ति और भी बढ़ गई और मध्ययुग के राजनीतिक विचार की रूपरेखा निर्धारित करने मे यह सबसे अधिक प्रभावपूर्ण साधन बन गया। लोग इसे पवित्र कैथोलिक चर्च कहकर पुकारने लगे। यह सार्वभौमिक चर्च के उस आदर्श के बहुत निकट आ गया जिसका कि चित्र ऑगस्टाइन ने 'दी सिटी ऑफ गॉड' में अंकित किया था। इस महान् धार्मिक संघटन में समस्त पश्चिमी ईसाई संसार एक प्रधान की छत्रछाया मे एकता के सूत्र में बंध गया। उसका प्रधान, पोप, ईश्वर का प्रतिनिधि था और मानव जाति के धार्मिक शासन में उसका प्रतिनिधित्व करता था। पिछले अध्याय में हम यह देख चुके है कि ईसाई चर्च की स्थापना कब और किस प्रकार हुई और किस प्रकार पोपशाही का अभ्युदय अर्थात् रोम के बिशप को चर्च में औपचारिक रूप से प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। यहां हम यह देखेंगे कि पोप ग्रेगरी महान् (५८०-६०४) के पदासीन होने के पश्चात् पोप की शक्तियों में किस प्रकार वृद्धि हुई। पोप ग्रेगरी का शासन ईसाई चर्च के इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात करता है।

यद्यपि पोप इन्नोसेण्ट प्रथम (Innocent I) तथा पोप लियो प्रथम (Leo I) जैसे पादरियों के हाथ मे जाकर पांचवी शताब्दी मे पोप पद की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, तथापि राजनीतिक विषयों से इसका अभी तक कोई सम्बन्ध न था। परन्तु छटी

शताब्दी के अन्त में स्थिति में परिवर्तन हुआ जबकि पोप ग्रेगरी को बर्बर आक्रमणों, विशेषकर लोम्बार्ड्स (Lombards) के विरुद्ध जिन्होंने नगर को घेर लिया था और उसे अपने आधीन बनाना चाहते थे, नगर की रक्षा का भार संभालना पड़ा। पोप ग्रेगरी ने लोम्बार्ड्स से सन्धि करली और उन्होंने नगर का घेरा उठा लिया और वापिस लौट गये। तब से पोपों को राजनैतिक मामलों मे ध्यान देना पड़ा; आरम्भ में रोम के मामलों मे तथा बाद में इटली के।

कुछ समय के पश्चात् लोम्बार्ड्स ने फिर चढ़ाई की। पोप ने नगर की रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाकर विवश होकर फ्राकिश राजा चार्लस मार्टल से सहायता मागी। उसने तथा उसके पुत्र पिपिन ने पोप की प्रार्थना को स्वीकार किया और लोम्बार्ड्स को खदेड दिया। जो प्रदेश उन्होंने लोम्बार्ड्स से वापिस छीने और जिन पर पहिले इटली के पूर्वी सम्राट् का आधिपत्य था, वे उन्होंने पोप को प्रदान कर दिये। ऐसा करने से पोपशाही के हाथों मे सैद्धान्तिक रूप से भी वह राजनीतिक शक्ति आ गई जो वास्तविक व्यवहार में पहिले से ही उसके पास थी। पोप तथ फ्राक्स (Franks) मे इस प्रकार हुए गठबंधन ने आने वाले घटनाप्रवाह पर बड़ जबर्दस्त प्रभाव डाला। एक ओर तो इसने पोपशाही तथा इटली को लोम्बार्ड्स द्वारा परास्त होने से बचाया और दूसरी ओर इसने फ्राकिश (Frankish) साम्राज्य की स्थापना तथा कुछ समय के लिए समस्त ईसाई जगत के एकीकरण के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

पीपिन का पुत्र शार्लमेन यूरोप का सब से शक्तिशाली शासक बन गया था; उसके अधिकार क्षेत्र मे इस प्रदेश का अधिकतम भाग था जो कि आजकल फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैण्ड तथा डैनमार्क, स्विट्जरलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, ऑस्ट्रिया, जैकोस्लोवेकिया तथा उत्तरी इटली का एक अंग है। पोप लियो तृतीय तथा उसके राजनीतिक विरोधियो के मध्य विवाद का निपटारा करने के लिये शार्लमेन से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की गई। उस विवाद के सफल निर्णय के उपलक्ष्य मे एक भव्य धार्मिक उत्सव का आयोजन किया गया जिसमे कि पोप ने शार्लमेन के सिर को मुकुट से विभूषित कर दिया, जब कि वह पोप के सामने नतमस्तक हो रहा था, और उसे रोमनों का सम्राट् घोषित कर दिया। इस घटना का बहुत महत्त्व है। प्रथम, यह इस बात की सूचक है कि राज्य को वह सार्वभौमिकता फिर से प्राप्त हो गई जो कि बर्बरों के आक्रमण से खण्डित हो गई थी। दूसरे, यह कि लौकिक विषयो में पोप के हस्तक्षेप का यह प्रारम्भ बिन्दु बन गया। पोपशाही,जो कि आरंभ में एक विशुद्ध आध्यात्मिक सस्था थी अधिकाधिक राजनीति में खीची जाने लगी। तीसरी बात यह कि शार्लमेन तथा अन्य दर्शकों की दृष्टि में उस कार्य अर्थात् पोप द्वारा उसे मुकुट पहिनाने का वास्तविक महत्त्व चाहे कुछ भी क्यों न हो; किन्तु आगे चल कर पोपशाही के समर्थकों ने इसका अर्थ यह निकाला कि राजाओ को लौकिक शक्ति प्रदान करने का अधिकार आध्यात्मिक शक्ति

अर्थात् चर्च को है। इसे इस बात के कि राजा अपना अधिकार पोप से प्राप्त करता है, एक प्रमाण के रूप में पेश किया गया।

इन सब बातों के फलस्वरूप पोपशाही का राजनीतिक महत्त्व बढ़ा। इसका एक अत्यन्त गम्भीर परिणाम निकला। राजनीतिक महत्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्ति पोपो के चुनाव में दिलचस्पी लेने लगे और पोप पद के लिये होने वाले संघर्ष बहुत तीव्र तथा कटु बन गये जिनमे काफी दंगे और रक्तपात तक हो जाते थे। प्रायः पोप किसी सिद्धान्तहीन सामन्त के हाथ की कठपुतली बन जाता था। "टस्कुलम के सरदारों ने पोपशाही को अपने वंश का मौरूसी पद सा ही बना लिया था, और यह अत्यन्त भ्रष्ट साधनो द्वारा हुआ।"* फलतः दसवीं शताब्दी मे पोपो का व्यक्तिगत चरित्र बहुत नीचे गिर गया और पोपशाही के अधिकार पर इसकी अनिवार्य और स्पष्ट प्रतिक्रिया हुई। ऐसी स्थिति अधिक दिन तक कायम नही रह सकती थी, चर्च के सुधार का एक आन्दोलन शुरु हुआ। पोप को चुनने का अधिकार जो अब तक पादरियो और रोम के निवासियो को था अब कार्डिनलो (Cardinals) के एक मण्डल को दे दिया गया। प्रारंभ मे इसमें रोम के तथा उसके आसपास के पादरीगण सम्मिलित होते थे; किन्तु आगे चलकर अधिक विस्तृत क्षेत्र के पादरी उसमे शामिल होने लगे। केवल एक यही सुधार नही किया गया; निम्नलिखित दो अन्य दोषो – पादरियो का विवाह करना तथा धार्मिक पदों को धन द्वारा खरीदना—को भी दूर करने का प्रयास किया गया। यद्यपि यह सुधार आन्दोलन ६१० मे क्लूनी के मठ की स्थापना से आरम्भ हुआ किन्तु सुधार तब तक नही किये जा सके जब तक हिल्डेब्रैण्ड (Hildebrand) पोप ग्रेगरी सप्तम के रूप में पदासीन नहीं हो गया। जो नीति हिल्डेब्रैण्ड ने अपनाई वह मध्यकालीन विचार के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसकी मुख्य तान थी 'जस्टीशिया' (Justicia)। जस्टीशिया का अर्थ है (१) चर्च के ऊपर पोप का प्रभुत्व, (२) पादरियों को विवाह के सामाजिक बन्धन, पदो को खरीदने के आर्थिक बन्धन तथा राजनीतिक अधिकारियो द्वारा पद प्रदान (Lay Investiture) के सामन्तवादी बन्धन से मुक्ति प्रदान करना। इसी नीति, विशेषकर पादरियों को सामन्ती सरदारो की अधीनता से मुक्त करने की नीति को क्रियान्वित करने का जब उसने प्रयत्न किया तो उससे पोपशाही तथा साम्राज्य के मध्य प्रसिद्ध विवाद उठ खड़ा हुआ। जस्टीशिया की नीति को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने का अर्थ था चर्च को राज्याधिकारियों की अधीनता से मुक्त करना जो कि शार्लमेन, ऑटो प्रथम तथा जर्मनी के राजा हैनरी तृतीय सरीखे शक्तिशाली शासको के युग मे एक स्पष्ट सत्य था। परन्तु चर्च के राज्य से पृथक् करने का अर्थ यह नही था कि राज्य को चर्च की अधीनता से मुक्त कर किया जाये। पोप के सर्व-प्रभुत्व अधिकार की धारणा मे यह बात

* "The Counts of Tusculum had almost made the papcay hereditary in their family, and by the most corrupt means."

—Adams: *op. cl.*, page 235-6.

सन्निहित थी कि वह राजाओं और सम्राटों के कार्यों का निर्णय कर सकता है यदि वे चर्च के कानून को भंग करें। "सर्व-प्रभुत्वपूर्ण पोप लौकिक शक्ति अर्थात् राजा को आध्यात्मिक विषयों से अलग रख सकता था। सर्व-प्रभुत्वपूर्ण होने के नाते वह आध्यात्मिक शक्ति को सांसारिक विषयों से अलग रख सकता था।"* हिल्डेब्रैण्ड की नीति का अन्तिम परिणाम था राज्य का चर्च के अधीन हो जाना। चर्च के भीतर पोप की प्रभुता इसमें निहित ही थी।

पोप की प्रभुता के सिद्धान्त का ग्रेगरी महान् ने केवल पूर्वाभास दिया है, उसका पूर्ण विवरण उसने नहीं दिया। उसका पूर्ण वर्णन हमें पोप इन्नोसेण्ट- तृतीय, पोप बॉनीफेस अष्टम और पोप जॉन २२वें के लेखों तथा एजिडियस कोलोना (Egidius Colona) के ग्रंथ डी ऐक्लेजियास्टिका पोटेस्टेट (De Ecclesiastica Potestate) में मिलता है। कालान्तर में पोपों तथा लेखकों ने पोप के अधिकार की धारणा को अधिक सुनिश्चित रूप दिया। ग्रेगरी सप्तम ने चर्च के एक अनिश्चित आध्यात्मिक अधिकार तथा एक नैतिक अनुशासन लागू करने के अधिकार का प्रतिपादन किया किन्तु बॉनीफेस सरीखे व्यक्तियों ने चर्च के कानूनी अधिकारियों और शक्तियों के एक नियमित सिद्धान्त को सामने रक्खा। मध्य युग के पोपशाही ने क्या कार्य किया और उसके तथा राज्य के मध्य होने वाले विवाद का क्या महत्व है, इसे अच्छी प्रकार समझने के लिये स्पष्ट रूप से यह जानना आवश्यक है कि पोपों ने कौन-कौन सी शक्तियों के ऊपर अपना दावा जताया और इन्नोसेण्ट तृतीय सरीखे शक्तिशाली पोपों ने किन शक्तियों का प्रयोग किया और उसका क्या आधार था।

मध्य युग का आरंभ होने से पहिले ही चर्च ने एक जटिल ढांचे और संगठन को जन्म दिया था जिसका आधार रोमन साम्राज्य का नमूना था। यद्यपि पारिभाषिक रूप से यह एक राज्य नहीं, किन्तु यह राज्य के सदृश अवश्य था जिसका नेता राजा के से कार्य करता था। इसमें एक बड़ी हद तक केन्द्रीयकरण हो गया और ग्रेगरी सप्तम् या उसके योग्य उत्तराधिकारियों ने १२वीं तथा १३वीं शताब्दी में उसे चरम सीमा तक पहुंचा दिया। पोप इस बात का दावा करते थे कि उन्हें राज्य से परामर्श किये बिना ही विशपगण को नियुक्त तथा पदच्युत करने तथा उन्हें एक चर्च

पोप इन्नोसेण्ट चतुर्थ तथा एजिडियस कोलोना, जिसे एजिडियम रोमन भी कहते है, ने किया था। यदि कोई शब्द प्लेनीट्यूडो पोटेस्टेटिस के भाव को सब से अधिक व्यक्त करता है तो वह है राजसत्ता अथवा प्रभुता। पोप की इस शक्ति में कई बातें निहित है। सर्व-प्रथम, इसका अर्थ यह है कि चर्च की मौलिक शासक शक्ति का स्वामी पोप था और अन्य समस्त अधिकारी अपनी शक्ति उसी से प्राप्त करते थे, इसलिये वे उसके नियन्त्रण और अनुशासन के अधीन थे। सर्वोच्च शक्ति का स्वामी होने के नाते वह यह दावा करता था कि चर्च के किसी भी सदस्य को पदच्युत तथा स्थानान्तरित करने का उसे अधिकार है। दूसरी बात जो इस सिद्धात मे निहित थी वह यह है कि पोप को समस्त मानवकृत कानूनो तथा प्रशासकीय प्रत्यादेशों को बनाने तथा रद्द करने का अधिकार है। मानवकृत कानून की परिभाषा यह की गई कि वह पोप की इच्छा की अभिव्यक्ति है। मानवकृत कानून (जो धार्मिक कानून से भिन्न है जिसका कि आधार धर्म-ग्रंथ और चर्च की परम्परा है) के बनाने मे पोप गत पोपो तथा परिषदो के निर्णयो से बाधित नही होता था। इस सिद्धात में तीसरी बात यह निहित थी कि किसी सांसारिक शक्ति को पोप का निर्णय करने तथा उसके आदेशो की अवहेलना करने का अधिकार नही है। ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते उसका निर्णय अन्तिम है; इसे स्वयं ईश्वर का ही निर्णय समझा जाता था, इसलिये इसके विरुद्ध कोई अपील नही हो सकती। साराश यह कि पोप चर्च के भीतर सर्वोपरि अर्थात् सर्व-प्रभुत्वपूर्ण होने का दावा करता था। पोपों को केवल चर्च मे आन्तरिक सर्वोच्च शक्ति प्राप्त करने से ही संतोष नही हुआ; उन्होने राज्य के अधिकारियो के ऊपर भी नियन्त्रण तथा देखभाल रखने का दावा किया। उदाहरण के लिये पोप इन्नोसेण्ट तृतीय यह निर्णय करने का दावा करता था कि निर्वाचको द्वारा निर्वाचित सम्राट् योग्य व्यक्ति भी है या नही और सम्राट् के विवादित तथा अनियमित चुनावों को रद्द करने के अधिकार रखने का दावा करता था। वह शासकों के मध्य सधियो तथा समझौतो को पुष्ट करने तथा उनका निर्णय करने, और युद्ध तथा शान्ति का एक अभिभावक होने, विधवाओं तथा अवयस्को का एक विशेष अभिभावक होने, धर्म-विमुखता दमन करने और शासकों को नैतिक अनुशासन मे रखने के अधिकार का भी दावा करता था। इच्छानुसार राजकीय न्यायालयों से मुकदमे अपने पास मगवाकर न्याय प्रशासन का अभिवेक्षण करने के अधिकार का भी यह दावा करता था। साराश यह कि सैबाइन के शब्दों में पोप 'धार्मिक अथवा लौकिक, सभी प्रकार की शक्तियो के ऊपर पुनर्विचार तथा अभिवेक्षण की शक्ति' का दावा करता था।

इन दावो का आधार मध्य युग मे पाया जाने वाला यह विश्वव्यापक विश्वास था कि चर्च एक ऐसी सस्था है जिसकी स्थापना स्वय ईश्वर ने मनुष्य के आत्मिक मोक्ष के लिए की है और पोप ईसा का प्रतिनिधि है। इस बात से कि पीटर को स्वर्ग कि कुंजिया सौंपी गई थी और इस लोक तथा स्वर्ग मे प्राणियो को बन्धनग्रस्त करने तथा बन्धनमुक्त करने का, लोगों को सगठित करने का कार्य उसे सौंपा गया था,

यह परिणाम बड़ी सरलता से निकाल लिया गया कि पोप को जनता के ऊपर अपरिमित अधिकार प्राप्त है और जनता को उसकी आज्ञा-पालन का कर्तव्य अप्रशस्त है। यह माना जाता था कि पोप तो सब के गुण-दोषों की परीक्षा कर सकता है ; किन्तु उसके गुण-दोषों को कोई नही परख सकता। सहज विश्वासी ईसाइयों ने इन दावों को एकदम बिना किसी चु-चरां के स्वीकार कर लिया क्योंकि उनका विश्वास था कि चर्च के आशीर्वाद और अनुकम्पा के बिना कोई स्वर्ग मे नही जा सकता और नरक की घोर यातनाओं से नही बच सकता। अब यह समझ लेना कठिन नही कि पोप को किस प्रकार अकाट्य शक्ति प्राप्त हो गई और वह किस प्रकार चर्च के भीतर सर्वोच्च अधिकारी बन गया।

यह बात भी याद रखने योग्य है कि कैनोनिस्ट्स (Canonists) (व्यक्ति जो धार्मिक मामलों मे धार्मिक कानूनों की व्याख्या करते थे तथा उसे लागू करते थे) ने भी पोप के हाथ मे समस्त शक्ति के केन्द्रीभूत हो जाने की प्रवृत्ति को सम्बल पहुँचाया। जब १२वी शताब्दी मे उन्होने केवल कानून को सगृहीत करने का कार्य आरम्भ किया तो पोप की सर्व-शक्तिमत्ता के सिद्धान्त के लिये सामग्री उन्हे उपलब्ध थी।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त अन्य कई कारण भी ऐसे हैं जिन्होंने मध्य युग मे चर्च के एक सर्व-प्रधान संस्था बनने तथा चर्च के भीतर पोप के निरकुश राजशाही के सिद्धात के विकास मे योग्य दिया। रोमन साम्राज्य के अध.पतन के बाद रोम के सबसे अधिक प्रतिभाशाली तथा मेधावी व्यक्ति चर्च की नौकरी मे आये क्योंकि चर्च ही उस जमाने मे व्यक्तिगत उत्थान के अधिकतम अवसर प्रदान करता था। इसके अतिरिक्त शिक्षा और विद्या के ऊपर चर्च का एकाधिकार था ; इसलिये शक्ति का उसके हाथों मे केन्द्रित हो जाना स्वाभाविक ही था। यह बात भी उल्लेखनीय है कि मानव हृदय के ऊपर चर्च का राज होने के कारण ही प्राचीन काल के वे राजनीतिक विचार चलते रहे जिन्हें कि ईसाई धर्म ने स्वीकृति प्रदान कर दी थी, जैसे कि प्राकृतिक कानून को सही मानना तथा शासकों का उससे बाधित होना, शासकों का न्यायपूर्वक शासन करने का कर्तव्य तथा वैधानिक शास्त्र का सम्मान।

ट्यूटनों के राजनीतिक विचार—पोपशाही के अतिरिक्त सामन्तवाद (Feudalism) दूसरी शक्ति थी जिसने कि मध्य युग की राजनीति तथा विचार की रूपरेखा को निर्धारित किया। ट्यूटन जाति अपने साथ जो कुछ लाई और रोमनो से उसे जो कुछ उत्तराधिकार मे मिला उन दोनों की एक दूसरे के ऊपर क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम सामन्तवाद था। इसलिए ट्यूटनो के राजनीतिक विचारो और सस्थाओ का एक विवरण यहा देना बहुत आवश्यक है।

प्रोफेसर आडम्स का विचार है कि जर्मन जातियां अपने साथ न केवल एक नवीन स्फूर्ति तथा तारुण्यपूर्ण दृष्टिकोण लाईं बल्कि कुछ नवीन विचार और सस्थायें भी उनके साथ आईं जिनका प्राचीन विचारों और संस्थाओं के साथ सम्मिश्रण होकर

एक नवीन सभ्यता का जन्म हुआ। प्राचीन यूनानी और रोम की सभ्यतायें व्यक्ति के मूल्य और महत्त्व पर आधारित नही थीं ; यूनानियों और रोमनो के लिए राज्य सब कुछ था और उसकी तुलना में व्यक्ति कुछ नही था। वे राज्य को एक साध्य समझते थे, साधन नहीं। ट्यूटनों की भावना इसके बिल्कुल विपरीत थी। आडम्स के शब्दो मे 'उनके हृदय मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राज्य की तुलना मे व्यक्ति के मूल्य और महत्त्व का बहुत बड़ा सम्मान था।' 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की यह अनुभूति एक योद्धा की व्यक्तिगत अभिमान भावना' तथा उनके दण्ड-न्याय (Criminal justice) संबधी विचारो मे प्रतिबिम्बित है। इसका आधार वह सिद्धात नही जिस पर कि हमारा अपना दण्ड विधान आधारित है अर्थात् यह कि अपराधी को दण्ड देना राज्य का कर्तव्य है ; उसका आधार यह मान्यता थी कि जिस व्यक्ति के साथ कोई अपराध किया गया है उसे स्वयं ही अपराधी को दण्ड देना चाहिये, यह विचार उस समय भी प्रचलित रहा, जब अपराधी को दण्ड देना राज्य का धर्म माना गया क्योंकि पीडित को पीडक के ऊपर किये गए जुर्माने का एक भाग मिलता था।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा व्यक्ति के मूल्य के ऊपर ईसाई धर्म ने अपने आरभ काल मे ही बल दिया था ; इसकी इन्हे बहुत ही तीव्र अनुभूति थी। यह आशा करना उचित ही था कि ये दोनों धारायें एक जगह मिल जायेंगी और एक दूसरे को सम्बल पहुँचायेंगी तथा एक नवीन सभ्यता का सूत्रपात करेंगी। परन्तु आश्चर्य की बात है कि व्यक्ति के परम महत्त्व तथा मूल्य का यह सिद्धांत शीघ्र ही लुप्त हो गया और मध्य युग मे व्यक्ति गिल्ड (Guild), कम्यून (Commune), कॉरपोरेशन (Corporatian) तथा जिस भी संघटन का वह सदस्य था, उसी में पूर्ण रूप से विलिन हो गया। हाँ, सामन्तवाद के राजनीतिक संगठन मे वह अवश्य जीवित रहा। 'पुनरुत्थान' (Renaissance) तथा 'सुधार' (Reformation) के दो महान् आन्दोलनों मे, जिन्होंने कि मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप में परिवर्तित किया, व्यक्ति की महत्ता का यह विचार पुनर्जीवित हो उठा।

व्यक्ति स्वतन्त्रता की भावना के अतिरिक्त ट्यूटोनिक लोगों ने [illegible] संस्थाओं का प्रवेश किया और स्थानीय स्वायत्त शासन की भावना का [illegible] किया ; इनका मध्यकालीन तथा भावी राजनीतिक विचारों तथा संस्थाओं के ऊपर [illegible] प्रभाव पड़ा। उनके आदिकालीन और कबीले के ढंग के [illegible] की [illegible] साम्राज्य की अत्यन्त केन्द्रीभूत तथा निरंकुश सरकार से [illegible] थी। रोम के ऊपर बर्बर जातियों के प्रभाव का सब से पहिला [illegible] यह हुआ कि साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उसके स्थान में [illegible] हो गये जो सुव्यवस्थित न थे और जिनका संगठन [illegible] था। [illegible] अपने साथ जो स्थानीय [illegible] सामन्तवाद के [illegible] इन नये राज्यों में [illegible]। [illegible] ट्यूटोनिक [illegible] मे अन्तर्निहित [illegible] है।

(१) सर्वप्रथम है राष्ट्रीय सभा (National Assembly) जिसमें कबीले के समस्त स्वतन्त्र व्यक्ति सम्मिलित थे। इसका मुख्य कार्य आवश्यकतानुसार कबीले के सरदार को चुनना, अपने पास भेजे हुए महत्त्वपूर्ण विषयों का निर्णय करना और कभी-कभी एक न्यायालय के रूप मे कार्य करना था। राजतन्त्रों के स्थापित होने से इस प्रकार की सभा लुप्त हो गई। राष्ट्रीय सभा के अतिरिक्त ट्यूटन लोग सैकड़ों की सख्या मे स्थानीय प्रतिनिधि सभाये अथवा कैन्टन रखते थे जो कि स्थानीय महत्त्व के विषयो का निर्णय करती थी तथा न्यायालयों के रूप मे कार्य करती थी। यूरोपीय महाद्वीप मे ये मध्य युग के अन्त तक जीवित रही जब कि पुनरुदित रोमन कानून के ऊपर आधारित एक नवीन न्याय प्रणाली ने उन्हें समाप्त कर दिया। उन्होंने इङ्गलैंड मे लोक सभा (House of Commons) के उदय तथा जिला (Borough) और ग्राम (County) परिषद् सरीखी स्थानीय संस्थाओं की स्थापना के लिये आधार प्रदान किया। हम यह भी कह सकते हैं कि ट्यूटनों की इन स्थानीय सभाओं मे स्वतंत्र आधुनिक धारासभाओं के तत्त्व वर्तमान थे।

(२) निर्वाचित राजतन्त्र दूसरी उल्लेखनीय ट्यूटोनिक संस्था है। जब भी आवश्यकता होती थी जनप्रिय अथवा राष्ट्रीय सभा कबीले के सरदार को निर्वाचित करती थी। आगे चल कर वंशानुगत उत्तराधिकार की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और उसने निर्वाचन सिद्धांत को आच्छादित कर लिया। परन्तु निर्वाचन सिद्धान्त का पूर्ण लोप नही हुआ। निर्वाचन पद्धति बनी रही। कहीं-कहीं यह वास्तविक थी और कहीं-कहीं इसका रूप औपचारिक मात्र था। जर्मनी मे निर्वाचन-सिद्धान्त शताब्दियों तक बना रहा; इगलैण्ड मे राजतन्त्र वशानुगत बन गया किन्तु इस हद तक निर्वाचन सिद्धान्त बना रहा कि ससद उत्तराधिकार के विवादग्रस्त होने की स्थिति मे उत्तराधिकारी को चुनने तथा एक ऐसे राजा को जिसने कि जनता का विश्वास खो दिया हो सिंहासन से उतारने और उसकी जगह दूसरे को पदासीन करने के अधिकार रखने का दावा करती थी। इस प्रसग मे समझने की बात यह है कि मध्य काल में उत्तराधिकार केवल 'ज्येष्ठपुत्राधिकार' (*Primogeniture*) के सिद्धान्त के अनुसार ही निश्चित नही होता था; जनता द्वारा निर्वाचन का सिद्धान्त भी साथ-साथ चलता था। न केवल यह, बल्कि एक तीसरा सिद्धान्त इसमें जोड़ दिया गया था कि राजा ईश्वर की अनुकम्पा से शासन करता है। मध्य युग मे प्रचलित विचारो के अनुसार राजा को सिंहासन उत्तराधिकार में मिलता था, अपने पद के लिये वह सार्वजनिक निर्वाचन पर निर्भर करता था और वह शासन परमात्मा की अनुकम्पा से करता था। शक्ति पाने के ये तीन अधिकार एक दूसरे का विकल्प नही थे बल्कि एक ही तथ्य के विभिन्न पहलुओं को अभिव्यक्त करते थे। वशानुगत आधार पर सिंहासन प्राप्त कर लेना पूर्णरूप से विहित तब तक नही समझा जाता था जब तक कि समस्त जनता उसे पुष्ट न करे और परमात्मा की अनुकम्पा उसे प्राप्त न हो। ईश्वर कृपा द्वारा शासन करने की उपसिद्धि यह थी कि राजा कानून के अधीन था।

यद्यपि निर्वाचन सिद्धान्त को फ्रांस मे बिल्कुल भुला दिया गया और इग्लैण्ड में इसका नाममात्र शेष रहा, समस्त मध्य युग मे पोपो के चयन तथा जब तक पवित्र रोमन साम्राज्य कायम रहा तब तक सम्राटो के चयन मे इसका प्रयोग होता रहा। कहा जा सकता है कि एक हद तक इसी सिद्धान्त को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से मान लेने के कारण इङ्गलैण्ड के राजा एक जनतन्त्री राज्य के प्रधान के रूप मे कार्य कर सके हैं।

(३) स्वविकसित कानून की प्रणाली वह तीसरा जनतन्त्री तत्त्व है जो कि ट्यूटन लोग अपने साथ लाये। कई बातों में कानून सम्बन्धी ट्यूटोनिक धारणा रोमन धारणा से भिन्न थी। सम्राट् की आज्ञानुसार रोमन न्यायविदों ने रोमन कानून को नियमबद्ध और सहिताबद्ध कर डाला था; यह माना जाता था कि वह समस्त सम्भव मामलों पर लागू होता है। इसमें विकास के तत्त्व नहीं थे। इसके अतिरिक्त इसके निर्माण में जनता का कोई हाथ न था; कानून निर्माण की समस्त शक्ति सम्राट् मे केन्द्रित थी। अन्तिम बात यह कि इसका स्वरूप क्षेत्रीय था; यह साम्राज्य मे रहने वाली समस्त जातियों के ऊपर लागू होता था। इसके विपरीत जर्मन जाति कानून को एक कबीले विशेष की चीज समझती थी; उसके विचार मे अपने-अपने कानून एक कबीले का एकता सूत्र था जहाँ-जहाँ कबीले जाते थे अपने-अपने कानून को साथ ले जाते थे। जब ये कबीले रोमन साम्राज्य मे आये और ये रोमन कानून के अधीनस्थ लोगो के साथ रहने लगे तो इन्होंने अपने कानून और उन्ही के अनुसार शासित होने के अधिकार को कायम रक्खा। दूसरे शब्दो मे जर्मन धारणा के अनुसार कानून एक कबीले के प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत संपत्ति था जिससे वह किसी प्रदेश विशेष मे रहने के कारण ही वंचित नही किया जा सकता था। यह कानून रस्मो-रिवाज पर आधारित था। यह लिखित अथवा संहिताबद्ध नही था। कानून का पता लगाना, उसकी परिभाषा करना और उसकी उद्घोषणा करना न्यायालयो का कार्य था। क्योंकि न्यायालय स्थानीय सार्वजनिक सभायें ही होती थी, इसलिए स्वय जनता ही कानून का निर्माण और उद्घोषणा करती थी; किसी बाह्य शक्ति द्वारा वह जनता पर नही थोपा जाता था। इसमे विकास का गुण भी था। इस प्रकार जनता द्वारा कानून बनाने, उसकी व्याख्या करने तथा उसे लागू करने की रीति में कोई सुनिश्चितता नही थी। परन्तु यह तब तक कि यूरोपीय महाद्वीप मे न्यायालयों का नियत्रण जनता के हाथ से निकल कर ऐसे व्यक्तियों के हाथों मे नही आ गया जोकि रोमन कानून के सिद्धान्तो में पारगत थे और उसे एक आदर्श समझते थे; और कानून निर्माण की शक्ति राजसत्ताधिकारी के हाथों में केन्द्रित नही हो गई। किन्तु इग्लैण्ड मे सामान्य कानून (Common Law) का विकास न्यायालयो द्वारा होता रहा, जिन्होने सरकार के व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिक अगों से अपनी स्वतन्त्रता बनाये रक्खी।

प्रतिनिधि स्थानीय सभायें, निर्वाचित राजतन्त्र तथा एक सामान्य कानून की प्रणाली, ये तीन जनतन्त्रीय संस्थाये थी जोकि जर्मनो ने संसार को दी और जिन्होंने

यूरोप में स्वतन्त्र संविधानिक सरकार के भावी विकास पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। ये विचार कि कानून जनता का है और केवल उसी की इच्छा से इसे लागू किया जा सकता है और बदला जा सकता है और यह कि राजा कानून के अधीन है और उसे न्यायपूर्वक शासन करना चाहिए लगभग विश्वव्यापक थे। परन्तु इससे यह परिणाम निकालना ठीक नहीं होगा कि ट्यूटनो ने आधुनिक संसदों के सदृश प्रतिनिधि सस्थाओं का विकास किया था जिनके द्वारा स्वतन्त्र मनुष्य कानून बनाने में भाग लेते थे और राजा को न्यायपूर्वक तथा कानून के अनुसार शासन करने के लिए विवश करते थे। सविधानवाद को प्रभावक बनाने वाले यन्त्र का जन्म १३वीं शताब्दी से पहिले नहीं हो पाया। ट्यूटन लोगों ने तो केवल इस विचार की सृष्टि की कि 'जनता एक सामूहिक निकाय है जो अपने सामूहिक मनस् की अभिव्यजना अपने न्यायरक्षकों तथा स्वाभाविक नेताओं द्वारा करती है।'*

सामन्तवाद (Feudalism)—आदि ट्यूटनों के, जो साम्राज्य के पश्चिमी भाग मे रोमनों के स्थान मे स्वयं शासक बन गये थे, राजनीतिक विचारों तथा सस्थाओं के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि पुरानी तथा नवीन व्यवस्था में बड़ी असगतता थी, अर्थात् वे साथ नहीं चल सकती थीं। एक दूसरे से ताल बैठाने के लिए उनमें काफी हेर-फेर करना पड़ा। एक ओर तो नये शासकों की आवश्यकताओं के अनुकूल बनने के लिये पुराने सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संघटनों में परिवर्तन और परिशोधन किया गया; दूसरी ओर नवीन वातावरण के अनुकूल बनने के लिए नवीन शासकों के विचारों और संस्थाओं में भी संशोधन हुआ। प्राचीन रोमन व्यवस्था तथा नवीन ट्यूटोनिक सस्थाओं मे परस्पर किया-प्रतिक्रिया का परिणाम हुआ सामन्तवाद का जन्म। यह सब से अधिक प्रभावशाली मध्यकालीन सस्थान तथा कानूनी सिद्धान्तों और सामाजिक विचारों का स्रोत था जिसने समस्त मध्य काल में जनता के जीवन और विचारों की रूपरेखा निर्धारित की। जैसा कि सैबाइन ने कहा है, "सामन्तवादी संस्थान मध्य युग पर उतने ही पूर्ण रूप से छाये हुए थे जितने कि नगर राज्य प्राचीन काल पर।" सामन्तवाद (Generic) शब्द है। इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थितियों मे हुआ है। यह केवल उस सामाजिक व्यवस्था पर लागू नहीं होता जो कि मध्य काल मे पश्चिमी यूरोप मे उत्पन्न हुई थी, बल्कि यह उन सस्थाओं पर भी लागू होता है जो जापान, कई इस्लामी राज्यों तथा हमारे देश में भी उत्पन्न हुईं। हम कभी-कभी उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के नवाबों और जागीरदारों को सामन्त सरदार कहकर पुकारते हैं। कुछ बातों में पश्चिमी यूरोप के सस्थानों तथा हमारे अन्य देशों के सस्थानों मे साम्य है किन्तु दोनों में बहुत बड़े और आधारभूत अन्तर भी है। उनमें जाना हमारे लिए आवश्यक नहीं। यहाँ पर हम केवल उस सामाजिक सघटन का उल्लेख करेंगे जोकि मध्य युग मे पश्चिमी यूरोप में

* "The People was a corporate body which expresses its corporate mind through its magistrates and natural leaders.."

विकसित हुआ। सामन्तवाद की कुछ विशिष्ट व्यवस्थायें, जैसे के भृत्य प्रथा (Serfdom) पाँचवी शताब्दी में भी पाई जाती थी, परन्तु ११वी और १२वी शताब्दी में आकर इस प्रणाली का पूर्ण रूप सामने आया। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि सामन्तवाद के विभिन्न संस्थानों का विकास कुछ देशों में तीव्र हो गया और कुछ मे रुद्ध हो गया। फलतः सामन्तवाद ने पश्चिमी यूरोप के समस्त देशो में एक ही रूप धारण नही किया।

सामन्तवाद के सामान्य स्वरूप के बारे मे भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। मूलतः यह एक संक्रामक स्थिति है। यह उस सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का नाम है जिसका जन्म उस समय हुआ जबकि शार्लेमिन द्वारा स्थापित साम्राज्य का ह्रास तो हो चुका था परन्तु राष्ट्रराज्य का आविर्भाव नहीं हुआ था। विभिन्न राज्यों में शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना के साथ ही इसका अन्त हो गया। इसका अन्त इंग्लैण्ड में फ्रांस से पहिले और फ्रांस मे जर्मनी से पहिले हुआ। ब्रिटिश राजा फ्रास और जर्मनी के राजाओ की अपेक्षा अधिक सरलता से सामन्त सरदारों की शक्ति को कुचल सके और एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना कर सके। ऐसा न करने में देश की कुछ परिस्थितियो ने उनकी सहायता की।

सामन्तवाद के दो प्रकार अथवा रूप हैं, एक राजनीतिक और दूसरा आर्थिक। अपने परिपक्व रूप मे ये दोनो एक जगह संगठित हो गये; परन्तु उनका सदा एकीकृत रहना आवश्यक नहीं है; एक के बिना दूसरा कायम रह सकता है और उसके पहिले आ सकता है। राजनीतिक सामन्तवाद का अर्थ है शासन शक्ति का विकेन्द्रित होना। इसके अन्तर्गत ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य जैसे कि सुरक्षा प्रदान करना, विवादों का निर्णय करना तथा सशस्त्र सेनाएं रखना राजा नहीं बल्कि उसके सामन्त सरदार करते है। यह एक ऐसा शिखरोन्मुखी संघटन (Hierarchy) होता है जिसमे व्यक्ति अपने से तुरन्त ऊपर वाले स्वामियो के अधीन होते हैं जो अपने मे उच्चतर स्वामियों के अधीन होते है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है और अन्त मे उच्चतम स्वामी राजा का सेवक होता है जिसके प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य होते है। राजा प्रत्यक्ष रूप से प्रजाजन तथा छोटे सरदारों से व्यवहार नही कर सकता, उसे उनके तुरन्त ऊपर वाले सरदारो के द्वारा उनसे वर्तना पड़ता है। इस प्रकार नागरिकता शब्द का सारा अर्थ ही समाप्त हो जाता है; इसकी जगह स्वामी तथा सेवक (Vassal) के बीच मे एक प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध का जन्म होता है। सामन्तवादी समाज में नागरिक, नागरिक नही होते; वहाँ केवल सेवक होते हैं जिनका कर्त्तव्य अपने तुरन्त ऊपर वाले स्वामी की आज्ञा का पालन तथा सेवा करना होता है। देशभक्ति, राष्ट्रीयता की भावना तथा राष्ट्रीय सार्वभौमिकता का जोकि राष्ट्र-राज्य की इतनी प्रमुख विशेषतायें है, एक सामन्तशाही समाज में कोई स्थान नही हो सकता: उसमे तो प्रत्येक चीज स्थानीय, व्यक्तिगत तथा संविदात्मक (Contractual) थी।

आर्थिक पहलू से सामन्तवाद का अर्थ भूमि अधिकरण (Land Tenure) की एक ऐसी प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत जो लोग वास्तव मे भूमि को जोतते है वे उसे किसी दूसरे से जागीर (Fief) के रूप मे प्राप्त करते हैं। वे उसके स्वामी नही होते ; किन्तु उनका हित कुछ-कुछ स्वामियों जैसा ही होता है जो अधिकतर अदेय होता है। इस प्रकार स्वामित्व का स्थान एक प्रकार की पट्टेदारी (Leasehold) ले लेती है। सामन्तवादी सिद्धात के अनुसार भूमि का स्वामी राजा होता है। परन्तु क्योंकि वह स्वय अपने प्रत्यक्ष अभिवेक्षण मे समस्त भूमि मे खेती नही करा सकता, इसलिये वह उसे बहुत से टुकडो में विभक्त करके बहुत से व्यक्तियों को दे देता है जो उसके बदले मे उसकी कुछ सेवायें करने का वचन देते हैं। जब तक कि वह उन शर्तों को पूरा करता रहता है तब तक भूमि के ऊपर उसका अधिकार बना रहता है और उसके बाद उन्ही शर्तों पर वह भूमि उसके उत्तराधिकारियो को मिल जाती है। यदि वह अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नही कर पाता तो राजा उससे भूमि वापस लेकर किसी दूसरे को दे सकता है। ये मुख्य भूमिधर जिन्हे आम तौर से बैरन (Barons) कहा जाता है राज्य के महान् लॉर्ड होते हैं। राजा राज्य का कार्य इन्ही लॉर्डों द्वारा करता है।

ये बैरनगण भी अपने-अपने भू-भाग मे प्रत्यक्ष रूप से अपने अभिवेक्षण में खेती नही करा पाते। इसलिये प्रत्येक बैरन अपने भू-भाग को छोटी इकाइयों मे विभक्त करके एक-एक इकाई अपने अधीनस्थ भूमिधरो को उन्ही शर्तों के ऊपर दे देता है। इन्ही उप-भूमिधरो के संगठित सहयोग से बैरनगण राजा के प्रति अपने कर्त्तव्यो का निर्वाह कर पाते है। भूमि-विभाजन की यह प्रक्रिया वही पर समाप्त नही हो जाती ; यह तब तक चलती रहती है जब तक कि प्रत्येक भू-भाग केवल इतना बड़ा रह जाता है कि वह एक योद्धा के भरण-पोषण तथा उसको शस्त्र-सुसज्जित करने के लिये पर्याप्त हो। इस भूखण्ड को दास तथा भृत्यगण (Serfs) जोतते बोते हैं।

वह व्यक्ति जो अपने से निकटतम ऊपर वाले स्वामी से भूमि प्राप्त करता है, उसका सेवक (Vassal) और भूमि प्रदान करने वाला उसका स्वामी कहलाता है। एक सामन्तवादी समाज मे भृत्य तथा भूमि को वास्तव में जोतने बोने वाले व्यक्तियो को छोड़ कर प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी का सेवक और किसी न किसी का स्वामी होता है। एक व्यक्ति के अधीन कई सेवक हो सकते हैं और एक व्यक्ति कई स्वामियो का सेवक हो सकता है। स्वामी तथा सेवक का सम्बन्ध व्यक्तिगत तथा पारस्परिक होता है। सेवक के कुछ निश्चित कर्त्तव्य होते हैं, जैसे कि सैनिक सेवा करना, स्वामी के दरबार मे हाजिरी बजाना तथा कुछ निश्चित अवसरों पर कुछ भेंट देना। दूसरी ओर स्वामी का कर्त्तव्य सेवक की रक्षा और सहायता करना तथा उसके अधिकारो तथा अभिमुक्तियों का सम्मान करना है। यदि स्वामी अपने सेवक के अधिकारो से इन्कार करे या उससे कर्तव्य पालन कराने में सीमा का उल्लघन करे तो सैद्धान्तिक

रूप से सेवक को अपना भूखण्ड तथा उसके साथ अपनी पराधीनता का परित्याग कर देने का अधिकार है। इस प्रकार हम देखते है कि सामन्तवादी सघटन मे "पारस्परिकता, स्वेच्छापूर्वक कर्त्तव्यपालन तथा सन्निहित सविदा का एक भाव पाया जाता है जो आधुनिक राजनीतिक सम्बन्धों मे से प्रायः लुप्त हो गया है।"

११वी तथा १२वी शताब्दी मे इसके पूर्ण विकसित रूप में यूरोप के सामन्तवाद में ये दोनों भाव सम्मिलित थे। प्रत्येक सेवक के पास एक जागीर थी और प्रत्येक जागीर पर एक सेवक का आधिपत्य था। दूसरे शब्दो में, राजनीतिक कर्त्तव्यों की पूर्ति भूमि पर अधिकार के साथ सम्बद्ध थी। जागीर के रूप में भूमि पर आधिपत्य रखने के नाते ही बैरनगण तथा उनके अधीन भूमिधर कुछ राजनीतिक कार्य करते थे। वे कार्य निम्नलिखित है :

प्रथम, प्रत्येक सेवक अपने स्वामी को सैनिक सहायता देने के लिये बाध्य था। बैरनगण राजा के मांगने पर उसे सशस्त्र सैनिक देने के लिये बाध्य थे और प्रत्येक भूमिधर तथा उपभूमिधर अपने बैरन के मांगने पर उसे एक निश्चित सख्या में सैनिक देने के लिये बाध्य था। इस प्रकार राज्य की सेना एक सामन्तवादी सेना थी। दूसरे यह कि राज्य की समस्त आय का आधार वे अनुदाय थे जो कि मुख्य भूमिधर निर्धारित अवसरो पर राजा को देते थे। वहां सामान्य करारोपण की कोई प्रणाली नही थी। भूमि ही धन का एक-मात्र स्रोत था। अतिम बात यह कि प्रत्येक बैरन को अपनी जागीर के अन्दर अपनी जनता का न्याय करने का अधिकार था ; राजा के कर्मचारी उसमें कोई हस्तक्षेप नही कर सकते थे। इस प्रकार सरकार के तीन बड़े विभागों, सेना, न्यायालय तथा राजस्व पर सामन्तवाद का प्रभाव था और प्रत्येक क्षेत्र मे विकेन्द्रीकरण था। विदित है कि नागरिकता का जो अर्थ आज हम लेते है वह सामन्तवादी युग में नही हो सकता था।

समाज के सामन्तवादी सघटन की एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता ध्यान देने योग्य है। ऊपर कहा जा चुका है कि महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्यों का करना जागीर के रूप में भूमि पर अधिकार के साथ सम्बद्ध था। जागीर की भांति उसके साथ सम्बद्ध सार्वजनिक कर्त्तव्यो का पालन करना भी वंशानुगत बन गया। पुत्र को पिता से उत्तराधिकार में जागीर के साथ-साथ सार्वजनिक कर्त्तव्य भी मिलते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि एक "सार्वजनिक अधिकारी अपने पद पर राजा के एक अभिकर्ता के रूप में नही बल्कि वंशानुगत अधिकार के कारण आसीन था। उनका अधिकार किसी का दिया हुआ नही था, बल्कि वह उसका स्वामी था ; स्पष्ट है कि राजा की शक्ति एक बहुत बड़ी हद तक उसकी इस प्रवृत्ति को सीमित रखने की योग्यता पर निर्भर करती थी।"* ऐसे संघटन की अत्यन्त विध्वंसक प्रवृत्तियां अधिक इसलिये नही फैल सकी

* "Public official held his place not as an agent of the king but because he had a prescriptive right to be there His authority was not delegated but owned ; obviously the king's power depended largely on his ability to limit this tendency." —Sabine, *op cit.*, page 217.

क्योंकि मध्यकालीन राजशाही के सिद्धान्त के अनुसार राजा का एक विशिष्ट स्थान था और उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति भाव रक्खा जाता था। इसके अतिरिक्त सभी लोग यह मानते थे कि वह ईश्वर का प्रतिनिधि है और इसलिये उसकी अवज्ञा करना धर्म विरुद्ध है। निस्सन्देह, कभी-कभी सिद्धान्त और व्यवहार मे अन्तर देखने में आता था; किन्तु यहां हमारा अभिप्राय राजशाही के केवल सिद्धान्त से ही है।

ऊपर कहा जा चुका है कि राजनीतिक विकेन्द्रीकरण राजनीतिक सामन्तवाद की एक मुख्य विशेषता थी। स्वतन्त्र मनुष्यों की रक्षा, उनके परस्पर विवादो का निर्णय करना तथा उनसे एक प्रकार का कर प्राप्त करना वैरनो और उनके अधीनस्थ भूमिधरो का काम था, राजा का नही। अपनी प्रजा के साथ राजा का सम्पर्क प्रत्यक्ष नही, बल्कि इन वैरनो और भूमिधरो के द्वारा होता था। परन्तु यह चित्र का केवल एक पहलू है। प्रोफेसर मैकलवेन का विचार है कि विकेन्द्रीकरण तथा कानूनीकृत निजी युद्ध के इस समस्त युग मे यह पुराना विचार पूर्णरूप से कभी लुप्त नही हुआ कि राज्य उन व्यक्तियो का एक समाज है जो कि कानून तथा सामान्य हित के सूत्र मे बंधे हुए है। इसी विचार के कारण राष्ट्रीय भावना का उदय हो पाया जिसने सामन्त-वादी भावना को नष्ट कर दिया। इंग्लैण्ड के राजा यह आग्रह करते थे कि स्वतन्त्र मनुष्य अपने तुरन्त वाले स्वामियो के साथ सामन्ती बन्धन मे बंधते समय इस बात की व्यवस्था करे कि राजा के उनके ऊपर अपनी प्रजा के रूप मे अधिकार सुरक्षित रहेंगे। सारांश यह कि सामन्तवादी युग मे पुराने राजनीतिक विचार सर्वथा लुप्त नही हुए, बल्कि वे मानव चिंतन को प्रभावित करते रहे। प्रोफेसर सैवाइन की भी यह धारणा है कि राज्य को एक कामनवैल्थ समझने की परम्परा जोकि सिसरो तथा चर्च फादर्स के लेखों में प्रसरित है और जो रोमन कानून का आधार है, सामन्तवादी युग मे पूर्ण रूप से नष्ट नही हुई। यह सामन्तवादी विचार कि राजा का अपने सरदारो के साथ एक संविदात्मक सम्बन्ध है और यह प्राचीन धारणा कि राजा कॉमनवैल्थ का प्रधान है, कभी-कभी सामन्तवादी न्यायविदो के लेखों मे सम्मिश्रित हो जाते थे। इस प्रसग मे महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने की यह है कि यद्यपि राजा राज्य का प्रधान और सार्व-जनिक शक्ति का प्रमुख स्वामी था, किन्तु वह सदैव परिषद् के द्वारा कार्य करता था, दरबार या अन्य किसी अभिकरण को यह अधिकार था कि राजा उससे परामर्श करे। इस सामन्तवादी सिद्धान्त और व्यवहार मे आने वाली सांविधानिक सरकार के तत्त्व वर्तमान है।

सामन्तवाद ने, जिसकी कि इतनी निन्दा की जाती है, एक नाजुक समय मे पश्चिमी यूरोप के लोगों की क्या सेवायें की, उनको अच्छी प्रकार से समझने तथा उनका मूल्यांकन करने में सामन्तवाद के मूल का एक संक्षिप्त विवरण सहायक होगा। सामन्तवाद के तत्त्व ५वी शताब्दी मे वर्तमान थे जबकि अपनी शक्ति का ह्रास होने के कारण रोमन सम्राट वर्बर आक्रान्ताओं तथा हत्यारो को अपने सीमांत प्रान्तों की

जनता को लूटने से न रोक पाये और उसकी समुचित रक्षा न कर सके । ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में प्रायः एक ऐसे शक्तिशाली मनुष्यों के वर्ग का उदय होता है जो न केवल अपनी बल्कि अपनी शरण मे आये हुए और सहायता की याचना करने वाले व्यक्तियों की भी रक्षा करते है । यह नितान्त स्वाभाविक ही है कि कानून की परवाह न करने वाले अत्याचारियों से पीड़ित एक दुर्बल व्यक्ति किसी सबल व्यक्ति की शरण में जाये और वह सबल व्यक्ति उसकी रक्षा करे और उसके प्रतिकार स्वरूप उसकी शक्ति के अनुसार उस से सेवा ले । यदि उस दुर्बल व्यक्ति के पास भूमि होती है तो वह उसे अपने रक्षक के सामने समर्पित कर देता है । वह रक्षक उस भूमि को बोने जोतने के लिये उसे ही लौटा देता है किन्तु वह जब चाहे उससे भूमि ले सकता है । दुर्बल व्यक्ति अपने भूमि के स्वामित्व को खो देता है किन्तु उसके बदले मे उसे सरक्षण और शरण प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार एक बलवान् व्यक्ति के पास बहुत से व्यक्ति हो जाते है जिनसे उसकी बहुत शक्ति बढ़ जाती है और उससे वह अधिक क्षमतापूर्वक अपने स्थान विशेष की रक्षा कर सकता है । इस प्रकार राज्य के अन्दर छोटे-छोटे और अर्द्ध-स्वतन्त्र खण्डो का जन्म होता है और सामन्तवाद का बीजारोपण होता है । ऐसा ही कुछ पश्चिमी यूरोप में हुआ जबकि बर्बर आक्रमण के समय वहां अर्द्ध-राजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और स्थानीय प्रभावशाली व्यक्तियो के पास अपनी-अपनी काफी सेनायें थी जो कि आक्रांताओं को परास्त कर सकती थी । ये स्थानीय सरदार अपने ऊपर निर्भर करने वालो की सरकारी कर्मचारियो के अत्याचारों भी से रक्षा कर सकते थे । राज्य इन सब बातो को गैरकानूनी समझता था किन्तु उन्हें रोकने की सामर्थ्य उसमें न थी । जब फ्रांक लोग गॉल मे आये तो उन्हें वहां ऐसे रिवाज प्रचलित मिले । उनका दमन करने की जगह उन्होने उन्हें अपना लिया और आगे चलकर उन्होंने सामन्तवाद का रूप धारण कर लिया । यह प्रक्रिया कुछ-कुछ निम्नांकित रूप से चली ।

उपरोक्त व्यवहारों का साम्राज्य के अन्तर्गत कोई राजनीतिक अथवा सैनिक स्वरूप न था । सम्राट स्थानीय सरदारों के सैनिक या सार्वजनिक सेवा नहीं मांगता था यद्यपि सरदारगण कभी-कभी अवश्य ही अपने अधीनस्थ व्यक्तियों से किसी संकट का सामना करने के लिए शस्त्र धारण करने के लिए कहते थे । [illegible] राजाओं के शासन काल में उन समस्त लोगों का सैनिक सेवा करने का एक अनिवार्य कर्तव्य माना गया जो राजा के भूमिधरों के रूप में भूमि रखते थे । इस प्रकार जागीर के ऊपर आधिपत्य तथा राजा के प्रति सेवा का कर्तव्य सम्बन्धित हो गये । इस परिवर्तन का अवसर गॉल पर अरब आक्रमण था । फ्रांक लोग पैदल लड़ते थे और उन्हें उन अरबों से टक्कर लेनी कठिन दिखाई दी जो कि घोड़ों पर चढ़कर लड़ते थे । इसलिये अरबो से लड़ने के लिये उन्हें एक अश्व सेना का निर्माण करना पड़ा परन्तु [illegible] नागरिको के लिए एक अश्व सेना को [illegible] करना कठिन था राज्य के पास भी इस व्यय को उठाने के लिये कोई धन नहीं था । इस [illegible]

उसने एक हल निकाला। चर्च के विस्तृत भूखण्डों को ले लिया और उन्हें सामन्तो को इस स्पष्ट शर्त के ऊपर प्रदान कर दिया कि उन्हे एक अश्व सेना रखनी होगी। सामन्त लोगो ने अपनी जागीरों को इसी शर्त के ऊपर अपने सरदारों में विभक्त कर दिया। इस प्रकार सामन्तवाद के राजनीतिक तथा आर्थिक पक्ष एक जगह मिल गये और सैनिक सेवा करना सामन्तवादी सविदा की एक आवश्यक शर्त बन गई। इसी दिशा में शार्लेमिन ने कुछ अन्य कदम उठाये जिनका परिणाम यह हुआ कि 'राज्य की रक्षा करने का नागरिक का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य एक सार्वजनिक कर्तव्य न रह कर एक निजी सविदा का विषय बन गया और यह भूमि अधिकरण की एक साधारण शर्त बन गई।' इसी प्रकार का परिवर्तन न्यायिक क्षेत्र मे भी हुआ। न्याय प्रदान करने का अधिकार राज्य के हाथो से निकल कर उन व्यक्तियो के हाथों में जा पहुचा जिनके पास भूमि थी। जब शार्लेमिन की छत्रछाया जाती रही और साम्राज्य के खण्ड-खण्ड हो गये तो सामन्तवाद ने अपना परिपक्व रूप धारण किया।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सामन्तवाद का उदय एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ। यह आवश्यकता सुरक्षा की आवश्यकता थी। इसलिये यह कहा जा सकता है कि सामन्तवाद उस ग्रस्त-व्यस्त और अनिश्चित परिस्थिति का परिणाम है जोकि अराजकता की सीमा तक जा पहुंची थी। जब राज्य जनता की रक्षा न कर सका तो वह सामन्तो के मुंह की ओर ताकने लगी। फ्रांक लोग स्थानीय सरदारों की सहायता के बिना, जिनका आविर्भाव पहिले ही हो चुका था, फिर से व्यवस्था कायम करने और शांति बनाए रखने में असमर्थ थे। इसलिये उन्होंने अपने से पहिले की सस्थाओं को स्वीकार कर लिया और सामन्तवाद को उत्पन्न करने के लिये उनको अपने विचारो के अनुसार विकसित किया। यह सत्य है कि आगे चलकर सामन्तवाद अत्याचार, विशेषाधिकारी और पीड़क शासन का पर्यायवाची बन गया और विक्षुब्ध जनसमूहो ने उन सामन्ती प्रासादों को धराशायी कर दिया जिन्होने कि उनके पूर्वजों को कभी सुरक्षा प्रदान की थी। यह इस सर्वसिद्ध सत्य का ज्वलन्त उदाहरण है कि समय के बीतने और परिस्थितियों के बदलने पर अच्छी सस्थाओं में भी विकार उत्पन्न हो जाते है और उनमे संशोधन करना और उनको समाप्त करना आवश्यक हो जाता है। जब सरकार इतनी शक्तिशाली हो गई कि राज्य में शान्ति कायम रख सके और उसकी शक्ति सुदूर भागों में अनुभव की जाने लगी तो सामन्तवाद का ह्रास हो गया और उसके स्थान पर राष्ट्रीय राज्य (Nation State) का अभ्युदय हुआ। समुचित रूप से इसे समझ लेने पर हम इस परिणाम पर पहुचते है कि सामन्तवाद एक कबीला-राज्य और राष्ट्र-राज्य के बीच की सक्रामक स्थिति है।

पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire)—पोपशाही और सामन्तवाद के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण सस्थान पवित्र रोमन साम्राज्य था जिसने कि

मध्य युग की राजनीति के स्वरूप को निर्धारित किया। इसके विषय में दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा।

रोम पर बर्बरों की विजय होने पर भी रोमन संस्कृति नष्ट हुई ; सांस्कृतिक रूप से तो रोम ने अपने विजेताओं को ही विजित कर लिया। सार्वभौमिक साम्राज्य और सार्व-भौतिक चर्च का आदर्श प्रारम्भिक ट्यूटनों के राजनीतिक विचार तथा संस्थाओं से कितना भी असंगत क्यों न हो फिर भी जीवित रहा और फ्राक लोगों ने उसे ग्रहण कर लिया। शार्लमेन की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तथापि सम्राट् की उपाधि का आकर्षण लुप्त नहीं हुआ और यह विभिन्न दावेदारों मे संघर्ष का कारण बना रहा। उन जर्मन शासकों ने उसे बनाये रक्खा जो कि शार्लमेन के साम्राज्य के एक भाग पर शासन करते थे और उन्हें शेष भाग को भी फिर से प्राप्त कर लेने की आशा थी। जर्मनी के ओटो प्रथम की, जिसे की उसके कारनामों के कारण ओटो महान् कहते हैं, ऐसी महत्त्वाकांक्षा थी। पोप ने उसे इटली आकर वहाँ फैली हुई अराजकता को समाप्त करने के लिये निमंत्रित किया। इस सेवा के पुरस्कारस्वरूप उसे सम्राट् का मुकुट पेश किया गया। ओटो ने इस पेशकश को स्वीकार कर लिया ; उसने इटली पर चढ़ाई की और ९६२ ई० में पोप से सम्राट् की उपाधि प्राप्त की। यहाँ से द्वितीय साम्राज्य का सूत्रपात होता है। यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के नाम से विख्यात है क्योंकि इसके प्रवर्तक की यह कामना थी कि इसकी व्याख्या में सम्राटों तथा पवित्र चर्च में घनिष्ठ सम्बन्ध रहना चाहिये। ओटो तथा उसके उत्तराधिकारियों को प्रेरित करने वाला विचार यह था कि समस्त पश्चिमी संसार का एक ही राजनीतिक प्रधान होना चाहिये जैसे कि धार्मिक रूप से वह एक ही 'पवित्र चर्च' के अधीन था। परन्तु वस्तु-स्थिति इस धारणा के अनुकूल नहीं थी। ओटो-वंशियों (Ottos) का शासन अधिकार जर्मनी और इटली से आगे नहीं बढने पाया और वहां भी उसे सामन्तवादी प्रवृत्तियों का सामना करनापड़ा। सम्राट् का अधिकारवास्तविक राजसत्ता का रूप नहीं ले सका ; देश की राजकीय शक्ति का पूर्णरूपेण सामन्तवादी चरित्र उसके मार्ग में एक सच्ची रुकावट थी। इसके अतिरिक्त पोप ग्रेगरी सप्तम तथा उसके उत्तराधिकारियों ने जर्मनी तथा इटली को एकीकृत करने के साम्राज्य के प्रयत्नों का सदैव विरोध किया क्योंकि वे सम्राट् को अपने स्वामी के रूप मे देखने को तैयार न थे। इटली वाले जर्मनो से घृणा करते थे और उनके शासन के विरुद्ध विद्रोह करते थे। ओटो तृतीय के मरने के बाद साम्राज्य को आल्प्स (Alps) के परे इटली तक प्रसारित करने के विचार का परित्याग कर दिया गया और जर्मन राजाओं ने अपने ही देश में राजशक्ति को सुदृढ़ बनाने का कार्य हाथ मे लिया क्योंकि स्वयं जर्मनी मे ही बहुत सी रियासतों के उदय ने, जिसमे से प्रत्येक जर्मन राजा से स्वाधीन होने का दावा करती थी, राज्य के अधिकार को बुरी तरह से हिला दिया था। यह पवित्र रोमन साम्राज्य नाममात्र के लिए तब तक चलता रहा जब तक कि

नैपोलियन ने इसका अन्तिम संस्कार न कर दिया। राजनीतिक विचार के इतिहास में इसके महत्व का मुख्य कारण यह है कि लौकिक क्षेत्र में सार्वभौमिकता को फिर से स्थापित करने तथा एक ही समाज (जिसकी सत्ता की कल्पना की जाती थी) के धार्मिक तथा राजनीतिक शासन में शान्ति तथा तालमेल स्थापित करने का यह एक प्रयास था। परन्तु दोनों में एक सजीव साहचर्य की जगह वहां था संघर्ष। मध्यम युग का उत्तरार्द्ध इसी संघर्ष से भरा पड़ा है; इसी संघर्ष को लेकर एक वृहद् साहित्य की रचना हुई। इस विवाद का विवरण हम अगले अध्याय में देंगे।

१२ मध्यकालीन राजनीतिक विचार चर्च तथा राज्य के मध्य विवाद

परिचयात्मक—राजनीतिक चिन्तन के दृष्टिकोण से समस्त मध्यकाल को तीन अलग-अलग युगों मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम युग बर्बरों द्वारा रोमन साम्राज्य की विजय से लेकर ११वी शताब्दी तक माना जा सकता है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है इस युग मे कोई विशेष बौद्धिक कार्य-कलाप नही हुआ; इसमे स्वतन्त्र चितन का कोई प्रयत्न ही नही किया गया। द्वितीय युग ग्रेगरी के आन्दोलन से लेकर पोप बोनीफेस अष्टम के काल तक, अर्थात् ११वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १३वी शताब्दी के अन्त तक माना जा सकता है। बार्कर इस युग को 'सिंहासनारूढ़ पोपशाही तथा विजेता चर्च' का युग कहता है। इस युग में दर्शनशास्त्र, कानून तथा राजनीतिक दर्शन के क्षेत्रो में बौद्धिक कार्य कलाप का महान् पुनरुत्थान हुआ। सन्त टॉमस ऐक्वीनास इसी युग के है। यद्यपि इस काल में जिस राजनीतिक साहित्य की स्थापना हुई उसका आकार उस सबसे बड़ा है जो कि [illegible] के पश्चात् ग्रेगरी सप्तम के पोप के रूप में पदासीन होने तक लिखा गया, किन्तु राजनीतिक दर्शन को एक स्वतन्त्र विधा का पद प्राप्त नही हुआ; [illegible] (Theology) तथा दर्शनशास्त्र आच्छादित रहे। राजनीतिक [illegible] साम्राज्य के बीच होने वाले विवाद का एक परिणाम [illegible] छाया हुआ था। हाँ तृतीय युग में राजनीति दर्शन के [illegible] गये; यह युग १४वी शताब्दी से लेकर [illegible] मार्सीलियो ऑफ पेडुआ (Marsiglio of Padua) [illegible] रजत तथा विद्रोहपूर्ण (Silver and turbulent) [illegible] कि पोपशाही को राजाओं, सम्प्रदायों [illegible] कृषक ग्रामो मे और शिल्पकार [illegible] नवीन, साधारण, जनप्रधान [illegible]।*

* "..... in which Papacy [illegible] in which villiens revolt [illegible] which theory becomes [illegible]."
—Barker in Hearnshaw: [illegible] page 12.

पोपशाही तथा साम्राज्य के ऐतिहासिक विवाद का वर्णन करने से पहिले सार्वभौमिकवाद जो कि मध्यकालीन विचार की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, के सम्बन्ध में विषय प्रवेश के रूप में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

सार्वभौमिकवाद (Universalism)—समाज अथवा राज्य की सावयवी धारणा जिसके अनुसार राज्य तथा एक सावयव (Organism) में एक गहरा साम्य है, सविधानवाद जो कि शासक के अधिकार को सीमित करता है, शासन के अन्य रूपों की अपेक्षा राजतन्त्र की श्रेष्ठता में एक सामान्य विश्वास, और एक अच्छे राजा के कर्त्तव्यों पर बल कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण विचार है जो कि मध्य काल में विकसित हुए। उसमे नैसर्गिक कानून (Law of Nature) में भी व्यापक विश्वास था जिसने कि कानून-विषयक मध्यकालीन धारणाओं को बहुत अधिक प्रभावित किया और ऐसे माप-दण्ड प्रतिष्ठित किये जिनके अनुसार आचरण करने की शासकों से आशा की जाती थी । कई प्रतिनिधि संस्थाओं का जन्म हुआ जिनके फलस्वरूप प्रतिनिधित्व की धारणा की बहुत चर्चा हुई, विशेष रूप से कन्सीलियर युग मे । इन धारणाओं के विषय में हम कुछ इस पुस्तक के प्रस्तुत भाग मे कहेंगे । यहां हम पोपशाही तथा साम्राज्य के बीच विवाद का विवरण देंगे और सार्वभौमिकवाद के विचार के विषय में कुछ कहेंगे जो कि मध्यकालीन विचार की एक महत्वपूर्ण विशेषता है ।

मध्यकालीन विचार की महत्वपूर्ण विशेषता— मध्यकालीन विचार की महत्त्वपूर्ण विशेषता का वर्णन प्रोफेसर बार्कर के निम्नलिखित शब्दों में किया जा सकता है : 'समस्त मध्यकालीन विचार की तान है उसकी सार्वभौमिकता । यह एक ही सार्वभौमिक समाज को मानकर चलता है, जो अपने लौकिक पक्ष में प्राचीन रोमन साम्राज्य की विरासत और उनकी नित्यावृत्ति है ; और अपने धार्मिक पक्ष मे एक द्रष्टव्य चर्च मे ईसा का साकार रूप है ।'*

रोम ने एक सार्वभौमिक साम्राज्य की स्थापना की थी ; जिसके अंक मे उस समय ज्ञात समस्त सभ्य संसार लिपटा हुआ था । रोमनों का विश्वास था कि उनका साम्राज्य ईश्वर इच्छा की सृष्टि है और उसके भाग्य में शाश्वत तथा सार्वभौमिक होना लिखा है । जब ईसाई धर्म साम्राज्य का एकमात्र राजकीय धर्म बन गया तो ईसाइयों ने भी इस विश्वास को स्वीकार कर लिया । सन्त ऑगस्टाइन यह प्रचार करते थे कि परमात्मा ने मूर्तिपूजकों को सार्वभौमिक रोमन साम्राज्य की स्थापना इसलिए कर लेने दी क्योंकि एक सार्वभौमिक चर्च की सृष्टि की ओर यह एक कदम था । साम्राज्य के अन्तर्गत और साम्राज्य के द्वारा ही ईसाई चर्च एक सार्वभौमिक संघटन बना ।

---

* "The note of all
existence of a single so
continuation of the ancient [illegible]
incarnation of Christ in a visible Church."

—Barker in Hearnshaw, *Ibid*, page 12.

हमें यह याद रखना चाहिये कि साम्राज्य तथा चर्च विभिन्न सदस्यता रखने वाले दो अलग-अलग समाज नही थे ; वे एक ही और अविभाज्य समाज के दो विभिन्न रूप मात्र थे। "यह एक ही रैस्पब्लीका क्रिश्चियाना था जिसमें चर्च का सदस्य होना और नागरिक होना एक ही बात थी।"* इस समाज के दो प्रधान थे : पोप तथा सम्राट। सम्राट इसके लौकिक विषयों का संरक्षक था और पोप आध्यात्मिक विषयों का। प्रत्येक शासन का अपना कार्य-क्षेत्र था, अपना कर्मचारियों का सघटन था ; और अपना अधिकार सिद्धान्त था। लौकिक विषयों मे नागरिक सम्राट के अधीन था और आध्यात्मिक विषयों में उसके ऊपर चर्च का नियन्त्रण एवं अनुशासन था। प्रत्येक शासन अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र था और प्रत्येक को दूसरे के अधिकारो का सम्मान करना था जो कि ईश्वर ने उसे दिए थे। साम्राज्य के आध्यात्मिक विषयो मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही था और चर्च के लिए लौकिक-विषयों में टांग अड़ाना उचित नही था। परन्तु प्रत्येक का कार्य एक दूसरे की सहायता करना था ; अधर्म का दमन करना साम्राज्य का कर्तव्य था और राजभक्ति का उपदेश करना चर्च का धर्म था। सारांश यह कि दोनों शक्तियो को परस्पर सहयोग करना था। दोनों के इस परस्पर सम्बन्ध को आमतौर से 'दो तलवारो का सिद्धान्त' कह कर पुकारा जाता है जिसकी विवेचना हम पहिले ही कर चुके है। इसके विषय में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नही। परन्तु इस सार्वभौमिकवाद को बर्बर आक्रमणों ने खडित कर कर दिया। सार्वभौमिक साम्राज्य का स्थान बहुत से स्वतन्त्र राज्यो ने ले लिया जो कि पश्चिमी यूरोप के विभिन्न भागों में उत्पन्न हो गए थे। जिन बर्बरो ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था उन्होंने बहुत से अलग-अलग स्थानीय चर्च स्थापित कर लिये, और इस प्रकार चर्च की एकता भी भंग हो गई। अपना साम्राज्य स्थापित करके शार्लमेन ने राजनीतिक क्षेत्र मे सार्वभौमिकवाद पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। ओटो प्रथम ने पवित्र रोमन साम्राज्य को स्थापित करके इस काम को जारी रक्खा। इन दो साम्राज्यो की सृष्टि में एक सार्वभौमिक समाज मे विश्व-व्यापक विचार का हाथ था। आध्यात्मिक जगत में सार्वभौमिकवाद को पुनर्प्रतिष्ठित हिल्डेब्रैण्ड ने किया जिसने प्रादेशिक चर्चों की जगह, जो कि गत शताब्दियों में कायम हो गये थे, पोप से एक सार्वभौमिक चर्च की स्थापना की। परन्तु यद्यपि दोनों क्षेत्रो मे सार्वभौमिकवाद को पुनर्प्रतिष्ठित कर दिया गया, तथापि दोनो मे समानान्तरवाद का सम्बन्ध स्थापित न किया जा सका। दो सामानान्तर शक्तियो का होना उस युग की राजनीतिक परिस्थिति के अनुकूल नही था, उसके लिए एक अन्तिम शक्ति की आवश्यकता थी ; पोप तथा सम्राट् दोनो ही ऐसी शक्ति का दावा करते थे ; परन्तु उनमे से कोई भी उसे प्राप्त नही कर सका। "हिल्डेब्रैण्ड तथा उसके सहविचारक ऐसे सम्राट् को बिल्कुल पसन्द नही करते जिसके पोप के समान अधिकार हों ; वह पोपशाही को उस प्रणाली

* It was a single Respublica Christiana in which churchmanship was co-extensive with citizenship.

से अच्छा समझते थे जिनके अनुसार चर्च मे द्वैध शासन हो। दूसरी ओर सम्राट् भी बहुत महत्वाकांक्षी थे और वे सर्वोच्च शक्तियो का दावा करते थे। इस प्रकार दोनों मे विवाद उठ खडा हुआ। आठवी शताब्दी मे राजनीति ने चर्च तथा साम्राज्य में घनिष्ठ मित्रता स्थापित की थी; और ग्यारहवी शताब्दी मे राजनीति ने ही उन्हे एक दूसरे से अलग कर दिया।

एक दूसरे अर्थ मे भी मध्यकालीन विचार की तान सार्वभौमिकवाद थी। मध्य युग का एक और सार्वभौमिक समाज एक ही जीवन सिद्धान्त का पालन करता था जिसकी रचना अन्तिम रूप से एक ही शक्ति करती थी। इस सिद्धान्त का स्वरूप आध्यात्मिक था; यह प्रभु इच्छा की अभिव्यंजना थी। जीवन का लक्ष्य आत्मा का भौतिक बन्धन से मुक्त होना था। समस्त लौकिक कार्य-व्यापार जीवन के इसी केन्द्रीय और प्रधान उद्देश्य के अधीन होना चाहिये। इस दैविक सिद्धान्त की व्याख्या करने वाली अन्तिम शक्ति चर्च था; 'उसने समस्त जीवन को, उसके समस्त रूप, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तथा बौद्धिक, मे एक ईसाई सिद्धात की अधीनता मे नियन्त्रित करने का' वीरतापूर्ण प्रयास किया। राजा के कुकृत्यों की भर्त्सना करके और उनसे सद्व्यवहार का आग्रह करके उसने राजनीतिक क्षेत्र में राजाओ के ऊपर नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया; विवाह तथा प्रायश्चित्त सम्बन्धी कानूनों द्वारा वह सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करना चाहता था; आर्थिक क्षेत्र मे वह उचित मूल्य का और ब्याज के निषेध का आग्रह करता था और लोगों को अपनी सम्पत्ति को एक धरोहर (trust) समझने की प्रेरणा देता था। चर्च की शिक्षाओं के प्रतिकूल समस्त शिक्षाओं को अधर्म कहकर और उनको निषिद्ध घोषित करके तथा विधर्मियो का दमन करके उसके बौद्धिक जीवन को भी शिकंजे में जकड़ने का प्रयत्न किया। समस्त जीवन को एक ही सिद्धान्त के अनुसार एक ही नमूने मे ढालने के इस विलक्षण प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक, अर्थनीति तथा आचारनीति सब धर्म-शास्त्र के अधीन हो गये।

चर्च तथा राज्य में संघर्ष का युग—इस सिद्धान्त को कि मानव जाति एक ही सार्वभौमिक समाज है जिसके दो प्रधान है, आध्यात्मिक विषयों के लिये पोप और लौकिक विषयों के लिये सम्राट, केवल मध्य युग मे नही बल्कि उसके प्रारम्भ से पहिले भी सभी लोग मानते थे। यह इसाई रोम से प्राप्त हुई विरासत थी। यह माना जाता था कि इनमे प्रत्येक न्यायपूर्वक तथा प्राकृतिक और दैविक कानून के अनुसार और मानवता के कल्याण के लिये कार्य करता है तथा मनमाने ढग से अपनी शक्तियों का प्रयोग नही करता। इसलिए सैद्धान्तिक रूप से इन दोनों मे कोई संघर्ष नही हो सकता था यद्यपि उनके अपने-अपने क्षेत्र की निश्चित सीमायें निर्धारित नही थीं। उनमे परस्पर सहयोग की भावना होनी चाहिये थी। और पहिली कुछ शताब्दियों में सचमुच उनमे कोई संघर्ष नहीं हुआ। कान्स्टेण्टाइन तथा उसके उत्तराधिकार धर्म को राज्य का एक विभाग मानते थे और बिशपगण को राज्य-कर्मचारी

समझते थे जिनको सम्राट् नियुक्त एवं पदच्युत कर सकता था। पोपशाही की स्थापना से पहिले सम्राट चर्च तथा राज्य दोनो का प्रधान था ; धार्मिक विषयो में भी उनकी इच्छा वैसी ही सर्वोपरि थी जैसी कि सासारिक विषयों में। शार्लीमेन, औटो महान् तथा हैनरी तृतीय सरीखे शक्तिशाली सम्राटों ने इस परम्परा को मध्ययुग में कायम रक्खा। शार्लीमेन पादरियों तथा जन-साधारण को समान रूप से अपनी प्रजा समझता था और चर्च के शासन का पूर्ण उत्तरदायित्व उसने अपने हाथों में ले रखा था। दसवी शताब्दी में जबकि पोपों का व्यक्तिगत चरित्र बहुत नीचे गिर गया और पोप-शाही बदनाम हो गई तो सम्राटो ने सुधार के लिये कुछ कदम उठाये और पोपों को उनके पद से उतारा। ग्यारहवी शताब्दी तक पोपशाही के ऊपर सम्राटों का नियन्त्रण स्पष्ट और वास्तविक था। किन्तु इस व्यवहार के कुछ अपवाद भी थे। सन्त एम्ब्रोज सरीखे शक्तिशाली बिशप यदि सम्राट की आज्ञाओं को न्यायपूर्ण समझते थे तो उनका पालन करने से इन्कार कर देते थे, वे सम्राटो की ताड़ना करने तथा नैतिक अपराधों के लिये उनको आध्यात्मिक दण्ड देने से भी नही हिचकिचाते थे। सन्त एम्ब्रोज ने एक बार एक धार्मिक उत्सव को सम्पन्न करने मे इन्कार कर दिया जब तक कि सम्राट थ्योडोसियस, जिसने कि अपनी प्रजा के साथ विश्वासघात किया था, वहा से न हट गया। आगे चलकर लारेन के राजा लोथेयर (Lothaire of Lorrame) को अपनी परित्यक्ता पत्नी को फिर से ग्रहण करने तक अपनी नवीन प्रेयसी (Mistress) का परित्याग करने के लिए विवश कर दिया यद्यपि राजा को शक्तिशाली पादरियों तथा अपने भाई सम्राट लुई की सहायता प्राप्त थी। शक्तिशाली पोप राजाओं और सम्राटो की भर्त्सना, उनका जाति-बहिष्कार एवं उन्हें पदच्युत कर सकते थे तथा राज्य के छोटे-छोटे मामलों तक को विनियमित कर सकते थे और इतना सब कुछ होते हुये भी दूसरी ओर से कोई विरोध न होता था। परन्तु साधारणतया इस युग में सम्राट के ऊपर पोप के नियन्त्रण की अपेक्षा सम्राट का पोप के ऊपर नियन्त्रण अधिक वास्तविक था। वास्तव मे दोनों के सम्बन्ध ऐसे थे कि यदि एक पक्ष अपनी बात पर अड जाता था तो दूसरा पक्ष उसके सामने झुक जाता था, उनमे संघर्ष होने की नौबत नही आती थी।

परन्तु यदि दैवयोग से कभी एक शक्तिशाली सम्राट तथा एक शक्तिशाली पोप एक ही समय शासनारूढ़ होते और 'चर्च का यह सिद्धान्त कि आध्यात्मिक शक्ति मूलत: लौकिक शक्ति से श्रेष्ठतर है साम्राज्य के इस सिद्धान्त से टकराता था कि राजा सर्वशक्तिमान है' तो संकट उत्पन्न होना निश्चित ही था। ऐसा अवसर प्रथम बार तब आया जबकि पोप ग्रेगरी सप्तम तथा सम्राट हैनरी चतुर्थ के बीच राज्य द्वारा बिशपगण को पद प्रदान करने (Lay Investiture) के ऊपर संघर्ष खड़ा हुआ। वह संघर्ष अकस्मात् ही खड़ा नही हो गया बल्कि इससे बहुत पहिले से ही पादरियो मे स्व-तंत्रता की भावना का उदय हो रहा था और वे उन दोषों को दूर करना चाहते थे जो कि चर्च के सामन्तवादी प्रणाली की जटिलताओं में फसने के कारण उसमे आ गये थे।

इन बातों ने सम्राट् तथा पोप के संघर्ष के लिये भूमि पहिले ही तैयार कर दी थी। चर्च के पास एक बहुत बडी भू-सम्पत्ति थी जिसे चार्ल्स मार्टल ने अपने युद्धों के लिये धन प्राप्त करने के लिये लिया था और उसको अपने अफसरों में विभाजित कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि पादरीगण लौकिक स्वामियों के सेवक बन गये और उनके कुछ लौकिक कर्त्तव्य हो गये। बहुत से मामलो में उनके तथा सामन्ती सरदारो के हित एक हो गये। उच्चतर पादरीगण लौकिक राजनीति में फस गये और उन्हे एक महान् शक्ति और प्रभाव प्राप्त हो गया। इसलिये उनकी नियुक्ति सम्राट् के लिये एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया। प्रारम्भ से ही स्थापित एक परम्परा के अनुसार चर्च के बिशपगण का चुनाव मण्डलो (Diocese) के पादरियों द्वारा और ऐबटगण का चुनाव मठो के सदस्यो द्वारा होता था। इसलिये चर्च के अधिकारीगण यह दावा करते थे कि एक जागीरदार पादरी के मरने पर उसके उत्तराधिकारी का चुनाव पादरियो द्वारा ही होना चाहिये। इसके विपरीत राजकीय अधिकारियो का तर्क यह था कि क्योंकि जागीरदार हमारा एक सेवक है, इसलिए बिना सामन्त सरदार की स्वीकृति के वह जागीर का मालिक नही बन सकता। वे बिशपगण को नियुक्त करने का दावा इस आधार पर करते थे कि उनके पद का धार्मिक स्वरूप उसके सामन्ती अथवा लौकिक स्वरूप से कम महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त धन द्वारा धार्मिक पद को खरीदने अथवा राजनीतिक सेवाओं के बदले मे उसे प्रदान करने की प्रथा भी चल पडी थी। अपने कर्त्तव्यो का समुचित रूप से पालन करने के लिए और राज्य का वास्तविक रूप से निर्देशन करने के लिये चर्च को इन दोषो को दूर करना तथा राजकीय अधिकारियों से स्वतन्त्र होना आवश्यक था।

धार्मिक पदो के क्रय-विक्रय को रोकने तथा पादरियों की नियुक्ति मे अपने लिए प्रधान अधिकार अपनाने के लिए (जो कि राज्य के अधिकारियो के हाथ मे आ गया था) पोप ग्रेगरी सप्तम ने एक प्रत्यादेश जारी किया जिसके द्वारा बिशपगण का राज्यधिकारियों के हाथो से पद ग्रहण करना निषिद्ध ठहरा दिया गया। इसका उल्लंघन करने वाले दोनो पक्षों को धर्म-बहिष्कार का दण्ड दिया जा सकता था। पोप के दृष्टिकोण से ऐसा कदम उठाना नितान्त आवश्यक था। चर्च द्वारा अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि उसके कर्मचारी पूर्ण रूप से उसके नियन्त्रण मे रहें और उनकी नियुक्ति अथवा पद ग्रहण करने से राज्य का कोई सम्बन्ध न हो। परन्तु सम्राट् के अधिकार को यह एक गम्भीर चुनौती थी; क्योंकि यह बिशप मण्डलों के ऊपर उसके उस परम्परागत अधिकार का अपहरण करता था जो कि उसके लिए भी उतना ही आवश्यक था। बिशपगण उसके सामन्त सरदार थे; उसके प्रति उनके कुछ कर्त्तव्य थे और लौकिक विषयों में वे महत्त्वपूर्ण भाग लेते थे। जहाँ तक कि उनके इस स्वरूप और कार्य का सम्बन्ध था, उसके लिए यह एक जीवन और मृत्यु का प्रश्न था कि उनकी नियुक्ति का अधिकार स्वय उसके हाथ में रहे या अन्य किसी बाह्य शक्ति के हाथ मे जिसके ऊपर उसका कोई नियन्त्रण न हो।

इसलिये हैनरी चतुर्थ ने इस प्रत्यादेश को मानने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार पोप तथा सम्राट् में संघर्ष खड़ा हो गया। सम्राट् ने अपने अधीनस्थ जर्मन पादरियों की एक सभा बुलाई और सम्राट् की इच्छानुकूल उसने पोप को पदच्युत करने का निर्णय किया क्योंकि उसके विचार में पोप ने अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमाओं का उल्लंघन किया था। इसके उत्तर में ग्रेगरी ने हैनरी का धर्म-बहिष्कार कर दिया और उसके सामन्त सरदारों को राजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों से विमुक्त कर दिया। उसने एक प्रतिद्वन्द्वी राजा को हैनरी के सिंहासन पर दावा करने के लिये भी उकसाया। इसका वांछित प्रभाव पड़ा। सिंहासन छिन जाने के भय से वह दौड़ा हुआ कैनौसा गया जहाँ कि पोप ठहरा हुआ था और उससे सन्धि करनी चाही। पोप ने उसका घोर अपमान किया। उसने हैनरी से मिलने से पूर्व उसे तीन दिन तक कड़ाके के बरफ में अपने दरवाजे पर प्रतीक्षा करने और माथा रगड़ने के लिए विवश किया। कुछ समय बाद हैनरी की बारी आई। जब उसका सिक्का फिर से जम गया तो उसने रोम को विजय कर लिया और पोप को देश निकाला दे दिया। इस प्रकार उसने पोप से बदला चुकाया। किन्तु राज्य द्वारा बिशपों के पद ग्रहण करने के प्रश्न का कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया। इसी बीच में उस विवाद को खड़ा करने वाले दोनों पक्षों का अर्थात् पोप ग्रेगरी तथा सम्राट् हैनरी का देहावसान हो गया। उनके उत्तराधिकारियों, पोप पैस्कल द्वितीय तथा हैनरी पंचम में ११२२ ई० वर्म्स (Worms) में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि किसी पद के खाली होने पर चर्च उसके लिये किसी व्यक्ति को चुनेगा और उसे आध्यात्मिक पद के चिह्न अंगूठी तथा दण्ड प्रदान करेगा, और सम्राट उसे राजनीतिक और सामन्त पद के प्रतीक 'रीगेलिया' (Regalia) से विभूषित करेगा। सैवाइन का कहना है कि बिशपगण के चुनाव में भी सम्राट को कुछ अधिकार दिया गया।

ग्रेगरी का हैनरी के सामन्तों को राजभक्ति से विमुक्त करने का अर्थ व्यवहारिक रूप में सम्राट को पदच्युत करना ही था। यह एक ऐसा कदम था जो अब तक कभी नहीं उठाया गया; इससे हैनरी के समर्थकों को धक्का लगा और ऐसा होना स्वाभाविक ही था। इसने एक नया और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न कर दिया। क्या चर्च के अधिकारियों को साम्राज्य की स्वाधीनता पर आक्रमण करने तथा अपनी स्वाधीनता को कायम रखने के लिये उसके शासक को पदच्युत करने का अधिकार था? पादरियों को पदासीन करने के ऊपर विवाद ने चर्च तथा साम्राज्य के सम्बन्ध का एक आधारभूत प्रश्न उत्पन्न कर दिया। इनके सार्वभौमिक शक्तियों के अधिकार-क्षेत्र की समस्या का बड़ी तत्परता और उत्सुकता के साथ विश्लेषण और परीक्षण किया जाने लगा जिसके फलस्वरूप एकाएक एक बृहदाकार साहित्य की रचना हुई।

ग्रेगरी का आरम्भ बिन्दु गेलेशियस का वह विख्यात सिद्धान्त था जिसके अनुसार दोनों शक्तियां, चर्च तथा राज्य, एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं, इसलिये साम्राज्य के ऊपर वह किसी अधिकार का दावा नहीं करता था। "उसकी मौलिकता इस बात में

थी कि उसने पूर्वपरिचित और सर्वस्वीकृत सिद्धान्तो मे से उग्रतम व्यावहारिक परिणाम निकाले। उसमे अपनी शक्ति की चेतना थी और एक आध्यात्मिक सघटन का प्रधान तथा ईसा द्वारा पीटर को समस्त आध्यात्मिक शक्ति का उत्तराधिकारी होने के नाते समस्त मानव आत्माओ के सरक्षण तथा कल्याण के लिए अपने आपको उत्तरदायी समझता था। हैनरी को पदच्युत करने का उसका स्पष्ट आधार वह आध्यात्मिक शक्ति थी जिसके द्वारा वह मनुष्य को बन्धनग्रस्त एव बन्धनमुक्त कर सकता था; अन्तःकरण के न्यायालय मे न्यायाधीश के रूप मे एक कानून विरुद्ध शपथ की बाध्यता से वह मुक्ति प्रदान कर सकता था।"*

साराश यह कि अपने पूर्ववर्ती सन्त एम्ब्रोज की भाति ग्रेगरी की भी यह धारणा थी कि एक ईसाई होने के नाते सम्राट नैतिक तथा आध्यात्मिक विषयो मे पोप के नियत्रण तथा अनुशासन के अधीन था। और इसलिये पोप किसी पर्याप्त कारण के लिए उसे पदच्युत कर सकता था। ईसाई यूरोप के विषयों का निर्देशन करने मे पादरीगण क्या भाग ले सकते थे और उन्हें लेना चाहिये था उसका सुन्दर वर्णन ग्रेगरी के अपने ही इन निम्नांकित शब्दो मे, जो कि उसने १०८० मे रोम मे परिषद के सामने कहे थे, इस प्रकार है "होली फादर्स (Holi Fathers) तथा सामन्तवर्ग, मेरा आप से निवेदन है कि आप इस प्रकार आचरण कीजिये कि समस्त ससार को यह विदित हो जाये कि यदि स्वर्ग मे बाधने तथा मुक्त करने की आप मे शक्ति है तो इस पृथ्वी पर भी साम्राज्य, राज्य, रियासते तथा समस्त मनुष्य की समस्त प्रकार की सम्पदा उन्हे गुणानुसार प्रदान करने तथा उनसे वापिस लेने का आप में सामर्थ्य है। ..... ससार के समस्त राजाओ को जानना चाहिये कि आप कितने महान् है और आप मे कितनी शक्ति है; आपके चर्च की अवज्ञा करने से इन क्षुद्र मनुष्यो को डरना चाहिये।"†

---

* "His originality consisted in the extreme practical conclusions that he drew from premises already familiar and generally unquestioned. He began with a consciousness of his own power and responsibility as head of the spiritual order and as heir of all the spiritual authority entrusted by Christ to Peter for the welfare of the human souls of which he was the shephered. He based his deposition of Henry specially on the spiritual power to bind and lose; as judge in the court of conscience the pope could absolve men from the binding affect of a bad oath."—Ewart Lewis : *Medieval Political Ideas*, page 510.

† "So act, I beg you, holy fathers and princes that all the world may know that, if you have the power to bind and loose in heaven, you have power on earth to take away or to grant empires, kingdoms, principalities, dukedoms, marches, counties and the possessions of all men according to their merits.. .. Let kings and all the princes of the world learn how great you are and what power you have and let these small men fear to disobey the command of your Church." —Quoted by Sabine from Carlyle.

साम्राज्यवादी यह तो मानते थे कि पाप तथा आचरण विषयक प्रश्न चर्च के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत है ; किन्तु वे इस बात से इन्कार करते थे कि चर्च को एक शासक को धर्म-बहिष्कृत तथा पदच्युत करने का भी अधिकार है। ग्रेगरी का ध्येय कितना भी आध्यात्मिक क्यों न रहा हो किन्तु उसका हैनरी को धर्म-बहिष्कृत करना तथा उसकी प्रजा को राजभक्ति के कर्तव्य से विमुक्त करना विशुद्ध लौकिक विषयो मे उसका हस्तक्षेप था। यह गेलेशियस के 'दो तलवारों' के सिद्धान्त की अवहेलना थी। स्वयं हैनरी ने ग्रेगरी को यह लिखा था कि पवित्र फ़ादर्स की परम्परा के अनुसार और ईश्वर द्वारा राजपद प्राप्त करने के नाते वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी था और धर्म-विमुख होने के अतिरिक्त अन्य किसी अपराध के लिए उसे पदच्युत नही किया जा सकता। ग्रेगरी ने आध्यात्मिक शक्ति की सीमाओं का उल्लघन चाहे किया हो, चाहे न किया हो और राज्य की स्वाधीनता में उसने अनुचित हस्तक्षेप चाहे किया हो या न किया हो, किन्तु उसने हैनरी को हार मानने के लिए अवश्य विवश कर दिया। अपने साहस और दृढ़ता से उसने चर्च को साम्राज्य के नियत्रण से मुक्त कर दिया। उस विवाद के फलस्वरूप चर्च पूर्ण रूप से एक समान और प्रभुत्वपूर्ण शक्ति के रूप मे खड़ा हो गया। इस विवाद का दूसरा परिणाम यह हुआ कि पोप की शक्तियों के विषय मे हैनरी सप्तम की धारा अधिक प्रचलित हो गई। जो स्थिति उसने अपनाई थी उसमे यह बात सन्निहित थी कि वह समस्त चर्च सघटन का सर्वप्रभुत्वपूर्ण प्रधान है। उसके पास एक अद्वितीय पद था और एक अद्वितीय उपाधि थी। चर्च का सर्वोच्च अधिकार होने के नाते बिशपगण को नियुक्त और पदच्युत करने, चर्च की साधारण परिषद को समवेत करने तथा उसके प्रत्यादेशो को क्रियान्वित करने का केवल उसे ही अधिकार था। उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी परिषद अधिकारपूर्ण कोई बात नहीं कह सकती थी और कोई भी पुस्तक अधिकृत नही समझी जाती थी। एक बार जो मामला उसके न्यायालय मे आ जाता था उसका निर्णय कोई भी दूसरी शक्ति नही कर सकती थी। वह चर्च के लिए कानून बना सकता था। उसके जारी किये हुये प्रत्यादेशो को कोई भी रद नही कर सकता था ; उनके कामो की कोई भी आलोचना नहीं कर सकता था ; किन्तु ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते वह समस्त लौकिक शक्तियो के प्रत्यादेशों को रद कर सकता था। याद रहे कि उपरोक्त बातों का अर्थ पोप के कानूनी अधिकारो कर कोई नियमबद्ध सिद्धान्त नही है बल्कि यह उसके चर्च के प्रधान होने के एक परिणाम की साधारण अभिव्यजना है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि पोप जिन शक्तियों का दावा करता था उनमे से बहुत सी तो 'मिथ्या प्रत्यादेशो' (False Decretals) मे पाई जाती थी जिन्हें ११वी शताब्दी मे सच्चा समझा जाता था। ये प्रत्यादेश वे अभिलेख्य है जिन्हे ९वी शताब्दी मे राज्य द्वारा बिशपगण को पदच्युत होने तथा उनकी सम्पत्ति को जब्त होने से बचाने के लिए घड़ा गया था। ऐसा तभी हो सकता था जबकि पोप को राज्याधिकारियों के ऊपर भारी शक्तियाँ प्राप्त हो।

११२२ मे जो समझौता पैस्कल द्वितीय तथा हैनरी पंचम मे हुआ, जिसका उल्लेख पहिले भी हो चुका है, उससे यह मौलिक समस्या हल नहीं हो पाई कि साम्राज्य तथा पोपशाही मे क्या सम्बन्ध है। जिन अधिकारों का उल्लेख उस समझौते मे नहीं था उन पर प्रत्येक पक्ष अपना दावा जताने लगा। चर्च अधिकारियो ने धार्मिक प्रभुता पर ही सतोप न करके लौकिक शक्ति प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया और ऐसे दावे करने शुरू किये जो निश्चित रूप से राजनीतिक थे और इसलिये सम्राट के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत थे। इसलिये पोपशाही तथा जर्मनी के सम्राट फ्रेडरिक बारबरोसा (Ferderick arbarossa) तथा उसके उत्तराधिकारियों के बीच एक सघर्ष खड़ा हुआ। जर्मन सम्राट पोप की शक्ति के विस्तार को न रोक सके जो कि सारी १२वी शताब्दी मे बढती रही और इन्नोसेन्ट तृतीय के काल मे चरम सीमा को पहुँची जिसने कि यूरोप के सबसे शक्तिशाली शासको को अपनी आज्ञा मानने के लिए बाध्य कर दिया। निर्वाचन तथा राज्याभिपेक के मामलो मे वह रोमन साम्राज्य मे अपरिमित शक्तियो का प्रयोग करता था, वह लोगो के सम्राट होने के दावे को उतनी ही सरलतापूर्वक रद्द कर देता था जैसे कि हैनरी तृतीय ने ग्रेगरी पोप को उपाधि पद से हटा दिया था। उसने कई राजकुमारो को राजा की उपाधि से विभूषित किया। उसने अपने उपदेश मे यह घोषणा की कि आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के विषयों मे चर्च ने उसे अपरिमित शक्तियाँ प्रदान की है। वह १२१६ ई० में मर गया। फ्रेडरिक द्वितीय का शासन उस समय आरम्भ ही हुआ था जो इस बात का दावा करता था कि (१) साम्राज्य के प्रशासन मे वह पोप से स्वतत्र है, (२) ईश्वर ने उसे प्रत्यक्ष रूप से शक्ति प्रदान की है, पोप के माध्यम द्वारा नहीं। धार्मिक विषयो मे वह पोप के अधिकार को स्वीकार करता था, किन्तु लौकिक विषयों मे उससे इंकार करता था। इन्नोसेन्ट चतुर्थ ने इसका यह उत्तर दिया कि दैविक आदेश द्वारा लौकिक विषयों के ऊपर भी पोप का अधिकार है, जो राजाओ को अपनी शक्ति सौंप सकता है; इस प्रकार राजा उसके अधीन है। साराश यह कि इन्नोसेन्ट चतुर्थ ने 'औपचारिक रूप से यह घोषणा कर दी कि सम्राट के अधिकार का स्रोत पोप है। इस सिद्धान्त को कैनोनिस्ट्स (Canonists) के प्रभाव के अन्तर्गत लागू किया गया जिनके ऊपर रोमन न्यायशास्त्र के अध्ययन के पुनरुत्थान का बड़ा भारी प्रभाव पडा था। १२५० ई० मे फ्रेड्रिक द्वितीय की मृत्यु हो जाने से चर्च का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया। ऐसा प्रतीत होता था की उसको पूर्ण विजय प्राप्त हो गई है। फलत: उसके दावे और भी बढ गये। परन्तु फ्रास के राजा फिलिप दी फेयर (Philip the Fair) के रूप मे उसके सामने शीघ्र ही एक नया शत्रु आ खडा हुआ। उसके साथ राज्य तथा पोपशाही का सघर्ष एक नवीन स्थिति मे प्रवेश करता है और पोपशाही का ह्रास आरम्भ होता है। १४वी शताब्दी के प्रारम्भ मे फिलिप दी फेयर तथा बोनीफेस अष्टम के मध्य संघर्ष का वर्णन करने से पूर्व हम उन तर्कों और युक्तियों पर दृष्टिपात करेंगे जो कि उभय पक्ष अपने-अपने दावे के समर्थन मे पेश करते थे।

राज्य तथा चर्च का सम्बन्ध : (१) राज्य की प्रभुता—राज्य तथा चर्च के बीच के सम्बन्ध में तीन धारणायें सम्भव हो सकती है ; और वास्तव मे तीनो ही को मध्ययुग में विभिन्न समयों पर अपनाया गया। प्रथम कुछ लोग ऐसे थे जिनका विश्वास था कि राजा, चाहे उसकी शक्ति का स्रोत ईश्वर हो, चाहे जनता, अपने राज्य में लौकिक तथा आध्यात्मिक, दोनों विषयो मे सर्वोच्च है। इस विचार के अनुसार धर्म राज्य का एक विभाग है और चर्च उसके अधीन है। कांस्टेण्टाइन तथा उसके उत्तराधिकारी, शार्लीमेन तथा ओटो प्रथम की यही धारणा थी। फ्रेडरिक द्वितीय ने भी इसका औपचारिक समर्थन किया। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, ११वी शताब्दी तक, जबकि हैनरी चतुर्थ तथा ग्रेगरी सप्तम मे झगड़ा खड़ा हुआ, सम्राटों का पोपशाही के ऊपर नियन्त्रण राजनीतिक जगत का एक वास्तविक तथ्य था। परन्तु इस युग में चर्च पर राज्य के नियन्त्रण का किसी क्रमबद्ध और सुस्पष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया गया। कही १२वी शताब्दी मे जाकर, जबकि बोलोग्ना (Bologna) के विश्वविद्यालय मे रोमन कानून का अध्ययन फिर से आरम्भ हुआ, इस सिद्धान्त का युक्तियों द्वारा समर्थन किया गया। दान्ते (१२६५ से १३२१) तथा मार्सीलियो ऑफ पेडुआ वे दो प्रसिद्ध लेखक है जिन्होने चर्च की राज्य के प्रति अधीनता का एक युक्तियुक्त सिद्धान्त पेश करने का प्रयत्न किया। परन्तु उनकी रचनाओ का उद्देश्य राज्य की स्तुति करना इतना नही जितना कि चर्च की निन्दा करना है। उनके सिद्धान्तों की विवेचना अगले अध्याय में की जायेगी।

(२) चर्च की प्रभुता—जैसे-जैसे पोप ग्रेगरी के आन्दोलन के समय मे चर्च की शक्ति बढी और उसने एक शक्तिशाली सघटन को विकसित किया तो दूसरे सिद्धात का निर्माण किया जाने लगा। इसके अनुसार चर्च राज्य से श्रेष्ठतर है और राज्य चर्च के अधीन है। मध्ययुग के मध्य भाग मे, विशेषकर ११वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे १३वी शताब्दी के अन्त तक, इस सिद्धान्त का बोलबाला रहा। पोपशाही तथा साम्राज्य के मध्य चलने वाले लम्बे सघर्ष के बीच में पहिले चर्च की साम्राज्य के ऊपर तथा फिर पोप की सम्राट के ऊपर प्रभुता का एक सुनिश्चित सिद्धात विकसित किया गया। लायन्स के बिशप अगोबार्ड, रीम्स के आर्कबिशप हिंकमार, पोप निकोलस प्रथम, पोप ग्रेगरी सप्तम, मैलगोल्ड ऑफ लूटरबैक, सन्त बर्नार्ड, जॉन ऑफ सेलिसबरी, सन्त टॉमस एक्वीनास तथा पोप इन्नोसेण्ट तृतीय के नाम इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में अग्रगण्य हैं। इस सिद्धान्त का पूर्ण विकसित रूप इन्नोसेण्ट तृतीय के लेखों में मिलता है जिसके काल मे चर्च की शक्ति चरम सीमा को जा पहुंची थी।

इन सब के विचारो की अलग-अलग विवेचना करना यहाँ सम्भव नही। हम उनकी मुख्य युक्तियों का सार यहाँ दे सकते हैं। इस विषय में हमे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस विवाद में दो अलग-अलग प्रश्न सम्मिलित थे : (१) चर्च की प्रभुता, तथा (२) धार्मिक तथा लौकिक, दोनों क्षेत्रों मे पोप की प्रभुता। पहिली बात को पुष्ट करने के लिये ही ग्रेगरी सप्तम तथा इन्नोसेण्ट तृतीय सरीखे शक्तिशाली पोपों

११२२ में जो समझौता पैस्कल द्वितीय तथा हैनरी पचम में हुआ, जिसका उल्लेख पहिले भी हो चुका है, उससे यह मौलिक समस्या हल नहीं हो पाई कि साम्राज्य तथा पोपशाही में क्या सम्बन्ध है। जिन अधिकारों का उल्लेख उस समझौते में नहीं था उन पर प्रत्येक पक्ष अपना दावा जताने लगा। चर्च अधिकारियों ने धार्मिक प्रभुता पर ही सतोष न करके लौकिक शक्ति प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया और ऐसे दावे करने शुरू किये जो निश्चित रूप से राजनीतिक थे और इसलिये सम्राट के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत थे। इसलिये पोपशाही तथा जर्मनी के सम्राट फ्रेडरिक बारबरोसा (Ferderick arbarossa) तथा उसके उत्तराधिकारियों के बीच एक सघर्ष खडा हुआ। जर्मन सम्राट पोप की शक्ति के विस्तार को न रोक सके जो कि सारी १२वीं शताब्दी में बढती रही और इन्नोसेन्ट तृतीय के काल में चरम सीमा को पहुंची जिसने कि यूरोप के सबसे शक्तिशाली शासकों को अपनी आज्ञा मानने के लिए बाध्य कर दिया। निर्वाचन तथा राज्याभिषेक के मामलों में वह रोमन साम्राज्य में अपरिमित शक्तियों का प्रयोग करता था, वह लोगों के सम्राट होने के दावे को उतनी ही सरलतापूर्वक रद्द कर देता था जैसे कि हैनरी तृतीय ने ग्रेगरी पोप को उपाधि पद से हटा दिया था। उसने कई राजकुमारों को राजा की उपाधि से विभूषित किया। उसने अपने उपदेश में यह घोषणा की कि आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के विषयों में चर्च ने उसे अपरिमित शक्तियां प्रदान की है। वह १२१६ ई० में मर गया। फ्रेडरिक द्वितीय का शासन उस समय आरम्भ ही हुआ था जो इस बात का दावा करता था कि (१) साम्राज्य के प्रशासन में वह पोप से स्वतत्र है, (२) ईश्वर ने उसे प्रत्यक्ष रूप से शक्ति प्रदान की है, पोप के माध्यम द्वारा नहीं। धार्मिक विषयों में वह पोप के अधिकार को स्वीकार करता था, किन्तु लौकिक विषयों में उससे इंकार करता था। इन्नोसेन्ट चतुर्थ ने इसका यह उत्तर दिया कि दैविक आदेश द्वारा लौकिक विषयों के ऊपर भी पोप का अधिकार है, जो राजाओं को अपनी शक्ति सौंप सकता है, इस प्रकार राजा उसके अधीन है। साराश यह कि इन्नोसेन्ट चतुर्थ ने 'औपचारिक रूप से यह घोषणा कर दी कि सम्राट के अधिकार का स्रोत पोप है। इस सिद्धान्त को कैनोनिस्ट्स (Canonists) के प्रभाव के अन्तर्गत लागू किया गया जिनके ऊपर रोमन न्यायशास्त्र के अध्ययन के पुनरुत्थान का बड़ा भारी प्रभाव पडा था। १२५० ई० में फ्रेड्रिक द्वितीय की मृत्यु हो जाने से चर्च का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया। ऐसा प्रतीत होता था की उसको पूर्ण विजय प्राप्त हो गई है। फलतः उसके दावे और भी बढ गये। परन्तु फ्रांस के राजा फिलिप दी फेयर (Philip the Fair) के रूप में उसके सामने शीघ्र ही एक नया शत्रु आ खड़ा हुआ। उसके साथ राज्य तथा पोपशाही का सघर्ष एक नवीन स्थिति में प्रवेश करता है और पोपशाही का ह्रास आरम्भ होता है। १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में फिलिप दी फेयर तथा बोनीफेस अष्टम के मध्य सघर्ष का वर्णन करने से पूर्व हम उन तर्कों और युक्तियों पर दृष्टिपात करेंगे जो कि उभय पक्ष अपने-अपने दावे के समर्थन में पेश करते थे।

राज्य तथा चर्च का सम्बन्ध : (१) राज्य की प्रभुता—राज्य तथा चर्च के बीच के सम्बन्ध में तीन धारणायें सम्भव हो सकती हैं ; और वास्तव में तीनों ही को मध्ययुग में विभिन्न समयों पर अपनाया गया । प्रथम कुछ लोग ऐसे थे जिनका विश्वास था कि राजा, चाहे उसकी शक्ति का स्रोत ईश्वर हो, चाहे जनता, अपने राज्य में लौकिक तथा आध्यात्मिक, दोनों विषयों में सर्वोच्च है । इस विचार के अनुसार धर्म राज्य का एक विभाग है और चर्च उसके अधीन है । कांस्टेण्टाइन तथा उसके उत्तराधिकारी, शार्लीमेन तथा ओटो प्रथम की यही धारणा थी । फ्रेडरिक द्वितीय ने भी इसका औपचारिक समर्थन किया । जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, ११वीं शताब्दी तक, जबकि हैनरी चतुर्थ तथा ग्रेगरी सप्तम में झगड़ा खड़ा हुआ, सम्राटों का पोपशाही के ऊपर नियंत्रण राजनीतिक जगत का एक वास्तविक तथ्य था । परन्तु इस युग में चर्च पर राज्य के नियन्त्रण का किसी क्रमबद्ध और सुस्पष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया । कहीं १२वीं शताब्दी में जाकर, जबकि बोलोग्ना (Bologna) के विश्वविद्यालय में रोमन कानून का अध्ययन फिर से आरम्भ हुआ, इस सिद्धान्त का युक्तियों द्वारा समर्थन किया गया । दान्ते (१२६५ से १३२१) तथा मार्सीलियो ऑफ पेडुआ वे दो प्रसिद्ध लेखक हैं जिन्होंने चर्च की राज्य के प्रति अधीनता का एक युक्तियुक्त सिद्धान्त पैदा करने का प्रयत्न किया । परन्तु उनकी रचनाओं का उद्देश्य राज्य की स्तुति करना इतना नहीं जितना कि चर्च की निन्दा करना है । उनके सिद्धान्तों की विवेचना अगले अध्याय में की जायेगी ।

(२) चर्च की प्रभुता—जैसे-जैसे पोप ग्रेगरी के आन्दोलन के समय से चर्च की शक्ति बढ़ी और उसने एक शक्तिशाली संघटन को विकसित किया तो दूसरे सिद्धांत का निर्माण किया जाने लगा । इसके अनुसार चर्च राज्य से श्रेष्ठतर है और राज्य चर्च के अधीन है । मध्ययुग के मध्य भाग में, विशेषकर ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से १३वीं शताब्दी के अन्त तक, इस सिद्धान्त का बोलबाला रहा । पोपशाही तथा साम्राज्य के मध्य चलने वाले लम्बे संघर्ष के बीच में पहिले चर्च की साम्राज्य के ऊपर तथा फिर पोप की सम्राट के ऊपर प्रभुता का एक सुनिश्चित सिद्धांत विकसित किया गया । लायन्स के बिशप अगोबार्ड, रीम्स के आर्कबिशप हिंकमार, पोप निकोलस प्रथम, पोप ग्रेगरी सप्तम, मेनगोल्ड ऑफ लूटरबैक, सन्त बर्नार्ड, जॉन ऑफ सेलिसबरी, सन्त टॉमस एक्वीनास तथा पोप इन्नोसेण्ट तृतीय के नाम इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में अग्रगण्य हैं । इस सिद्धान्त का पूर्ण विकसित रूप इन्नोसेण्ट तृतीय के लेखों में मिलता है जिसके काल में चर्च की शक्ति चरम सीमा को जा पहुँची थी ।

इन सब के विचारों की अलग-अलग विवेचना करना यहाँ सम्भव नहीं । हम उनकी मुख्य युक्तियों का सार यहाँ दे सकते हैं । इस विषय में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस विवाद में दो अलग-अलग प्रश्न सम्मिलित थे : (१) चर्च की प्रभुता, तथा (२) धार्मिक तथा लौकिक, दोनों क्षेत्रों में पोप की प्रभुता । पहिली बात को पुष्ट करने के लिये ही ग्रेगरी सप्तम तथा इन्नोसेण्ट तृतीय सरीखेश शक्तिशाली पोपों

ने दूसरी बात पर बल दिया था। इस विवाद के सम्बन्ध में जितने भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, चाहे वे चर्च की ओर से हों अथवा राज्य की ओर से, उन सब का आरम्भबिन्दु दो तलवारों अथवा शक्तियों का सिद्धान्त था जिसकी विवेचना पहिले ही की जा चुकी है। पोप गेलेसियस के निम्नलिखित शब्दों में उसका सार यह है: "इस संसार पर दो शक्तियों का शासन है, एक पादरियों का और दूसरा राजकीय। इनमें से पादरीगण की शक्ति महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अन्तिम निर्णय के समय उन्हें स्वयं राजाओं के कार्यों के लिए उत्तर देना है।"* चर्च के समर्थक इस उद्धरण के अंतिम वाक्य को आधार मानते थे। हिंकमार जब-जब भी इस विषय को छेड़ता था तभी इसका उल्लेख करता था और ग्रेगरी सप्तम ने भी हेनरी चतुर्थ के साथ अपने विवाद के समय इसका प्रयोग किया। इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि धर्म अधिकारियों का अधिकार स्वभाव से ही लौकिक शक्ति की अपेक्षा अधिक आदरणीय और महत्त्वपूर्ण है। सन्त एम्ब्रोज ने एक बार कहा था कि विशप-गण के वैभव के सामने राजाओं का वैभव ऐसा है जैसा कि सोने की आभा के सामने रांगे की चमक। इसी प्रकार, पोप सिलवेस्टर ने कहा था कि राजाओं को यह याद रखना चाहिये कि उनके मुकुट विशपगण के दण्ड (Mitres) के सामने उतने ही हेच हैं जितना कि रांगा सोने के सामने। आत्मा तथा शरीर और सूर्य तथा चन्द्रमा के दृष्टान्त देकर भी इस उक्ति का समर्थन किया जाता था। जिस प्रकार की आत्मा शरीर से श्रेष्ठतर है और जिस प्रकार सूर्य चन्द्रमा की अपेक्षा कांतिमान है इसी प्रकार विशपगण का अधिकार राजाओं की शक्ति से अधिक वैभवपूर्ण और गरीयसी है। पोप इन्नोसेण्ट तृतीय ने इस विचार को कहीं अधिक जोरदार शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया था: 'जैसे सृष्टि के रचयिता—परमात्मा ने आकाश में दो प्रकाश-स्तम्भ खड़े किये, बड़ा दिन में शासन करने के लिये और छोटा रात में, वैसे ही उसने भू-लोक में भी दो अधिकारी नियुक्त किये, बड़ा दिन पर, अर्थात् आत्मा पर, शासन करने के लिए और छोटा रात पर, अर्थात् शरीर पर। वे दो अधिकारी हैं—पोप की शक्ति तथा राजकीय शक्ति। और जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश प्राप्त करता है और गुण, आकार, स्थिति तथा प्रभाव में उससे हीन होता है, उसी प्रकार राजकीय शक्ति भी अपनी वैभव-आत्मा पोप की शक्ति से प्राप्त करती है।'†

---

* "There are two systems under which this world is governed, the sacred authority of the priests and the royal power. Of these the greater weight is with the priests in so far as they will answer to the Lord even for kings in the last judgment."

† "As God, the creator of the universe, set two great lights in the firmament of heaven, the greater to rule the day, and the lesser to rule the night; so He set two great dignitaries in the firmament of the universal Church the greater to rule the day—that is, souls—and the lesser to rule the night—

चर्च के अधिकारियों की श्रेष्ठता और महत्ता को सिद्ध करने के लिये यह तर्क भी पेश किया गया कि कोई राजा या सम्राट शैतान को नष्ट नही कर सकता था और पापी की आत्मा को मुक्ति नही दिला सकता था ; इतना ही नहीं, राजाओं और सम्राटों को तो स्वयं धर्म-दीक्षा और मुक्ति प्राप्त करने के लिये नम्रतापूर्वक पादरियों की सेवा में उपस्थित होना चाहिये । साराश यह कि क्योंकि आत्मा शरीर की अपेक्षा कही अधिक श्रेष्ठ है इसलिए आत्मा का कल्याण करने वाला भी शरीर के कल्याण करने वाले से श्रेष्ठतर है ।

जिस चीज ने पादरियों को राज्य के ऊपर शक्ति प्रदान की वह था नैतिक प्रश्नो का चर्च के अधिकार-क्षेत्र में होना जिसे सभी स्वीकार करते थे । समस्त ईसाई जगत में यह एक सर्वव्यापक विश्वास था कि ईश्वर ने पादरियों को शासको के उद्देश्यों तथा चरित्र का निरीक्षण एवं संशोधन करने का अधिकार प्रदान किया है । शासकगण सांसारिक व्यक्ति थे और समस्त सांसारिक व्यक्तियो मे भी उनमे पापमय हो जाने की सब से अधिक सम्भावना थी । इसलिए पादरियों द्वारा परिशोधन की उन्हें सब से अधिक आवश्यकता थी । चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मिलान के बिशप सन्त एम्ब्रोज़ ने सम्राट वैलेन्टीनियन को यह लिखा था कि धर्म के विषय में 'बिशपगण को सम्राटों की आलोचना करने का अधिकार है, सम्राटो को बिशपों की आलोचना का अधिकार नही है ।' एक दूसरे अवसर पर उसने प्रार्थना का संचालन करने से इन्कार कर दिया जब तक कि सम्राट थ्योडिसियस जिसने कि एक पाप किया था वहाँ से न हट गया । एक नैतिक प्रश्न होने के कारण ही पोप निकोलस प्रथम राजा लोथेयर को अपनी परित्यक्ता धर्मपत्नी को फिर से ग्रहण करने तथा अपनी एक प्रेयसी को त्यागने के लिए विवश कर सका था । यदि राजा किसी घोर पाप का अपराधी होता था तो उसे धर्म-बहिष्कृत किया जा सकता था । ग्रेगरी सप्तम ने धर्म बहिष्करण की उपसिद्धि के रूप मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि धर्म-बहिष्कृत राजा प्रजा की भक्ति का पात्र नही हो सकता था । इसलिये धर्म-बहिष्करण पोप के हाथ में एक सबसे अधिक भयावह शस्त्र था क्योंकि धर्म-बहिष्करण का अर्थ पदच्युति था । धर्म-बहिष्कृति के परिणामस्वरूप सिंहासन खो बैठने के भय के कारण ही तो हैनरी चतुर्थ का पोप के सामने झुकना तथा कैनोसा का अपमान सहन करना पड़ा । यह स्पष्ट रूप में दो तलवारों के सिद्धान्त का उल्लंघन था । यदि राज्याधिकार का औचित्य अन्तिम रूप से पोप के निर्णय के ऊपर निर्भर करता था तो फिर राज्य चर्च के समान कहाँ रहा ; वह तो निश्चित रूप से उसके अधीन हो गया ।

उपरोक्त तर्क का निष्कर्ष केवल यह है कि धर्माधिकारी की शक्ति लौकिक शासक की शक्ति से कही अधिक श्रेष्ठ और अधिक दैविक है । इसका अर्थ

that is, bodies. These dignitaries are the papal authority and the royal power. And just as the moon gets her light from the sun, and is inferior to the sun in quality, quantity, position and effect, so the royal power gets the splendour of its dignity from the royal authority."

यह नही है कि राजकीय शक्ति का स्रोत पोप है, अर्थात् लौकिक विषयो मे पोप राजा या सम्राट् से ऊपर है, या उसे कोई लौकिक अधिकार प्राप्त है। यह पोप को राजा अथवा सम्राट् के कार्यों को नियन्त्रित और परिशोधित करने का अधिकार केवल उसी हद तक देता है जहाँ तक उसमे कोई नैतिक प्रश्न सम्मिलित हो ; लौकिक विषयो मे हस्तक्षेप करने का अधिकार यह उसे नही देता। परन्तु १२वी, १३वी और १४वी शताब्दी मे पोपशाही के हिमायती यहाँ तक कहने लगे कि लौकिक शासक ईश्वर से अपनी शक्तियाँ प्रत्यक्ष रूप से नही बल्कि चर्च के माध्यम द्वारा प्राप्त करते हैं, इसलिये लौकिक विषयो मे भी वे पोप के अधीन है। पोप इन्नोसेण्ट तृतीय के उद्धरण के, जिसका उल्लेख हमने पिछले पृष्ठो मे किया है, अन्तिम वाक्य का तर्क यही है। उसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि चन्द्रमा की ज्योति उसकी अपनी नही होती बल्कि सूर्य से प्राप्त की हुई होती है, इसी प्रकार राजकीय शक्ति भी राज-पद मे ही निहित नही होती बल्कि वह राजा को पोप द्वारा दी जाती है। लौकिक शासको के ऊपर पोप की प्रभुता के तर्क मे इस नवीन तत्त्व का समावेश १२वीं शताब्दी मे ओनोरियस (Honorius) ने किया। उसका तर्क था कि धर्म का अधिकार राजकीय अधिकार से प्राचीन है। प्राचीन काल मे कोई राजा नही था ; समस्त शक्ति का प्रयोग पादरीगण ही करते थे। ओल्ड टेस्टामेण्ट (The Old Testament) के युग के इतिहास मे प्रगट है कि मूसा से लेकर सैमुअल के जमाने तक इजराइल की सन्तान पर पादरियों का शासन था। उनका पहिला राजा सॉल था जिसे पादरी सैमुअल ने राज्याधिकार सौपा था। यह इस बात का प्रमाण समझा जाता था कि राजकीय पद का जन्म पादरियो द्वारा हुआ। दूसरी युक्ति यह दी गई कि ईसा ने, जिसके पास धर्म तथा राज्य दोनो की शक्तियाँ थी, कुजियाँ पादरी पीटर को सौंपी, किसी राजा को नही। पीटर ने आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्तियों की प्रतीक ये कुजियाँ अपने उत्तराधिकारियो को सौप दी जो कि पोप होने के नाते धरती पर ईश्वर के प्रतिनिधि थे। पोपो ने आध्यात्मिक शक्ति को अपने पास रख लिया और लौकिक शक्ति को सासारिक अधिकारियो को हस्तान्तरित कर दिया। इस तर्क से परिणाम यह निकाला गया कि सम्राट अपनी शक्ति का प्रयोग पोप का एक अभिकर्ता होने के नाते और उसकी ओर से करता और इसलिए वह पोप के प्रति उत्तरदायी था। जब तक पादरी राजा को दीक्षित न करे तब तक राज्यशक्ति धर्मसगत नही हो सकती थी। इसकी भी यही व्याख्या की गई कि राज-कीय शक्ति निम्नतात्मक है। लौकिक विषयो मे पोप के प्रत्यक्ष अधिकार के दावे की सब से अधिक स्पष्ट और सब से अधिक निश्चित अभिव्यक्ति जॉन ऑफ सैलिस्बरी ने की है। उसके विचारो का उल्लेख आगे चल कर किया जायेगा। डनिंग का कहना है कि मध्यकालीन राजनीतिक सिद्धान्त के ऊपर इजराइली राज्य की धारणा का बहुत प्रभाव पडा था जिसके अनुसार राज्य तथा उसके सस्थानों का स्वरूप धर्मतन्त्री है। "सरकार का प्रशासन उन कानूनो के अधीन तथा उन अगो के द्वारा चलता है जिनका

जन्म प्रभु-इच्छा की प्रत्यक्ष अभिव्यंजना का फल है। पादरी, न्यायाधीश तथा देवदूत ईश्वर के प्रत्यक्ष आदेशों के अधीन राज्य में गम्भीरतम कार्य करते है। और इसराइल में जब राजकीय शासन स्थापित होता है तो राजाओं को प्राचीन धर्मतन्त्री परम्पराओ से जकड़ा हुआ दिखाया जाता है और ऐसा जाहिर होता है कि उनकी शक्ति का मूल तथा प्रयोग दोनों ही पादरियो तथा पैगम्बरों द्वारा निर्धारित होता है जिनके द्वारा ईश्वर की इच्छा अभिव्यक्त होती है।"* पोपशाही के हिमायतियो ने साम्राज्य-वादियो के साथ अपने विवाद में ओल्ड टेस्टामेण्ट से बहुत लाभ उठाया।

पोपशाही का समर्थन करने के लिए कुछ लेखको ने 'कॉन्स्टेन्टाइन के दान' (Donation of Constantine) की घटना का प्रयोग किया। कहा जाता है कि जब कॉन्स्टेन्टाइन महान् अपनी राजधानी रोम से कुस्तुनतुनिया में ले गया तो उसने साम्राज्य के पश्चिमी भागों का राज्याधिकार पोप सिलवेस्टर को प्रदान कर दिया। पोप ने चर्च की रक्षा के लिये राजमुकुट तथा लौकिक शक्ति को तो स्वय कॉन्स्टेन्टाइन को ही सौप दिया और धार्मिक विषयो का अधिकार स्वय अपने ही हाथो मे रख लिया। इसका अर्थ यह लगाया गया कि उस समय से पश्चिम के समस्त सम्राट अपनी शक्ति पोप से प्राप्त करते है। और उसके अभिकर्ताओं तथा उसकी ओर से काम करते है। चतुर लेखको ने इस युक्ति का अधिक प्रयोग नहीं किया क्योंकि इसमे यह बात निहित थी कि पोप की शक्तियो का स्रोत सम्राट था, न कि ईश्वर।

ईसाई युग की कुछ घटनाओं का उल्लेख किया गया जिनमें यह बात निहित थी कि सम्राट की शक्ति का स्रोत पोप है। यह कहा गया है कि मेरोविन्जियन्स के अंतिम राजा शिलपरिक को अपनी अक्षमता के कारण पोप जकरिया ने पदच्युत किया और पोप लियो तृतीय ने शार्लीमेन को मुकुट प्रदान किया। पोप द्वारा इस राज्याभिषेक का अर्थ यह लगाया कि पोप ने राजा को राज्यशक्ति प्रदान की और जो व्यक्ति शक्ति प्रदान करता है वह उसे वापिस भी ले सकता है।

अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि पोपशाही के समर्थकों ने बाइबिल के कतिपय कथनों की इस ढग से व्याख्या की कि उनसे उनकी धारणा को सम्बल मिलता था। ईसा ने पीटर को यह आदेश दिया : 'मेरी भेडो को चराओ' (Feed my sheep) इसका अर्थ यह लगाया गया कि पोप को मनुष्य के ऊपर अभिवेक्षण का वैसा ही अधिकार है जैसा कि एक चरवाहे को अपनी भेड़ बकरियों के ऊपर होता है; इस

*"Government is administered under laws and through organs whose existence is derived from the direct manifestation of God's will. The Levitical priesthood, the judges and the prophets perform the gravest functions in the state under immediate divine mandates. And when royalty is established in Israel, the kings are represented as hedged about by the ancient theocratic traditions, and as commonly determined, in both the origin and exercise of their power, by priests and prophets, through whom the will of God is manifest." —Dunning : *op. cit*, page 164.

अधिकार से राजागण भी अभिमुक्त नही थे। ईसा के भेड समूह के चरवाहे अर्थात् मनुष्य समाज के सरक्षक के नाते पोप का यह कर्तव्य था कि वह एक भी भेड़ अर्थात् एक भी मनुष्य को कोई आघात न पहुचने दे। अपने इस कर्तव्य का पालन करने के लिए वह जो आवश्यक समझे सो कर सकता था, उदाहरण के लिए वह एक पापी तथा अत्याचारी राजा को हटा कर उसके स्थान मे दूसरे के निर्वाचन को स्वीकार कर सकता था।

चर्च तथा उसके अधिकारियो की ओर से इतने बड़े-बड़े दावे और उनके समर्थन मे पेश की हुई युक्तिया आज हमें हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। हमारी समझ मे यह आना बडा कठिन है कि हैनरी चतुर्थ जैसे सम्राट को पोप ग्रेगरी ने किस प्रकार अपने द्वार पर तीन दिन तक कडाके के बरफ मे पडा रहने और नाक रगड़ने के लिए विवश कर दिया और न ही सरलतापूर्वक इस बात को समझ सकते है कि शक्तिशाली सम्राटो तथा पोपशाही के सघर्ष मे किस प्रकार पोप की शक्ति बढी और अन्त में उनकी विजय हुई। इस आश्चर्यजनक घटना का कारण यह है कि पहल पोपवादियो के हाथ में होने के कारण उन्हे प्रारम्भिक सफलता प्राप्त हो सकी। उनके विरोधी इस बात से तो इन्कार नही कर सकते थे कि आध्यात्मिक शक्ति लौकिक शक्ति से श्रेष्ठतर है; इसलिये उन्हे सदैव अपना बचाव ही करना पडता था, पोपवादियो के ऊपर प्रत्यक्ष आक्रमण वे नही कर सकते थे; वे धर्म-बहिष्कार जैसे दमनकारी कदम भी नही उठा सकते थे जो कि पोप के हाथ मे बहुत बड़ा हथियार थे। जब तक कि १४वी शताब्दी में मार्सीलियो की भाति राज्य के समर्थको ने पादरियों की प्रत्येक दमनकारी शक्ति को नही ठुकराया तब तक उन्हे पोपशाही के विरुद्ध अपना सदैव बचाव ही करना पड़ा और जो व्यक्ति सदा बचाव मे ही रहता है वह कभी विजय प्राप्त नही कर सकता। उन्होने दो तलवारो के सिद्धान्त की जड़ पर आघात नही किया; इसलिए पोपशाही के सामने झुकने के अतिरिक्त उनके सामने और कोई मार्ग ही न था। पोपशाही की विजय के कारणो को प्रोफेसर डनिंग ने निम्नलिखित शब्दो मे सबसे सुन्दर ढग से व्यक्त किया है "कानूनी विवादो के बहुत से विषयों में परम्परा तथा जनता की भावना के समर्थन के कारण चर्च को अधिकार प्राप्त था; प्रत्येक आध्यात्मिक विषय के ऊपर उसका नियन्त्रण था; पाप से सम्बन्धित प्रत्येक विषय उसके अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत था; और अपने निर्णयो को मनवाने के लिये उसे राजाओ को पदच्युत करने तक का अधिकार था। ऐसी विस्तृत शक्तियो के होते हुये मध्यकालीन चर्च निश्चित रूप से ही एक शक्तिशाली राजनीतिक सस्था थी; यदि सैद्धान्तिक रूप से ऐसा न था तो एक वास्तविक तथ्य तो यह अवश्य था।"*

* "With a wide basis in custom and public sentiment for the exercise of jurisdiction over many cases of legal controversies; with an extensive control of such as could be shown to be spiritual in character; with the facility for extending this control that inhered in the doctrine that it embraced

(३) **राज्य की स्वाधीनता**— राज्य तथा चर्च के परस्पर सम्बन्धों के दो उपरोक्त उग्रवादी अथवा अतिवादी सिद्धान्तों के अतिरिक्त एक तीसरा सिद्धान्त भी है जिसे हम मध्यवर्ती सिद्धान्त कह सकते है। इस सिद्धान्त के अनुसार पोप तथा सम्राट एक दूसरे के समकक्ष है ; उनकी शक्तियां समान है और उनमे से प्रत्येक का अलग कार्य-क्षेत्र है और उनके अलग-अलग कर्तव्य है। चर्च को आध्यात्मिक विषयों तक और राज्य को लौकिक विषयो तक सीमित रहना चाहिये और एक दूसरे के कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप नही करना चाहिये। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 'दो तलवारो के सिद्धान्त' के नाम से आदिकालीन पोपो ने किया था जिन्हे कि अग्रसारी प्रवृत्ति वाले सम्राटो के विरुद्ध चर्च की स्वतन्त्रता के लिये सघर्ष करना पडा था। ११वी शताब्दी में पद-विभूषण (*Investiture*) के ऊपर विवाद खडा हो जाने के उपरान्त इस सिद्धान्त का विकास हैनरी चतुर्थ, और फ्रॅड्रिक द्वितीय तथा अन्य सम्राटो के समर्थको ने किया था। उन्हे हम साम्राज्यवादी कह सकते है। जैसे कि हम पहिले ही कह चुके है उनका रवैया केवल बचाव करने का था। परिस्थितियो से विवश होकर उन्हे गेलेशियस के दो तलवारो के सिद्धान्त मे अपनी युक्तियों का आधार बनाना पड़ा था। उनमे से अधिकतर सिद्धान्त की अपेक्षा इतिहास का आश्रय अधिक लेते थे। पोप की शक्ति के आधार के विरुद्ध उन्हे कोई आपत्ति न थी ; वे तो केवल पाप के उन दावो का विरोध करते थे जो उनके मतानुसार अनुचित थे और इतिहास मे जिनका कोई जोड़ न था। फलतः उनकी युक्तियो मे वह जोर न था जोकि पोपवादियों में आमतौर से पाया जाता था। उनकी युक्तियां निम्नलिखित है।

उनकी स्थिति की आधारशिला यह है कि राज्य को शक्ति ईश्वर की ओर से *प्रत्यक्ष रूप से मिली है, चर्च के माध्यम द्वारा नही।* इसलिये राज्य भी ऐसी ही देव-स्थापित सस्था है जैसे कि चर्च। अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिये सम्राट ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, पोप के प्रति नही। ईश्वर के अतिरिक्त और कोई उनके कार्यों का निर्णय और उसे दण्डित नही कर सकता। हैनरी चतुर्थ ने ग्रेगरी सप्तम को लिखे गये अपने पत्र मे जो स्थिति अपनाई थी उसका यही सार था। आगे चलकर ११५२ ई० मे सम्राट फ्रॅड्रिक प्रथम ने पोप यूजीनियस को इसी आशय के निम्नलिखित शब्द लिखे, "ईश्वर ने दो शक्तिया पोपशाही तथा साम्राज्य स्थापित की है जिनके द्वारा इस ससार का शासन चलना चाहिये।" एक दूसरे प्रसंग में उसने यह घोषणा की : "इस राज्य तथा साम्राज्य के ऊपर हमारा अधिकार केवल ईश्वर द्वारा दिया हुआ है जिसने अपने पुत्र की दया भावना के कारण इन संसार को दो शक्तियों के शासन में रक्खा। इसके अतिरिक्त ईसा के शिष्य ने कहा है कि 'ईश्वर से डरो और राजा का सम्मान करो।' इसलिए जो यह दावा करता है कि हमारा मुकुट हमें पोप से मिली

whatever actions were in any way tainted with sin; and with the power to enforce its interpretation of its authority by the deposition of secular rulers from power—the medieval church was in fact, if not in theory, a most political potent institution." —Dunning, *op. cit.*, page 176.

हुई एक जागीर के रूप में है वह दैविक सस्था का विरोध करता है, पीटर की शिक्षाओं का विरोध करता है और वह झूठा है।"* इस धारणा का समर्थन सन्त पाल के इन कथन से भी होता था कि "जो भी शक्ति है, ईश्वर की है। जो कोई भी शक्ति का विरोध करता है वह ईश्वर के आदेश का विरोध करता है।" पीटर ने ईश्वर के लिये मनुष्य के प्रत्येक आदेश का पालन करने, और राजा तथा उसके कर्मचारियों का आज्ञापालन करने का भी आदेश दिया था। पोपशाही के समर्थक इसका उत्तर यह देते थे कि पीटर का उक्त आदेश जनसाधारण के लिये है, पादरियों के लिये नही। एक न्यायी राजा जिस सम्मान और भक्ति का पात्र हो सकता है, एक अन्यायी राजा कदापि नही हो सकता। इसके अतिरिक्त वे धर्म-ग्रन्थों में भी कई उद्धरण ऐसे दे सकते थे जो स्पष्ट रूप से राजविरोधी थे। इस युक्ति ने विकसित होकर राजाओं के दैविक अधिकार के सिद्धान्त का रूप धारण किया।

सम्राट के लौकिक विषयों के ऊपर पोप के नियन्त्रण के दावे के विरुद्ध साम्राज्यवादियों की युक्ति यह थी कि यह दावा ईश्वरीय व्यवस्था के विरुद्ध है क्योंकि इसका अर्थ है आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियों का एक ही हाथ मे केन्द्रित हो जाना। हैनरी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पोप ग्रेगरी इन दोनो शक्तियों को अपने हाथ में लेना चाहता था। आशा यह की जाती थी कि पोप के इस आक्रमण का अधिक नम्र पादरियों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

सम्राट के पक्ष मे उपरोक्त युक्ति का स्वरूप धार्मिक था ; इसमें तार्किक विकास की गुंजायश इतनी नही थी कि जितनी कि एक दूसरी युक्ति में जिसे न्याय-विदो ने पेश किया जोकि इस विवाद मे उल्लेखनीय भाग लेने लगे थे। जैसा कि सैबाइन का कथन है, अन्ततोगत्वा न्यायविद ही राज्य के सबसे अधिक प्रभावक समर्थक सिद्ध हुए। परन्तु यह विकास १४वी शताब्दी मे राजा फिलिप दी फेयर और पोप बोनीफेस अष्टम के संघर्ष के बीच मे हुआ। १२वीं शताब्दी मे तो इसका पीटर क्रेसस ने केवल श्रीगणेश किया था जो कि रैवेना मे रोमन कानून पढ़ता था। राज्य के पक्ष में उसने एक ऐसी युक्ति का प्रयोग किया जो अन्यत्र नही पाई जाती थी। उसने कहा कि हैनरी को अपना सिंहासन उत्तराधिकार के सिद्धान्त द्वारा मिला है ; उसने उसे न तो पोप से प्राप्त किया है और न जनता से। इसलिये उसे पदच्युत करना एक व्यक्ति की निजी सम्पत्ति का अपहरण करना है जिसकी कानून कभी स्वीकृति नहीं देता। इस युक्ति का आंतरिक महत्त्व इतना नही है जितना कि इस बात के कारण कि यह 'राज्यशक्ति के समर्थन के लिए कानूनी धारणाओं को प्रयोग करने की नवीन प्रवृत्ति की ओर इंगित करता है।'

* "We hold this kingdom and empire through the election of the princes from God alone, who by the Passion of his son placed this world under the rule of two swords. Moreover, the Apostle says : 'Fear God and Honour the King'. Therefore, whoever asserts that we hold the imperial crown as a benefice from the Pope, resisteth the divine institution contradicts the teachings of Peter, and is a liar"

क्रेसस की युक्ति से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है वह युक्ति जोकि यॉर्क ट्रैक्ट्स (York Tracts) में अपनाई गई है, जो 'इंगलैंड के राजा हैनरी प्रथम के समर्थन में आर्कबिशप एन्सलीम के विरुद्ध' लिखे गये थे। उनका लेखक पोपवादियों की दो सब से अधिक महत्त्वपूर्ण धारणाओं, अर्थात् राजा की अपेक्षा पादरी का अधिक श्रेष्ठ होना और अन्य बिशपगण की अपेक्षा पोप का श्रेष्ठ होना---का खंडन करता है। पहिली धारणा के विषय में उनका विचार है कि राजा की शक्ति पादरी की शक्ति से उच्चतर है क्योंकि राजपद का स्वरूप दैविक है। यह बात कि बिशप राजा को पद-प्रतिष्ठित करता है किसी भी दृष्टिकोण से इस बात का प्रमाण नहीं कि वह राजा से श्रेष्ठ है। अन्यथा वे समस्त कार्डीनल जोकि पोप को पदप्रतिष्ठित करते है पोप से श्रेष्ठ होते। पदप्रतिष्ठान मे कोई श्रेष्ठता निहित नही है; यह तो केवल एक संस्कार का सम्पन्न करना है। अन्य बिशपगण के ऊपर पोप की प्रभुता से उसका इन्कार और भी अधिक चकित करने वाला है। वह कहता है कि समस्त प्रभुता बिशप समान है; उन सब को ईश्वर की ओर से एक ही प्रकार की शक्ति प्राप्त है; इसलिए पोप की उनके ऊपर कोई प्रभुता नही है। ग्रेगरी जिन शक्तियो का दावा करता था वह तो केवल शक्ति का अपहरण था। यॉर्क ट्रैक्टस का लेखक किस आधार पर इस परिणाम पर पहुँचा उसका विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी युक्तियों को यदि अपने तार्किक अन्त तक ले जाया जाये तो हम प्रोटेस्टेण्टवाद के केन्द्रीय बिन्दु पर जा पहुचेंगे। यह मनुष्य का निर्णय उसके पद से यह नही बल्कि उसके कर्म और चरित्र मे करना चाहता है।

क्रेसस की इस युक्ति के कि क्योंकि वंशानुगत उत्तराधिकार अटल है इसलिए पोप को किसी सम्राट को पदच्युत करने का कोई अधिकार नही है, पोपवादियों ने दो उत्तर दिये. (१) यह कि राजा का अधिकार पद के कारण है, वह उसका व्यक्तिगत अधिकार नही है: (२) यह कि प्रजाजन का राजाज्ञापालन का कर्त्तव्य नही है बल्कि वह इस शर्त के ऊपर निर्भर करता है कि राजा अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन करे। एक अन्यायी और अत्याचारी राजा को पोप पदच्युत कर सकता है। इस उत्तर का अर्थ यह है कि एक सच्चे राजा तथा आततायी मे भेद है और जनता को एक आततायी की न केवल अवज्ञा करने का बल्कि उसे पदच्युत करने का भी अधिकार है। जॉन ऑफ सेलिस्बरी तो यहाँ तक कहता है कि आततायी की हत्या कर देना भी उचित है। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिए इस उत्तर का महत्त्व यह भी है कि इसमे राजनीतिक कर्त्तव्य का संविदात्मक स्वरूप निहित है। यदि शासक अन्यायी है और उसी व्यवस्था को नष्ट करता है जिसे सुरक्षित रखना उसका कर्त्तव्य है तो जनता को उसकी अवहेलना करने का अधिकार है; ऐसे शासक की आज्ञा पालन करने का उनका कोई कर्त्तव्य नहीं। इस सम्बन्ध मे मेनगोल्ड के शब्द उद्धरणीय है। वह लिखता है: "यदि राजा उस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार वह चुना गया था; यदि वह उन्हीं चीजों को अस्त-व्यस्त करता है

जिन्हें व्यवस्थित करना उसका कर्त्तव्य था, तो बुद्धि की मांग यह है कि जनता उसके प्रति आज्ञा-पालन के कर्त्तव्य से मुक्त हो जाती है, विशेषकर जबकि उसने ही सब से पहिले उस विश्वास को भग किया है जोकि दोनो को एक साथ जोडता था।"* ऐसी परिस्थिति मे पोप द्वारा शासक का पदच्युत करना एक गैर-कानूनी सविदा को रद करना है और एक पूर्वस्थापित तथ्य को केवल कानूनी रूप देना है। राजा को पदच्युत करने के पोप के अधिकार का यह समर्थन एक दुधारी तलवार है; यह दोनो ओर काटती है। जहाँ एक ओर यह कुछ परिस्थिति विशेष मे पोप को राजा के पदच्युत करने का अधिकार देता है, वहाँ दूसरी ओर इससे साम्राज्य के चर्च से स्वतन्त्र होने में भी सहायता मिलती है। यदि सम्राट के शासन करने के अधिकार का आधार उसका जनता के साथ समझौता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वह अपनी शक्ति चर्च से प्राप्त करता है?

इन युक्तियो प्रत्युक्तियो से स्पष्ट है कि ११वी और १२ शताब्दी में काफी राजनीतिक चिंतन हुआ। पोपशाही तथा साम्राज्य के बीच विवाद ने एक नये प्रकार के राजनीतिक साहित्य की रचना को अनुप्रेरित किया और लोगों को न केवल आध्यात्मिक शक्ति बल्कि राजकीय शक्ति के आधारों का परीक्षण करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसलिए यह विवाद राजनीतिक विचार के इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसने नवीन प्रवृत्तियो तथा विभिन्न विचारो का अनावरण किया जिनका अधिक पूर्णरूप से विकास १४वी शताब्दी में फ्रास के राजा फिलिप दी फेयर तथा पोप बोनीफेस अष्टम के सघर्ष और कुछ आगे चलकर लीविज दी बेवेरियन तथा पोप जॉन २२वें के विवाद के बीच जाकर हुआ। इस विवाद मे भाग लेने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण विचारको का अध्ययन करने से पहिले १४वी शताब्दी में इसके विकास का इतिहास देना अच्छा होगा।

१४वीं शताब्दी के विवाद—जब १४वी शताब्दी मे चर्च तथा राज्य मे फिर से विवाद छिड़ा तो स्थिति बहुत बदल चुकी थी। धर्म-युद्धों तथा वाणिज्य की वृद्धि के द्वारा उत्पन्न हुई परिस्थितियो मे एक नवीन राजनीतिक तथा बौद्धिक संसार का निर्माण हो रहा था। विभिन्न राज्यों की अधिकाश जनता मे आत्म-निर्भरता तथा देश-भक्ति की एक नवीन और सच्ची भावना लहरें मार रही थी और ये राज्य अपनी शक्ति को संघटित तथा एक सच्चे राष्ट्रीय जीवन का विकास कर रहे थे। इस नवीन संसार में पोपशाही के प्रति दृष्टिकोण मे एक भारी परिवर्तन हुआ; शासकगण नम्रतापूर्वक सार्वभौमिक राजनीतिक अभिवेक्षण को मानने को तैयार न थे जिसका

* "If then he (the king) violates the agreement according to which he was chosen, disturbing and confounding the very things which he was meant to put in order, reason dictates that he absolves the people from their obedience, especially when he has himself first broken the faith which bound him and the people together."

ग्रेगरी सप्तम दावा करता था और इन्नोसेण्ट तृतीय सचमुच व्यवहार करता था जब कि चर्च अपनी शक्ति की चरम सीमा को पहुंचा हुआ था ; और इन्नोसेन्ट चतुर्थ जिसकी और भी अधिक उग्र भाषा में माग करता था। उसने खुल्लमखुल्ला इस बात की घोषणा कर दी थी कि दैविक आदेश द्वारा पोप को समस्त लौकिक विषयों के ऊपर अधिकार प्राप्त है। हा, वह लौकिक शक्ति का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से नही कर सकता, इसलिये उसे वह अपने अधीनस्थ के रूप में राजाओ को दे देता है राजाओ को इस से दी हुई शक्तियो का प्रयोग पोप की इच्छा के अनुसार, और यदि आवश्यक हो तो, उसके निर्देशन में करना चाहिये। परन्तु जिस क्षण पोप की शक्ति की विजय हुई, उसका ह्रास भी प्रारम्भ हो गया जोकि स्पष्ट रूप में पोप बोनीफेस अष्टम तथा फिलिप दी फेयर के बीच सघर्ष में प्रगट हुआ।

फिलिप दी फेयर, जोकि एक पराक्रमी दृढ निश्चयी और नीतिविहीन शासक था, अपने राज्य के स्वतन्त्र जागीरदारो की भूमि छीनने में सलग्न था। युद्ध-व्यय को पूरा करने के लिए उसे धन की नितान्त आवश्यकता थी, और इसलिये वह अपने राज्य के अन्दर रहने वाले पादरियो से कर पहिले की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से मागता था। अपने धार्मिक कार्य के कारण पादरी लोग अपने सामन्ती सदस्यो की सैनिक सेवा करने से मुक्त थे, और इसलिये वे कर से मुक्त होने का भी आग्रह करते थे। पोप बोनीफेस ने एक आदेश जारी किया जो कि राज्य को पादरियो से कर लेने का निषेध करता था जब तक कि वह उसकी स्वीकृति न दे। अनधिकृत करो के सग्रह के विरुद्ध लड़ने का भी उसने पादरियो को आदेश दिया। क्योंकि भूमि का एक बहुत बड़ा भाग पादरियों के आधिपत्य में था, इसलिये पोप के इस आदेश ने फिलिप के (और अन्य राजाओं के) लिए एक गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी और पोपशाही से उसका सघर्ष छिड़ गया।

फिलिप ने पोप के आदेश का उत्तर इस प्रकार दिया कि उसने देश के तीन मुख्य वर्गों—सामन्तगण, पादरीगण, और जन-साधारण—के प्रतिनिधियों को समवेत किया और पोप की मागो को उनके सम्मुख रख दिया। इनमे से प्रत्येक ने राजा का समर्थन किया और राज्य के ऊपर पोप की प्रभुता से इन्कार किया। महत्वपूर्ण बात यह थी कि पादरीगण ने भी पोप के विरुद्ध राजा की हिमायत की, भले ही उनमें से कुछ व्यक्तियो ने सच्चे हृदय से ऐसा न किया हो। इस प्रकार पोप के ऊपर विजय प्राप्त कर राजा फिलिप ने चर्च की साधारण परिषद् से धर्मत्याग तथा अनैतिकता के अपराध में बोनीफेस को पदच्युत करने की भी माग की। इस मांग को स्वीकार तो नही किया गया ; किन्तु उसने एक ऐसे विचार का सुझाव अवश्य रखा जो आगे चल कर कान्सीलियर (Conciliar) आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ।

उसके ऊपर किये गये एक आघात के फलस्वरूप बोनीफेस का १३०३ ई० में देहावसान हो गया। उसकी मृत्यु के कुछ समय पश्चात् फिलिप ने प्रयत्न करके एक फ्रांसीसी पादरी को पोप निर्वाचित करा लिया ताकि पोपशाही पर उसका प्रभाव रहे

और चर्च के साथ सघर्ष की पुनरावृत्ति न हो। १३०९ ई० मे फ्रांसीसी पोप ने अपना निवास स्थान रोम से हटाकर एविग्नोन (Avignon) को बना लिया और बेबीलोनिश कैप्टीविटी (Babylonish Captivity) का युग आरम्भ हुआ। लगभग ७० वर्ष लम्बे इस युग मे पोप पद की प्रतिष्ठा बहुत नीचे गिर गई। इस पर फ्रास के राजाओ का प्रभाव जम गया और इसी कारण यह जर्मनी तथा इटली के राजाओ की श्रद्धा और आज्ञाकारिता का पात्र नही रह गया जो कि इसके ऊपर फ्रांसीसी नियन्त्रण से बहुत विक्षुब्ध थे और एविग्नोन के चर्च के अधीन होना जिन्हे बिल्कुल भी पसन्द न था।

जिस प्रकार कि बोनीफेस की मांगों को सफलतापूर्वक ठुकराने में फ्रांस मे उठती राष्ट्रवादी भावना ने फिलिप की सहायता की थी, ठीक उसी प्रकार २५ वर्ष बाद राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना के कारण ही एक निर्बल तथा विभक्त जर्मनी राज-सिंहासन के लिए उत्तराधिकार को निर्धारित करने के पोप जॉन २२वें तथा पोप बेनीडिक्ट १२वे के दावो को ठुकराने में समर्थ हुआ।

एविग्नोन में बेबीलोनिश कैप्टीविटी के अन्य परिणाम भी निकले। पोप की धार्मिक प्रभुता को भी चुनौती दी गई; चर्च का सारा सघटन-ढाचा ही खतरे में पडा हुआ दिखाई देने लगा। एविग्नोन मे पोपशाही अपव्ययपूर्ण विलासिता और कुनबा-परवरी की दलदल में फंस गई। इस शोचनीय स्थिति को देखकर पोप ग्रेगरी ११वाँ १३७७ ई० मे एविग्नोन छोडकर फिर रोम में चला गया। तदुपरान्त फ्रास तथा इटली के पादरियों मे एक दराड उत्पन्न हो गई, फ्रांसीसियों ने एक नये पोप का चुनाव कर लिया और इस प्रकार दो पोप हो गये, एक रोम में और दूसरा एविग्नोन मे। इन समस्त घटनाओ के इतिहास मे जाना हमारे लिए आवश्यक नही। हमारा अधिक सम्बन्ध तो उन युक्तियो से है जो कि राज्य तथा पोप के इस सघर्ष में दोनो पक्षो की ओर से पेश की गई। पहिले सघर्ष की अपेक्षा उनकी बाद की युक्तियाँ अधिक सुनिश्चित थी। राज्य के समर्थकों मे जॉन ऑफ पेरिस, पियरी डुबोय (Pierre Dubois) तथा मार्सीलियो ऑफ पेडुआ के नाम अग्रगण्य हैं और पोपशाही के हिमायतियों मे पोप बोनीफेस, एजीडियस रोमेनस तथा पोप जॉन अधिक उल्लेखनीय है।

१४वी शताब्दी मे चर्च तथा राज्य मे चलने वाले इस सघर्ष का पश्चिम के राजनीतिक विचार के इतिहास मे क्या स्थान है, इसे ठीक प्रकार समझने और उसका मूल्याकन करने के लिए यह देखना आवश्यक है कि इसकी मुख्य विशेषतायें क्या थी। सबसे पहिले तो हमें स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिये कि इस विवाद मे कौन-कौन से प्रश्न सन्निहित थे और उसके कौन-कौन पक्षकार थे। यद्यपि सघर्ष का सूत्रपात चर्च की सम्पत्ति पर करारोपण करने के प्रश्न पर हुआ; किन्तु प्रश्न केवल यही न था कि पादरियों के आधिपत्य में सम्पत्ति पर उनके सामन्त स्वामी होने के नाते फ्रास के राजा को कर लगाने का अधिकार था या नही बल्कि प्रश्न वास्तव मे यह था कि राष्ट्र का प्रधान होने के नाते राजा को पादरीगण तथा जन-साधारण पर राज्य की सुरक्षा तथा

कल्याण के लिए समान रूप से करारोपण करने का अधिकार था या नहीं। फिलिप का तर्क यह था कि क्योंकि राज्य की रक्षा के लिए पादरीगण स्वयं नहीं लड़ते, दूसरों को उनके लिए लड़ना पड़ता है जिनके पालन-पोषण के लिए पादरियों को कुछ धन देना चाहिये। पादरियों का राष्ट्रीय सरकार की सहायता में कोई योग न देना गलत है। पादरियों की सम्पत्ति पर करारोपण किये बिना युद्ध तथा प्रशासन के व्यय की पूर्ति करना असम्भव था। इसलिये राज्य के लिए यह एक जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। फ्रांस की जनता तथा पादरीगण इस बात को अच्छी तरह समझते थे और इसीलिए फ्रास के पादरियों ने इस राष्ट्रीय प्रश्न पर पोप के विरुद्ध राजा का समर्थन किया था। इसी राष्ट्रीय भावना की जागृति के फलस्वरूप पोप पद की पराजय हुई, और इसने संघर्ष के स्वरूप को ही बदल दिया। पोप आन्तरिक फूट डालने तथा सामन्त सरदारों को सम्राट के विरुद्ध भड़काने के परम्परागत हथकण्डे प्रयोग नहीं कर सका और इन्ही हथकण्डों के ऊपर भूतकाल में उसकी शक्ति निर्भर करती थी। राष्ट्रीय राजा के रूप में उत्पन्न हुआ यह नया शत्रु सम्राट की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली था; उसके ऊपर साम्राज्य की परम्पराओं का भार नहीं था और न ही उसके सामने उन क्षेत्रों के ऊपर अधिकार रखने की कठिनाई थी जिनमें कोई राजनीतिक एकता नहीं थी। चर्च की अवस्था दयनीय हो चुकी थी और अब उसका नेतृत्व करने के लिए कोई ग्रेगरी सप्तम (Gregory VII) न था। सारांश यह कि जबकि पिछली शताब्दी में संघर्ष दो सार्वभौमिक अधिकार-क्षेत्रों, पोपशाही और साम्राज्य, में था, १४वीं शताब्दी में यह था पोपशाही तथा फ्रांस अथवा जर्मनी के राष्ट्रीय राजा के बीच में। यह संघर्ष "जीवन में एक अतिक्रमणात्मक उद्देश्य की मान्यता के ऊपर आधारित धार्मिक प्रभुता तथा सांसारिक और स्थानीय आवश्यकताओं की मान्यता के ऊपर आधारित राजकीय प्रभुता के बीच में था।"*

इस विवाद में दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है, वह है सम्बन्धित पक्षों की युद्धक्षेत्र की स्थिति में परिवर्तन। जबकि पिछली तीन शताब्दियों में साम्राज्यवादियों ने केवल अपना बचाव किया और पोपशाही अग्रसर रहे, १४वीं शताब्दी में पासा पलट गया और पोपवादियों को अपना बचाव करना पड़ा। इस बार पोपशाही को राजाओं द्वारा चुनौती दी गई। फिलिप के समर्थकों ने एक अधिक विश्वासपूर्ण तथा अग्रसारी भावना का प्रदर्शन किया। उनकी कृतियों से इस बात कि चेतना झलकती है कि काल-गति राजाओं के पक्ष में थी, पोप के नहीं। यदि ऐसा न होता तो फिलिप को यह सुझाव रखने का कभी साहस न होता कि सामान्य परिषद् को पोप बोनीफेस के धर्म-त्याग तथा अनैतिक आचरण के प्रश्न पर विचार करना चाहिये।

---

* This struggle was between 'theocratic sovereignty based on recognition of transcendental purpose in life and secular sovereignty based on recognition of earthly and local needs.' —Hearnshaw : *Social and Political Ideas of the Medieval Thinkers*, page 160.

इस संघर्ष की तीसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि पोपवादियो ने पोप की शक्ति के विस्तार के विषय में अपने पूर्ववर्तियो की अपेक्षा कही अधिक उग्र दृष्टिकोण अपनाया। न तो पोप ग्रेगरी सप्तम ने और न पोप इन्नोसेण्ट तृतीय ने पोपशाही की ओर से इतने लम्बे चौड़े दावे किये थे जितने कि एजीडिय रोमेनस (जिसे एजीडियस कोलोना भी कहते है) ने अपनी पुस्तक डी एक्लेजियास्टिका पोटेस्टेट में किये है। क्योंकि प्रश्न का सम्बन्ध पादरियो के सम्पत्ति अधिकार से था और पोप की मांग यह थी कि उनकी स्वीकृति के बिना पादरियो की सम्पत्ति पर कोई कर नही लगना चाहिये, पोप के विरोधियो ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि पादरियो का निजी सम्पत्ति रखना उनके अस्तेय धर्म के विरुद्ध है, इसलिये उसको अपनी सम्पत्ति से वंचित कर देना चाहिये। इसके विपरीत पोप के समर्थको का कथन यह था कि आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी न किसी रूप में सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है, इसलिये उसके ऊपर चर्च का नियन्त्रण होना चाहिये और सम्पत्ति सम्बन्धी समस्त प्रश्नो पर, जिसमे लौकिक सम्पत्ति भी सम्मिलित है, पोप का निर्णय अन्तिम होना चाहिये। इसका आवश्यक परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक तथा धार्मिक शक्ति के स्वरूप का विश्लेषण किया गया और चर्च मे पोप की शक्तियो, चर्च के सम्पत्ति के ऊपर उसके नियन्त्रण तथा सैद्धान्तिक विषयों मे उसके अधिकार का एक आलोचनात्मक परीक्षण किया गया। १४वी शताब्दी मे ही आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप को मार्सी-लियो ऑफ पेडुआ तथा विलियम ऑफ़ ओकम ने आलोचनात्मक विश्लेषण का विषय बनाया और इससे चर्च को बडी हानि पहुची। आगे चलकर कान्सीलियर आन्दोलन के नेताओ ने चर्च के आन्तरिक शासन के स्वरूप का विश्लेषण करने तथा पोप की शक्तियों पर रोक लगाने का प्रयत्न किया।

चौथी उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि १४वी शताब्दी की प्रयुक्त युक्तियो का रूप तथा ढंग पिछली शताब्दियो से अधिक भिन्न नही था तथापि कुछ नई स्थितियो के कारण नवीन साहित्य की प्रवृत्ति तथा लहजा पुराने साहित्य से स्पष्ट रूप से भिन्न था। ये नई स्थितियाँ थी : रोमन कानून का व्यापक पुनरुत्थान जिसके अध्ययन ने जबर्दस्त प्रगति की और अरस्तु के सिद्धान्तो का प्रचार ; इन दोनों की ही प्रवृत्ति चर्च विरोधी थी। रोमन कानून मे दीक्षित और राजदरबारो अथवा अन्य किसी प्रकार मे राजा के अधीन नौकरी करने वाले व्यक्तियो के रूप मे लेखको के एक नवीन वर्ग का आविर्भाव हुआ। इसने रोमन कानून के समस्त साधनो को फ्रास के राजा की सहायता के लिए प्रयोग किया और चर्च तथा सरदारों के न्यायालयों की शक्ति कम करके राजकीय न्यायालयो का अधिकार क्षेत्र बढ़ाया। राजकीय शक्ति और प्रभाव का विस्तार करने तथा राष्ट्रीय राजतन्त्र को सुदृढ बनाने मे न्यायविदों ने एक महत्वपूर्ण भाग लिया ; उनकी विचार पद्धति तथा लौकिक रुचि ने उस साहित्य को बहुत प्रभा-वित किया जो कि विवादो में राजा के पक्ष में रचा गया। सेबाइन के शब्दो में "मध्य काल मे उससे पहिले रचा हुआ कोई भी राजनीतिक साहित्य उतना आलोचनात्मक

तथा शक्ति के शिकंजे से उतना स्वतंत्र नही था।" इस साहित्य के रचयिताओं को मैंवाइन ने पब्लिसिस्ट्स (Publicists) कहकर पुकारा है।

पब्लिसिस्ट्स की निश्चित रूप से लौकिक रुचि फ्रास के राष्ट्रीय राजतन्त्र को सुदृढ बनाने मे थी। उनके प्रभाव का उदाहरण हमे पियरी डुबोय के विचारो मे मिलता है। वह फ्रांस को यूरोप की महानतम शक्ति के रूप मे देखना चाहता था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने विवाद, विजय तथा सधि की एक योजना बनाई। उसकी योजना यह थी कि समस्त राज्यो को राजनीतिक एकता के सूत्र मे पिरोने का जो कार्य कभी मध्यकालीन साम्राज्य का था अब फ्रास को करना चाहिये जिसे वह अपनी दुर्बलता के कारण नही कर सकता था। उसने धार्मिक अधिकार क्षेत्र को राजकीय न्यायालयो को हस्तातरित करने का भी प्रस्ताव किया। पाठ्य-क्रम मे ग्रीक हिब्रू तथा अरबी भाषा का अध्ययन सम्मिलित करके वह शिक्षा को अधिक धर्मनिरपेक्ष बनाना और उसे पुनर्संगठित करना चाहता था।

बोनीफेस तथा फिलिप के मध्य सघर्ष के २० वर्ष बाद पोप जॉन २२वे तथा लिविस ऑफ बैवेरिया के बीच मे एक विवाद उठा; उसके सम्बन्ध मे भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। एक विवादित उत्तराधिकार का लाभ उठाकर जर्मनी के विषयो पर अपना अधिकार जमाने की पोप की कामना ने इस सघर्ष का अवसर प्रदान किया। जर्मनी को ऐसा लगा कि पोप के इस कदम के पीछे फ्रास का हाथ है और वह जर्मनी को क्षति पहुंचा कर अपना शासन-क्षेत्र बढ़ाना चाहता है। इसलिये उन्होंने पोप के दावे को ठुकरा दिया। फ्रैंकफर्ट में हुई एक सभा ने, जिसमे बहुत बडी सख्या में लोगों ने भाग लिया, निर्वाचकों की इस घोषणा को स्वीकार किया कि जर्मन राजा ने अपना शासनाधिकार स्वय ईश्वर से प्राप्त किया है पोप से नही, और उसका नियमित निर्वाचन उसे राजा के समस्त विशेषाधिकार प्रदान करता है; भले ही पोप को मुकुट-विभूषण तथा पद-प्रतिष्ठान के संस्कार सम्पन्न करने का अधिकार हो।

यह भी उल्लेखनीय है कि फ्रांसिस के भक्त पादरियो के अस्तेय सिद्धान्त का पोप के एक प्रत्यादेश द्वारा खण्डन किये जाने के फलस्वरूप स्वय चर्च के भीतर ही एक विवाद खडा हो गया। बहुत से योग्य पादरी लेखक पोपशाही के आलोचक हो उठे और उन्हे अपनी रक्षा के लिए राजकीय न्यायालयो की शरण मे जाना पडा। वे यह तर्क करने लगे कि धार्मिक विषयों मे अन्तिम अधिकार चर्च परिषद को है, पोप को नही। इस तर्क से शासकों की स्थिति को बहुत सम्बल मिला। इस प्रकार हम देखते है कि १४वी तथा १५वी शताब्दी मे पोपशाही पर चारो ओर से सकट के बादल छा गये और चिंतनधारा धर्मनिरपेक्ष तथा क्रान्तिकारी हो गई।

१४वी शताब्दी के विवाद की मुख्य विशेषताओं तथा उसके राजनीतिक महत्व का सुन्दर वर्णन मैंवाइन के निम्नलिखित शब्दो मे मिलता है--

राजनीतिक सिद्धान्त के विकास मे बोनीफेस तथा फिलिप के मध्य विवाद का बहुत बडा महत्व है। इसने एक अद्वितीय तथा प्रभुत्वपूर्ण शक्ति के लिए दावे को जन्म

दिया। यह शक्ति पोप में निहित थी जिसका प्रयोग चर्च में प्रत्यक्ष रूप से तथा चर्च और शासकों के बीच परोक्ष रूप से होता था। यह इस दावे का समर्थन दैविक अधिकार के सिद्धान्त के आधार पर करती थी। इस दावे का आविर्भाव, जो कि कानूनवाद की एक धार्मिक उत्पत्ति थी, इसके ऊपर एक सुसंगठित आक्रमण का सूचक था। फ्रांसीसी विवाद में भी इस आक्रमण ने दो मुख्य रूप धारण किये। पोप की प्रभुता पर आपत्ति इस आधार पर की गई कि यह धर्माधिकारियों का एक विलक्षण मिथ्या दावा था, इसलिये इसके प्रयोग के ऊपर समुचित नैतिक और धार्मिक बन्धन होने चाहियें। दूसरी आपत्ति इसके विरुद्ध यह की गई कि सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति, चाहे कहीं भी हो, स्वभाव में ही अत्याचारपूर्ण होती है, इसलिये उसे प्रतिनिधित्व तथा जन-इच्छा से संतुलित तथा सीमित करना आवश्यक है।"*

---

* "The controversy between Boniface and Philip was of great importance in the development of political theory. It produced a clear cut *claim to* unique sovereign power, vested in the Pope and exercised directly in the church *and indirectly as between* the Pope and secular rulers, and it defended his claim upon the principle of divine right. The appearance of this claim, a [illegible] al form concerted attack upon it. [illegible] of clerical pretension, peculiar to ecclesiastical power, and hence to be [illegible] by hedging it into a proper moral and religious exercise. On the other hand, objection was made to sovereign power as such, on the ground that it was intrinsically tyrannous wherever it existed and needed to be tempered and limited by representation and consent."

१३ कुछ मध्यकालीन विचारक

परिचयात्मक—ग्यारहवें अध्याय में मध्यकालीन राजनीतिक विचार की सामान्य पृष्ठभूमि का वर्णन करने तथा पिछले अध्याय में पोपवादियों तथा राज्यवादियों के दावों तथा उनके समर्थन में युक्तियों का दिग्दर्शन करने के उपरान्त अब हम उन मुख्य-मुख्य व्यक्तियों के विचारों के अध्ययन पर आते है जिन्होंने कि उस विवाद में भाग लिया। पहिले हम पोपवादियों को लेते है जिनमे से केवल पोप ग्रेगरी सप्तम, जॉन ऑफ सेलिसबरी, सन्त टॉमस एक्वीनास, तथा एजिडियस कोलोना का उल्लेख करेंगे। तदुपरान्त हम राज्य के समर्थकों को लेंगे, जिनमें से केवल दान्ते, जॉन ऑफ पेरिस, मार्सीलियो ऑफ पेडुआ तथा विलियम ऑफ ओकम के सिद्धान्तों की विवेचना की जायेगी। अगले अध्याय में हम Conciliar Movement का वर्णन करेंगे जिसके साथ मध्य युग का अन्त होता है।

ग्रेगरी सप्तम—चर्च की प्रभुता के समर्थकों में सबसे पहिला तथा एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण नाम हिल्डेब्रैण्ड का है जो पोप ग्रेगरी सप्तम के नाम से अधिक विख्यात है (१०७३–१०८० ई०)। उसके समस्त कार्यों, कार्यक्रमों तथा नीतियों का आधार उसका यह विश्वास था कि चर्च के ऊपर राज्य का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिये। उसका लक्ष्य राज्य के लक्ष्य से श्रेष्ठ होने के कारण चर्च को अपना विशेष विधान रखना चाहिये जिसमें राज्य को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इसी दृष्टिकोण से उसने जस्टीशिया (Justitia) के सिद्धान्त का निरूपण किया था। जस्टीशिया का अर्थ था: (१) चर्च के ऊपर पोप की प्रभुता; (२) 'विवाह के सामाजिक बन्धन, पद के क्रय-विक्रय के आर्थिक बन्धन, राज्य द्वारा पद-प्रतिष्ठान के सामन्ती बन्धन' से पादरियों को मुक्त करना; तथा (३) 'ईसा के सर्वोच्च अधिवक्ता के नाते राजाओं तक का न्याय तथा परिशोधन करने का (यदि वे उस कानून का उल्लंघन करें और उसके स्वतंत्र व्यवहार में बाधा डालें)' पोप का अधिकार। इस प्रकार ग्रेगरी राज्य को चर्च के अधीन रखता है। राज्य द्वारा उस आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जिसका चर्च अभिभावक है, इस प्रकार की अधीनता आवश्यक ही है। गत अध्याय में इस सम्बन्ध में काफी कहा जा चुका है, इसलिये और अधिक कुछ कहना अनावश्यक है। किन्तु हाँ, एक महत्वपूर्ण बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। ग्रेगरी सप्तम के कथन तथा नीति का यह अर्थ

कदापि नही है कि उसने पोप की प्रभुता के किसी कानूनी सिद्धान्त का निरूपण किया और न ही उसका अभिप्राय यह है कि राजकीय शक्ति का स्रोत पोप है और इसलिये राजकीय विषयो के ऊपर पोप का नियंत्रण होना चाहिये। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो १४वी शताब्दी मे जाकर इनोसेण्ट चतुर्थ तथा एजीडियस कोलोना ने किया। इस बात का कोई प्रमाण नही मिलता कि ग्रेगरी की धारणा यह रही हो कि लौकिक विषयो मे पोप राजा के ऊपर है और पोप को भी कुछ लौकिक शक्तियां हैं। अपने आपको सम्राट के ऊपर एक श्रेष्ठतर और उच्चतर शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित करने का उसका कोई इरादा नही था। उसके ऊपर उद्धरित किये हुए इन शब्दो का कि पोप को साम्राज्य, राज्य, जागीर इत्यादि प्रदान करने का अधिकार है यह अर्थ समझना चाहिये कि पोप लौकिक विषयों मे राजा के ऊपर है। उसके कहने का तात्पर्य केवल यह था कि राजाओ के ऊपर पोप को एक नैतिक अनुशासन रखने का अधिकार है। ग्रेगरी के अनुसार पोप ससार का, यहाँ तक कि ईसाई जगत का भी, लौकिक स्वामी नही है ; उसे कोई लौकिक अधिकार प्राप्त नही है। वह केवल 'ईसा की भेडों का चरवाहा' अर्थात् मनुष्य का सरक्षक है और इस नाते यह देखना उसका धर्म है कि कोई व्यक्ति उन्हे आघात न पहुचाये। ऐसे आघात को रोकने के लिए उसे एक दुष्ट राजा को पदच्युत करने और उसके स्थान मे एक नये राजा के निर्वाचन को स्वीकार करने का अधिकार है। यह बात १४वी शताब्दी मे प्रतिपादित पोप के प्रभुता के सिद्धान्त से अधिक भिन्न दिखाई पडती है और एक दृष्टिकोण से यह ठीक ही है। जो शक्तियाँ एजीडियस कोलोना पोप को प्रदान करता है वे उनसे कुछ ऊची नही है जिनका कि दावा ग्रेगरी करता था। परन्तु दोनो मे आधारभूत भेद यह है कि ग्रेगरी ने पोप के अधिकारो के किसी क्रमबद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया। वह केवल एक नैतिक अनुशासन के आध्यात्मिक अधिकार की मांग करता था। साराश यह कि ग्रेगरी मे हमे चर्च या राज्य अथवा चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध का कोई नवीन सिद्धान्त नही मिलता ; बल्कि राज्य के प्रति पोपशाही की एक नई नीति और एक नई प्रवृत्ति मिलती है।

जान आफ सेलिस्बरी—पोप की प्रभुता के अधिवक्ताओ की हमारी सूची मे अगला नाम एक अग्रेज—जॉन ऑफ सेलिस्बरी (१११५—११८०) का है। वह एक सिद्धान्त निर्माता था जैसा कि ग्रेगरी सप्तम कभी नही था। उसकी पुस्तक 'पोलिक्रेटीकस' (Policraticus) अथवा 'स्टेट्समैन्स बुक' को डा० डिकिन्सन ने 'मध्य काल मे राजनीति के ऊपर सबसे पहिला सागोपाग ग्रथ' कहकर पुकारा है। एक दूसरे महान् विद्वान डा० आर० एल० पूल का कहना है कि यह 'क्रमबद्ध धारा को उत्पन्न करने का प्रथम प्रयास है जो राजनीति का दर्शन कहलाने का पात्र हो सकता है।' इसमे कोई सन्देह नही कि पोलिक्रेटीकस मध्यकाल मे राजनीति का सबसे पहिला विस्तृत और क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत करता है। परन्तु जॉन के राजनीतिक दर्शन का तत्व कानूनी और सावैधानिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है, वह सरकार के सघटन, उसके

कार्यों के वितरण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध, अथवा सरकार के विभिन्न रूपों के विषय में कुछ नहीं कहता। वह केवल सरकार के एक रूप का वर्णन करता है और वह राजतंत्र है, और उसका प्रशासकीय ढाचा साम्राज्यवादी नमूने का है। यह बात कितनी विलक्षण है कि वह समाज के सामन्तवादी संघटन का उल्लेख तक नहीं करता जो कि उस समय अपनी चरम सीमा तक को पहुंचा हुआ था। उसके सिद्धान्त में सब से अधिक महत्वपूर्ण बातें चार हैं : (१) समाज की जैविक (organic) धारणा; (२) राज्य का चर्च के प्रति अधीन होना; (३) राजा का कानून के साथ सम्बन्ध तथा एक अच्छे एवं आततायी राजा में विभेद; तथा (४) आततायी की हत्या का औचित्य। इन सबका हम सक्षेप में उल्लेख करेंगे।

सामन्तवाद की विकेन्द्रीकारक प्रवृत्तियो के बावजूद जॉन ऑफ़ सेलिस्बरी सिसरो द्वारा प्रतिपादित इस विचार को अपनाता है कि राज्य 'कानून तथा अधिकारियो के विषय में एक सामान्य समझौते द्वारा एकता के सूत्र में बद्ध' एक कॉमनवेल्थ अथवा समाज है। वह राज्य को एक जैविक इकाई समझता है और मानव शरीर से उसकी उपमा देता है। उसकी परिभाषा के अनुसार 'एक ऐसा निकाय है जिसे दैविक अनुकम्पा से जीवन मिलता है, और उच्चतम न्याय जिसकी प्रेरक शक्ति है और एक सतुलित करने वाले विवेक द्वारा उस पर शासन होता है।' इस परिभाषा का अर्थ यह हुआ कि मानव शरीर के सदृश राज्य एक जीवित इकाई है जो कि विभिन्न भागो से मिलकर बना हुआ है; ईश्वर उसके जीवन का स्रोत है; उसके विभिन्न अग न्याय के सूत्र में एकताबद्ध हैं और अन्तिम बात यह है कि उसके ऊपर विवेक का शासन है। सेलिस्बरी का कहना है कि राजा राज्य मे वही स्थान रखता है जो कि शरीर में सिर; वह राज्य में सबसे ऊपर होता है और उसके ऊपर शासन करता है। धारासभा हृदय के अनुरूप है; न्यायाधीश, प्रान्तो के गवर्नर इत्यादि शरीर मे आँखों, कानों तथा जिह्वा के समान है; सिपाही उसकी बाहु हैं और किसान उसके पैर। परन्तु शरीर मे एक आत्मा भी होती है और उसी के अनुरूप राज्य मे 'वे चीजें हैं जो कि हमारे अन्दर धर्म के अधिकारों की स्थापना करती हैं और हमे ईश्वर उपासना का पाठ पढाती है।' वह आगे चलकर कहता है कि 'जो मनुष्य धार्मिक संस्कार सम्पन्न कराते हैं उनका हमे वैसा ही सम्मान करना चाहिये जैसा कि शरीर मे आत्मा का।' जिस प्रकार आत्मा सिर तथा शेष शरीर के ऊपर राज करती है उसी प्रकार राजा भी ईश्वर तथा पृथ्वी पर उसके प्रतिनिधियों के अधीन रहना चाहिये। इस प्रकार सेलिस्बरी राज्य के जैविक स्वरूप का प्रयोग राज्य को चर्च के अधीन करने के लिए करता है। इस अधीनता का एक और प्रमाण यह भी है कि राजा के निर्वाचन मे दैविक तत्व अथवा पादरीगण तथा जन-साधारण का मत एक होता है। राजा को शासन का प्रधान ईश्वर बनाता है, और उसके लिए समस्त जनता की स्वीकृत पादरियों द्वारा पद-प्रतिष्ठान के संस्कार द्वारा पूर्ण हो जाती है।

जॉन ऑफ सेलिस्बरी राज्य की चर्च के प्रति अधीनता एक दूसरे ढंग से भी सिद्ध करता है। दो तलवारों के सिद्धान्त का एक नवीन प्रयोग करके वह इस परिणाम पर पहुंचता है कि राजा चर्च का एक अभिकर्ता है और इसलिये वह उसके अधीन है। उसका कहना है कि प्रारम्भ मे चर्च के पास लौकिक तथा आध्यात्मिक, दोनों तलवारें थी। ईसा ने, जिसके पास राजा और पादरी, दोनों की शक्तियाँ थी, उन्हे पीटर को दे दिया; यदि पीटर को केवल आध्यात्मिक शक्ति ही दी जाती तो 'कुंजियां' (Keys) बहुवचन शब्द का प्रयोग न किया जाता। चर्च ने आध्यात्मिक शक्ति को अपने पास रख लिया और लौकिक शक्ति को राजा को सौंप दिया। शर्त यह थी कि राजा उस शक्ति का प्रयोग चर्च की ओर से और उसकी इच्छानुसार करेगा। इस विषय मे सेलिस्बरी के शब्द उद्धरणीय हैं: 'इस शक्ति को राजा चर्च से प्राप्त करता है; यद्यपि चर्च के पास किसी भी प्रकार से रक्तमय तलवार नही है, तथापि उस तलवार के ऊपर उसका आधिपत्य है। किन्तु वह उसे राजा के हाथों द्वारा प्रयोग करता है जिसे कि वह शरीर के ऊपर दमनकारी शक्ति प्रदान कर देता है जबकि आध्यात्मिक विषयों का अधिकार पादरियों के लिए सुरक्षित रख लेता है। इसलिये राजा एक तरह से चर्च का ही एक कर्मचारी है जो कि पवित्र कार्य का वह भाग करता है जो कि पादरियो के लिए शोभनीय नही है।'* इस उद्धरण में इस बात का स्पष्ट और निश्चित दावा किया गया है कि लौकिक शक्ति का स्वरूप निम्नतात्मक है और राज्य चर्च के अधीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने मे कि ईश्वरीय आदेश द्वारा लौकिक विषयों के ऊपर पोप का अधिकार है इन्नोसेण्ट चतुर्थ ने जॉन ऑफ सेलिस्बरी के विचार को ही अधिक सुसंगठित रूप दिया।

यह सिद्धान्त कि राजा कानून के अधीन है और वह उसका सेवक, सेलिस्बरी के विचार का उतना ही आधारभूत तत्व है जितना कि राज्य का जैविक सिद्धान्त; यदि हम इस राजनीतिक विचार को उसकी मुख्य देन माने तो अनुचित न होगा। उसका विश्वास था कि 'राजा सार्वजनिक उपयोगिता को पूरा करने वाला कर्मचारी तथा न्याय का सेवक' था। उसमे समस्त प्रजाजन की शक्तियाँ संगृहीत थी ताकि उसमें प्रत्येक की आवश्यकता का पता लगाने और उसकी पूर्ति करने का बल आ सके। इसका तात्पर्य यह है कि राजपद कोई निजी विषय नही है बल्कि एक सार्वजनिक पद

* "This sword (coercive jurisdiction in the temporal matters), then the prince receives from the hand of the church, although she herself in no sense holds the sword of blood She nevertheless possesses this sword, but she uses it by the hand of the prince on whom she confers the coercive power over the body, reserving the authority over spiritual things for herself in the pontiffs. The prince, therefore, is in a sense the minister of the priestly office, and one who performs that part of the sacred functions which seems unworthy of the hands of the priesthood."

—Quoted by McIlwain: *The Growth of Political Thought in the West*, page 229.

है और उसका प्रयोग केवल उन्ही उद्देश्यो के लिए होना चाहिये जिनके लिए उसका अस्तित्व है। मध्यकाल में राजा की शक्ति के ऊपर कोई सांविधानिक नियन्त्रण और सीमायें नही थी ; राजा को शक्ति को सीमित करने का मध्यकालीन विचारकों के पास एक ढंग था और वह है उसके ऊपर कानून के नैतिक बन्धन लगाना। सेलिस्बरी के अनुसार यह कानून स्वय राजा का बनाया हुआ विधेयात्मक कानून नही है, बल्कि शाश्वत न्याय का दैविक कानून है। स्टोक्स के प्राकृतिक कानून के सदृश यह नित्य, अपरिवर्तनीय तथा समस्त मानवीय कानूनो से स्वतन्त्र है। समस्त राजाओं को इसके सामने भुकना चाहिये। वह राजा जो इसे अपनी आँखों और हृदय में नही रखता, इसके अनुसार आचरण नही करता और जनहित की जगह स्वार्थपूर्ति में रहता है, अत्याचारी है। इस प्रकार एक सच्चे राजा तथा आततायी में भेद का आधार न्याय के शाश्वत कानून का पालन या अवहेलना करना है। इस कानून को समझने, इसकी व्याख्या करने तथा अपने कानूनो को इसके अनुसार बनाने के लिए राजा को पादरियों के ऊपर निर्भर करना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से भी राजा को चर्च के अधीन रखने का प्रयत्न किया गया है।

एक सच्चे राजा और एक आततायी में विभेद प्राचीन लेखकों ने भी किया था, यूनानी विचार में तो यह एक सामान्य बात थी। किन्तु जॉन के हाथो में पड कर यह अधिक तीव्र हो उठा। परन्तु उसमें और उसके पूर्ववर्तियो में जो चीज मुख्य रूप से विभेद करती है वह है उसका आततायी को वध करने का सिद्धान्त। उसकी धारणा है कि अत्याचारी शासक का वध कर डालना जनता के लिए न केवल उचित और विहित है, बल्कि श्रेयस्कर है। इस मन्तव्य का समर्थन करने के लिए उसकी घोर निन्दा की जाती है। एक धर्म पुरोहित के लिए ऐसा कहना बडा गर्हित और हेय समझा जाता है। उसकी विचार पद्धति में इस सिद्धान्त का कोई मुख्य स्थान नही है ; यह तो इस कथन का एक तार्किक परिणाम समझा जाता है कि राजा तभी तक राजा है जब तक कि वह न्यायपूर्वक शासन करता है। इस बात मे सेलिस्बरी के पहिले भी विश्वास किया जाता था और उसके बाद में भी इसे मान्य समझा जाता रहा है। उसने तो केवल स्थिति को अन्य लेखको की अपेक्षा अधिक स्पष्टता और अधिक जोरदार शब्दों मे पेश किया है।

<u>सन्त टामस एक्वीनास</u> (१२२७–१२७४ ई०)—अब हम सन्त टामस एक्वीनास पर आते हैं। एक्वीनास न केवल १३वीं शताब्दी का महानतम व्यक्ति है बल्कि उसे मध्य काल के समस्त विचारकों में भी महानतम माना जाता है। फॉस्टर उसे समस्त ससार के क्रमबद्ध दार्शनिको में स्थान देता है। उसके अनुसार एक्वीनास की विशेषता यह थी कि उसने विचार की विभिन्न धाराओं को, जो कि पहिले अलग-अलग प्रवाहित थी, एक ही प्रणाली से संश्लिष्ट करके एक कर दिया। वह मध्य काल के सम्पूर्ण विचार का प्रतिनिधित्व करता है ; अन्य किसी भी मध्यकालीन विचारक को यह श्रेय नही दिया जा सकता।

टॉमस के कानून के सिद्धान्त मे तथा इस बात से कि चर्च की शिक्षाओं तथा अरस्तु के दर्शन में ताल बैठाना उसका मुख्य कार्य था, यह बात सिद्ध है कि उसका कार्य समन्वय का कार्य है। याद रहे कि अरस्तु की 'ईथिक्स' तथा 'पॉलिटिक्स' इत्यादि कृतियाँ पश्चिमी ससार को १२वीं शताब्दी के मध्य में अरब तथा यहूदी वाहको द्वारा प्राप्त हुई। प्रारम्भ मे चर्च ने उनके लेखों को सन्देह की दृष्टि से देखा और उनके ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिया। यह नीति प्रभावहीन सिद्ध हुई; और चर्च ने बुद्धिमत्तापूर्वक ईसाई सिद्धांतो के अनुसार उनकी व्याख्या करने की सोची। यह उस युग का मुख्य बौद्धिक धन्धा बन गया। अल्बर्ट महान् ने, जो कि टॉमस का गुरु था, अपने समकालीनों के लाभ के लिए अरस्तु के दर्शन का प्रचार करना अपना जीवन ध्येय बना लिया। अपने महान् गुरु के चरण-चिन्हों पर चलते हुये टॉमस एक्वीनास भी ईसाईकृत अरस्तु (Christianised version of Aristotle) को संसार के सामने रखने के कार्य मे लग गया। ऐसा करने का प्रयत्न उसने एक ऐसी दर्शन धारा की रचना करके किया जिसमें विज्ञान, दर्शन तथा धर्मशास्त्र एक ही सम्पूर्ण के अभिन्न अंग बन जायें और जो अपने उचित सम्बन्धों में दिखाई पड़े तथा समस्त विश्व ईश्वर के साथ सम्बन्ध मे देखा जाये। उसके इस लक्ष्य की बहुत बड़ी हद तक पूर्ति उसकी महान् कृति, 'सम्मा थ्योलौजिका' (Summa Theologica) में हुई जो कि एक बहुत ही वृहद् ग्रन्थ है जिसमें तीन भाग और लगभग दस लाख शब्द हैं। यह विचार का भव्य और विशाल प्रासाद है जिसमे अफलातून की परम्पराओं तथा अरस्तु के दर्शन का रोमन कानून, बाइबिल की शिक्षाओं, चर्च फादर्स तथा अन्य महान् धर्मशास्त्रियों के कथनों के साथ समावेश हुआ। इस ग्रन्थ मे टॉमस ने पाप, अवतार, मृत प्राणियों का पुनर्जागरण, तपस्या, श्रद्धा, ऐक्य, अनैक्य, ईश्वर, पूर्णता तथा सृष्टि के सदृश विषयों के अतिरिक्त कानून, न्याय तथा सरकार की विवेचना की है। इस विषय सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्मा थ्योलौजिका मुख्य रूप से एक राजनीतिक ग्रन्थ ही नहीं है बल्कि उसमें टॉमस की समस्त विचारधारा समाविष्ट है। उसके राजनीतिक विचार सम्मा थ्योलौजिका में, कानून तथा न्याय की विवेचना में उसके 'कमेण्ट्रीज ऑन अरिस्टोटल' (Commentaries on Aristotle) में तथा उसके अपूर्ण ग्रन्थ 'डी रेजीमीन प्रिंसिपम' (De Ragimme Principum) में पाये जाते हैं। उसके राजनीतिक विचारो का वर्णन करने से पहिले उसकी दार्शनिक धारा तथा किस प्रकार उसने बाइबिल की शिक्षाओं और अरस्तु की आधारभूत शिक्षाओं का सम्मिश्रण किया इस सम्बन्ध में दो शब्द कह देना उपयुक्त होगा।

टॉमस के अनुसार समस्त मानव ज्ञान एक इकाई है; इसकी तुलना एक पिरामिड (Pyramid) से की जा सकती है जिसका आधार बहुत से विशिष्ट विज्ञानो से मिलकर बना है जिसमे से प्रत्येक का अपना एक अध्ययन विषय है। उनके ऊपर दर्शन है जो उन सार्वभौमिक सिद्धान्तों का निर्माण करता है जो कि विभिन्न विज्ञानो के आधार हैं। यह किसी विशेष, जैसे कि पदार्थ तथा उसकी गति, वनस्पति

जीवन अथवा मनुष्य अथवा सौर मण्डल (Solar System) इत्यादि का अध्ययन नहीं करता ; बल्कि यह सम्पूर्ण विश्व का अध्ययन करता है और उसके विषय मे एक सश्लेषणात्मक दृष्टिकोण निर्धारित करता है। विशिष्ट विवेक, विशिष्ट विज्ञानो के जानने का साधन है ; दर्शन का साधन सामान्य विवेक है। किन्तु जबकि यूनानी दार्शनिक दर्शन को ज्ञान का शिखर और विशुद्ध विवेक को उसका सर्वोत्कृष्ट साधन समझता था, टॉमस उससे एक कदम आगे बढ़ता है और कहता है कि दर्शन के ऊपर भी धर्मशास्त्र है जिसका साधन श्रद्धा और अन्तर्ज्ञान है, विवेक नही। जहाँ तक अरस्तु जाता है, उसका कहना सही है ; इसमें कोई सन्देह नही कि विवेक द्वारा ही हमे प्रकृति जगत के विषय मे सत्य और ज्ञान प्राप्त होते है। परन्तु यह सम्पूर्ण सत्य और सम्पूर्ण ज्ञान नही है ; उनके परे भी एक चीज है जिसका अन्तर्ज्ञान हमे केवल श्रद्धा द्वारा प्राप्त हो सकता है ; यह हमें धर्मशास्त्र मे मिलता है। दर्शन तथा धर्मशास्त्र, विवेक तथा श्रद्धा मे कोई विरोध नही है। "विज्ञान तथा दर्शन जिस प्रणाली को आरम्भ करते है, धर्मशास्त्र उसे पूर्ण करता है ; परन्तु उसकी तारतम्यता को वह कभी नष्ट नही करता। श्रद्धा विवेक की सिद्धि है। वे दोनो साथ मिलकर ज्ञान मन्दिर का निर्माण करते हैं परन्तु कही भी वे एक दूसरे से नही टकराते, एक दूसरे के विरुद्ध कार्य नही करते।"*

अरस्तु के अन्तिम कारण अथवा लक्ष्य के सिद्धान्त को टॉमस स्वीकार करता है। प्रकृति की प्रत्येक चीज़ एक आन्तरिक प्रेरणा के कारण अपने स्वरूप को पहिचानने तथा पूर्णता प्राप्त करने के लिए कार्य करती है। प्रकृति का एक भाग होने के नाते मनुष्य का एक ध्येय अथवा उद्देश्य है उसे प्राप्त करना। अरस्तु के अनुसार यह उद्देश्य बौद्धिक चिन्तन है क्योंकि बुद्धि ही मनुष्य का सर्वोच्च अवयव है। मनुष्य की सच्ची प्रकृति के बारे मे ईसाई धर्म द्वारा दिये हुये अधिक पूर्ण ज्ञान मे टॉमस अरस्तु से आगे बढ़ता है। वह कहता है कि मनुष्य का सर्वोच्च भाग बुद्धि नही बल्कि आत्मा है ; इसलिये मानव जीवन का सच्चा लक्ष्य आत्मा की मुक्ति होना चाहिये, संसार के विषय मे बौद्धिक चिन्तन नही। यदि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी प्रतिमूर्ति ही बनाया है तो मानव जीवन का तत्व आत्मा मे खोजना चाहिये, बुद्धि मे नहीं, और जीवन का लक्ष्य भगवद्ज्ञान होना चाहिये, प्रकृति का ज्ञान नही। ईश्वर ज्ञान अथवा आत्मा की मुक्ति बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती—'प्रभु की कान्ति इतनी तीव्र है कि मानव मस्तिष्क उसे देखकर चौंधिया जाता है'—तथा अनुकम्पा उसके पूरक होने चाहियें। अरस्तु मुक्ति, श्रद्धा तथा अनुकम्पा इत्यादि को अपने दर्शन में कोई स्थान नही दे सकता था क्योंकि बुद्धिपाक मस्तिष्क से अलग तथा ऊपर आत्मा जैसी चीज़ का उसे कोई

the beginning, but never destroy its continuity. Faith is the fulfilment of reason. Together they build the temple of knowledge but nowhere do they conflict or work at cross purposes."
—Sabine; *op. cit.*, page 248.

मनुष्य के विषय में जो कुछ कहा है वह तो गलत नही है किन्तु उसका दोष यह है कि उसकी दृष्टि अनुकम्पा के उस जगत तक न जा सकी जो कि प्रकृति जगत से परे है।

यही बात टॉमस के राजनीतिक और सामाजिक दर्शन के विषय में कही जा सकती है। इस क्षेत्र में भी अरस्तु ने जो कुछ कहा है उसे तो वह सही मानता है; परन्तु उसे वह अन्तिम सत्य नही मानता, ईसाई धर्म द्वारा उद्घाटित सत्य उसका पूरक है। टॉमस मानव समाज को 'लक्ष्य और उद्देश्य की एक ऐसी व्यवस्था समझता है जिसमे निकृष्ट उत्कृष्ट की सेवा करता है और उत्कृष्ट निकृष्ट का निर्देशन करता है।' वह ईसाई धर्म के इस परम्परागत विश्वास को स्वीकार नही करता कि राज्य का जन्म पाप तथा मनुष्य के पतन के कारण हुआ है; अरस्तु का अनुकरण करते हुये वह उसे एक स्वाभाविक विकास समझता है, जो मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का परिणाम है। वह राज्य को 'शुभ जीवन के लिए सेवाओ का पारस्परिक आदान-प्रदान समझता है जिसमे कतिपय उद्यम अपना-अपना योग देते है।' अरस्तु से वह इस बात में भी सहमत है कि राज्य सामाजिक कल्याण का एक विधेयात्मक अग है और उसका उद्देश्य नागरिकों के लिए शुभ जीवन की व्यवस्था करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह इस ईसाई धारणा का खण्डन करता है कि सरकार का अस्तित्व केवल मनुष्य की पापमय प्रवृत्तियो को नियन्त्रित करने के लिए है। राज्य के जन्म तथा कार्यों के सम्बन्ध मे यह विचार एक आधारभूत महत्व रखता है, इससे यह सिद्ध होता है कि पापमय प्रकृति की धारणा से टॉमस कितना दूर चलकर इस विचार पर आया कि मनुष्य में अन्तर्निहित महान् शक्तिया है जिनका विकास समाज मे रहकर और दूसरों के साथ सहयोग करके किया जा सकता है। परन्तु टॉमस का आग्रह यह है कि राज्य को जिस शुभ जीवन की उन्नति करनी है उसकी व्याख्या ईसाई धर्म से मुक्ति सिद्धान्त के प्रकाश मे करनी चाहिये। वह इस बात से इकार नही करता कि राज्य अथवा एक व्यक्ति का सासारिक सुख की कामना करना उचित है; वह तो केवल इस बात का आग्रह करता है कि सासारिक सुख पर एक श्रेष्ठतर तथा उच्चतर भविष्य जीवन तथा आत्म-मोक्ष को सदा तरजीह दी जानी चाहिये। समाज तथा राज्य का संघटन इसी पारलौकिक लक्ष्य को दृष्टि मे रखते हुये किया जाना चाहिये। सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के उस लक्ष्य की प्राप्ति मे योग देने के लिए एक उच्चतर सामाजिक सघटन अर्थात् चर्च होना चाहिये जो कि उसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्तें निर्धारित कर सके। एक पूर्ण मानव समाज मे दो सघटन होने चाहियें, एक लौकिक और दूसरा धार्मिक, और पहिला दूसरे के अधीन होना चाहिये। अरस्तु के मस्तिष्क मे केवल लौकिक आनन्द (इसका एक महत्त्वपूर्ण नैतिक स्वरूप) था; इसलिये वह लौकिक राज्य का सिद्धात ही दे सकता था; उसके सामाजिक सघटन की योजना में चर्च का कोई स्थान नही था। चर्च को सामाजिक सघटन के शिखर पर रखकर एक्वीनास अरस्तु का परिशोधन करता है। उसके लिये चर्च राज्य का प्रतिद्वन्द्वी नही है, बल्कि उसका पूरक है। अरस्तु का खण्डन करना आवश्यक नही है। राज्य के जन्म, स्वभाव, आवश्यकता

तथा कार्यों के विषय मे उसने जो कुछ कहा है ठीक है। हां, उसे एक अधिक व्यापक दर्शन मे सश्लिष्ट करना आवश्यक है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि टॉमस ईसाई धर्म के इस परम्परागत विचार का खण्डन करता है कि राज्य एक पाप है और अरस्तु की इस धारणा को अपनाता है कि वह एक विधेयात्मक शुभ है। इसके फलस्वरूप वह अरस्तु की भांति राज्य के कार्य-क्षेत्र को व्यापक बनाना और उसे एक शिक्षात्मक लक्ष्य सौंपना चाहता है। वह अनुभव करता है कि क्योंकि एक सुखी लौकिक जीवन का एक आधार आर्थिक है इसलिये राज्य को विवश होकर आर्थिक क्षेत्र मे प्रवेश करना, व्यापार को नियन्त्रित करना, उचित मजदूरी और मूल्य निर्धारित करना तथा अत्यधिक लाभ को रोकना पड़ता है। निर्धनों की उचित देखभाल करना भी राज्य का कर्तव्य है। इस प्रकार टॉमस एक्वीनास सामाजिक विवेचन को राज्य का एक मुख्य कार्य समझता है। वह एक कदम आगे बढ़ता है और कहता है कि यदि राज्य का कार्य ऐसी स्थिति जुटाना है जिसमें चर्च आत्म-मुक्ति के अपने कार्य को समुचित रूप से सम्पादित कर सके तो उसे नागरिकों को एक ऐसे अनुशासन मे रखना चाहिये जिससे वे नैतिक रूप से श्रेष्ठतर मनुष्य बन सकें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवन के प्रत्येक विभाग में एक्वीनास 'यूनानी आधार पर एक ईसाई भवन खड़ा करता है। उदाहरण के लिये, वह अरस्तु के प्रकृति दर्शन को स्वीकार करता है; प्रकृति के विषय मे अरस्तु जो कुछ कहता है वह गलत नहीं है; परन्तु उसका दोष यह है कि वह यह नही देख पाता कि प्रकृति जगत ही समस्त विश्व नही है, बल्कि उसके ऊपर भी एक अनुकम्पा का जगत है। इसी प्रकार आचार-शास्त्र मे भी अरस्तु ने मनुष्य के अपने प्राकृतिक लक्ष्य, अर्थात् आनन्द प्राप्त करने के मार्ग का विवरण ठीक ही दिया है। उसका दोष यह है कि वह ईसाई धर्म के द्वारा प्रतिपादित इस सत्य को नही देख पाया कि मनुष्य का एक अतिप्राकृतिक लक्ष्य भी है जो कि मोक्ष और भविष्य मे आनन्द प्राप्त करता है और इहलौकिक आनन्द का उद्देश्य इस लक्ष्य के अधीन होना चाहिये।'*

टॉमस के कानून सम्बन्धी विचारो का वर्णन करने से पहिले यह देखना आवश्यक है कि उसके युग की मुख्य समस्या, अर्थात् चर्च तथा राज्य के सम्बन्ध के विषय मे उसके क्या विचार थे। इस विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि टॉमस धर्म की प्रभुता का समर्थक था। परन्तु उसके द्वारा अरस्तु की इस बात को कि राज्य एक स्वाभाविक विकास है, स्वीकार करने का परिणाम यह निकलता है कि वह १३वीं शताब्दी में प्रचलित इस धारणा का समर्थन कदापि नही करता कि सम्राट् अपना अधिकार पोप से प्राप्त करता है। यद्यपि वह पोप के प्लेनीट्यूडो पोटस्टेटिस के सिद्धान्त का समर्थन करता है और यह मानता है कि कुछ स्थितियां ऐसी हो सकती है जिनमें पोप को सम्राट् के पदच्युत करने का अधिकार है तथापि उसके समस्त विचार दर्शन से यह परिणाम निकलता है कि वह पोप को राज्य के ऊपर कोई प्रत्यक्ष

* Foster: *Masters of Political Thought*, Vol. I, pages 241—42.

अधिकार नहीं देता। एक स्थान पर वह कहता है कि आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों शक्तियों का एक सामान्य दैविक मूल है और निरे लौकिक विषयों में आध्यात्मिक की अपेक्षा लौकिक शक्ति की आज्ञा का पालन ही करना चाहिए। हमें कार्लाइल की इस धारणा को मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि सन्त टॉमस एक्वीनास के साधारण और परिपक्व निर्णय के अनुसार लौकिक विषयों में पोप का प्रत्यक्ष नहीं, अप्रत्यक्ष अधिकार है। वह चर्च के सर्वमान्य आध्यात्मिक अधिकार को कानूनी प्रभुता का रूप नहीं देना चाहता था। यह उसकी दर्शन धारा के मूलभूत तत्त्व सामंजस्य और और ताल-मेल के ठीक अनुरूप ही था। हम कह सकते हैं कि टॉमस एक नम्र पोपवादी था।

कानून के विषय में टामस के विचार— यदि राज्य को अपने नागरिकों को नैतिक रूप से श्रेष्ठतर बनने के कर्तव्य का पालन करना तथा जीवन के सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति में उनकी सहायता करना है तो राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कानून के अनुसार होना चाहिये। यदि शासक कानून के नैतिक उद्देश्य की अवहेलना करता है और उसके नियन्त्रण से स्वच्छन्द हो जाता है, तो वह अत्याचारी बन जाता है। टॉमस को भी आततायीतंत्र से उतनी ही घृणा थी जितनी कि जॉन ऑफ सेलिस्बरी को, यद्यपि वह आततायी की हत्या का उपदेश नहीं करता। आततायी की अवज्ञा करना उचित है यदि उसमें नैतिक संयम से काम लिया जाये और उससे सामाजिक अव्यवस्था न फैले।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है ; वह कानून क्या है जिसकी अवहेलना करने से कोई शासन अत्याचारी हो जाता है और जिसका पालन करना उसे नैतिक औचित्य प्रदान करता है। यह प्रश्न हमें एक्वीनास के राजनीतिक सिद्धान्त के मर्म तक ले जाता है ; क्योंकि अपने समय की विचार प्रवृत्ति के अनुसार उसने भी राज्य की व्याख्या कानून के आधार पर की, और कानून की व्याख्या राज्य के आधार पर नहीं की जैसा कि अधिकतर आधुनिक लेखक करते हैं। अपने ग्रंथ सम्मा थ्योलौजिक में वह कानून के स्वरूप तथा स्रोत की विवेचना अन्य किसी विषय की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ करता है।

जॉन ऑफ सेलिस्बरी के प्रसंग में यह बताया गया था कि वह कानून को, जिसका कि राजा एक सेवक है, एक शाश्वत न्याय का दैविक नियम तथा प्राकृतिक विवेक द्वारा उद्‌भासित सार्वभौतिक सिद्धांत समझता था। मानवकृत कानून को भी हम उसी की एक व्युत्पत्ति मान सकते हैं। ऐसा ही विचार अफलातून और अरस्तु का भी था जोकि कानून को विशुद्ध, तृष्णारहित विवेक समझते थे और उसमें एक व्यक्ति रहित गुण का आरोप करते थे। यह प्रचलित आधुनिक धारणा के एकदम विपरीत है जिसके अनुसार कानून सर्वप्रभुत्वपूर्ण शासक की आज्ञा का नाम है। दूसरे शब्दों में, सेलिस्बरी के लिए कानून की मान्यता उसके विवेकशील अथवा नैतिक होने के कारण है, किंतु आधुनिक परिभाषा के अनुसार नैतिक औचित्य कानून का कोई अंग नहीं है। आज

सत्य के विभिन्न स्तरो पर चार विभिन्न रूपों मे अभिव्यक्त होता है। कानून के इन चार विभिन्न प्रकारों के एक सक्षिप्त विवरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।

शाश्वत कानून (Eternal Law)—शाश्वत कानून वह दैविक विवेक है जोकि विश्व-व्यापी स्तर के ऊपर वर्तता है; यह वह योजना है जिसके अनुसार ईश्वर ने ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है और जिसके द्वारा वह उसे कायम रखता है। अपने पूर्णतम रूप में यह केवल ईश्वर के मस्तिष्क मे पाया जाता है, परन्तु यह विश्व मे निरन्तर अभिव्यक्त हो रहा है जो कि धीरे-धीरे विकसित होकर पूर्णता की ओर जा रहा है। समस्त सृष्टि—देव, मानव, पशु, वनस्पति तथा जड पदार्थ—इस कानून के अधीन है। क्योकि मनुष्य की बुद्धि सीमित है, इसलिये वह शाश्वत कानून को उसके पूर्णतम रूप मे कभी वहन नही कर सकती। तथापि ईश्वर मनुष्य को इसका कुछ आभास प्राकृतिक कानून के रूप मे देता है ताकि मनुष्य उसका अनुसरण कर सके और सृष्टि के साथ अपने को सन्निद्ध कर सके।

प्राकृतिक कानून (Natural Law)*—नैसर्गिक कानून विश्व मे अभिव्यक्त दैविक विवेक है; यह रचित विश्व मे शाश्वत कानून का प्रतिबिम्ब है। वह मानव हृदय मे उसी प्रकार से अङ्कित है जिस प्रकार की पशु, वनस्पति तथा जड पदार्थ के अमानवी जगत मे। परन्तु विश्व के दो विभागो मे इसकी अभिव्यंजना मे बहुत बड़ा अन्तर है; मानव मे यह अधिक सुन्दर रूप में पाया जाता है। पशु, पौवे इत्यादि एक अचेतन तथा यान्त्रिक ढग से ईश्वरीय विवेक के अनुसार कार्य करते है; वे एक विवेकहीन भाव तथा एक आन्तरिक प्रकृति द्वारा अपने आपको सुरक्षित रखने, लाभ प्राप्त करने तथा हानि से बचने की चेष्टा करते है। अपने चरित्र का निर्देशन करने के लिए उन्हे आत्म सुरक्षा अथवा शुभाशुभ का कोई ज्ञान नही होता। आधुनिक परिभाषा में हम प्राकृतिक कानून उन विभिन्न पद्धतियो को कह सकते है, जिनमे कि ईश्वर अमानवी जगत के व्यापार को विनियमित तथा निर्दिष्ट करता है। वे दैविक विवेक की अभिव्यंजना है; वे आवश्यक और अपरिवर्तनीय है, और उनका कोई अपवाद नही है। इसके विपरीत, मनुष्य दैविक विवेक मे अधिक प्रत्यक्ष तथा सचेत रूप से भाग लेता है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, ईश्वर ने शाश्वत कानून का कुछ आभास मनुष्य को दिया है जिससे वह उसे पहचान सके और इच्छापूर्वक उसके अनुसार आचरण कर सके। अपना स्वयं का तथा दूसरो का जीवन सुरक्षित रखने की उसमे सचेत इच्छा है; शुभाशुभ, पुण्य तथा पाप मे विभेद करने तथा शुभ और पुण्य को अपनाने और अशुभ तथा पाप से बचने की ईश्वर ने उसे शक्ति प्रदान की है। मनुष्य मे दैविक विवेक की इस अभिव्यंजना को हम नैसर्गिक कानून (Natural Law) कह सकते है जो कि प्राकृतिक कानून (Laws of Nature) मे भिन्न है जिनका कार्य प्रकृति के विवेकहीन भाग के व्यापार का नियमन करना है। याद रहे कि मानव हृदय मे

* Natural Law का अधिकतर अनुवाद प्राकृतिक नियम किया जाता है पर यह उचित नहीं जान पड़ता। हमने इसका अनुवाद 'नैसर्गिक कानून' किया है।

प्रकित नैसर्गिक कानून निश्चित नियमो की अपेक्षा आदर्शों की व्यवस्था अधिक है। यह कहना गलत न होगा कि यह मानव जीवन के लक्ष्य तथा मानव संस्थाओं के मापदण्ड को निर्धारित करता है; साध्य पर पहुंचने के लिए साधनों का निर्धारण यह नहीं करता। यह वह प्रकाश है जिसके द्वारा मनुष्य दैविक योजना की सिद्धि मे भाग ले सकता है।

दैविक कानून (Divine Law)—शाश्वत तथा नैसर्गिक कानून (उन दोनों रूपों मे जिनमें कि यह मनुष्य तथा प्रकृति के विवेकहीन भाग में अभिव्यक्त होता है) इस दृष्टिकोण से दोनो ही शाश्वत हैं कि वे ईश्वरीय बुद्धि तथा रचित संसार के साथ-साथ चलने वाले है। ऐसा कोई समय नही था जबकि वे न हों और इसलिये उन्हें किसी ने बनाया हो; वे अनादि है। सारांश यह कि उनमें से कोई भी विधेयात्मक नही है। एक विधेयात्मक कानून वह होता है जिसे किसी समय विशेष पर बनाया जाये; वह कुछ ऐसे कामों को करना अनिवार्य बना देता है जो कि पहिले अनिवार्य नही थे। इस बात में ये दैविक कानून तथा मानव कानून से, जो कि दोनों विधेयात्मक कानून है, भिन्न हैं। मानव कानून तो स्पष्टत: एक विधेयात्मक कानून है ही, इसके लिए तो किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं। किन्तु दैविक कानून किस प्रकार विधेयात्मक है, यह बात उतनी स्पष्ट नही है; इसलिये इसके विषय मे दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा; नैसर्गिक कानून मे जिसके द्वारा मनुष्य अपने आचरण को नियमित करता है, जो व्यापक और आधारभूत सिद्धान्त होते है, मानव जीवन की समस्त स्थितिया और छोटी-छोटी बात उनके अन्तर्गत नही आ सकतीं। प्रत्येक काल और परिस्थिति के लिए वे एक पूर्ण विधान का काम नही दे सकती। इसका कारण यह है कि अपनी सीमित बुद्धि से मनुष्य उन नियमों के केवल एक छोटे से अंश को ही जान सकता है जिनके द्वारा विश्व का नियमन तथा शासन होता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पहिले ही कह चुके है, वे मनुष्य के सामने केवल जीवन लक्ष्य रखते है, उस तक पहुंचने के साधन निर्धारित नहीं करते। इसलिये उसे प्राकृतिक कानून की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक नियम संहिता की आवश्यकता है। एक्वीनास के अनुसार इस आवश्यकता की पूर्ति दैविक कानून तथा मानव कानून करते है। दैविक कानून के अन्तर्गत ईश्वर के वे आदेश आते हैं जो कि अन्तर्बुद्धि द्वारा मनुष्य को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह ईश्वर-प्रदत्त एक उपहार है, मानव बुद्धि की खोज नही जैसा कि प्राकृतिक कानून है। ईश्वर ने अपने कानून का ज्ञान यहूदियों को सिनाई पर्वत पर, ईसाइयो को ईसा द्वारा, मुसलमानो को मुहम्मद द्वारा तथा हिन्दुओ को वेदो द्वारा कराया। यह जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को निर्धारित करता है, लौकिक पक्ष को इतना नही। विभिन्न जातियो और कालों में दैविक कानून का रूप तथा तत्व भिन्न-भिन्न होता है। इसके विपरीत नैसर्गिक कानून मानव मात्र के लिए एक है; वह हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, यहूदियों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के लिए एक से ही कर्तव्य निर्धारित करता है। किन्तु नैसर्गिक कानून और दैविक कानून में कोई

विरोध नही हो सकता ; ईश्वर अपनी इच्छा द्वारा ऐसा काम करने का आदेश नही दे सकता जो कि विवेकसम्मत न हो। परमात्मा द्वारा मिला हुआ ज्ञान (Revelation) विवेक को नष्ट नही करता, वह उसका पूरक है। सैवाइन के शब्दों में 'टॉमस की प्रणाली विवेक तथा श्रद्धा के ऊपर आधारित है, किन्तु उसे इस बात में कभी सन्देह नही हुआ कि दोनो मिलकर एक ही भवन निर्माण करते हैं।'

मानवीय कानून (Human Law) —टॉमस अन्य प्रकार के कानूनो की अपेक्षा मानवीय कानून का अधिक व्यापक विवरण देता है और तत्परता के साथ नैसर्गिक कानून के साथ उसका सम्बन्ध बतलाने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार नैसर्गिक कानून से अछूते बचे हुए क्षेत्र के लिए मानवीय कानून आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए नैसर्गिक कानून यह घोषणा कर सकता है कि हत्या और चोरी करना अपराध है ; किन्तु वह उनकी निश्चित परिभाषा नही दे सकता और उनके लिए दण्ड निर्धारित नही कर सकता। इसके लिए मानवीय कानून आवश्यक है। दूसरी बात यह कि नैसर्गिक कानून तथा दैविक कानून का तत्त्व विशिष्ट रूप से मानव स्वभाव पर निर्भर नही करता, इसलिये हमे ऐसे विशिष्ट नियमो की आवश्यकता है जो कि विशिष्ट स्थितियो मे प्रयोग किये जा सकें। मानवीय कानून ऐसे नियम प्रदान करता है। जैसे कि पहिले ही कहा जा चुका है, मानवीय कानून विधेयात्मक है ; यह एक निश्चित समय पर बनाया जाता है और यह कुछ ऐसी बातो को न्यायपूर्ण और कुछ को अन्यायपूर्ण घोषित करता है जो कि इसके बनाने से पहिले न तो न्यायपूर्ण थी और न अन्यायपूर्ण, जैसे कि शस्त्र रखना अथवा समाचार पत्रों में सामग्री विशेष को प्रकाशित करना।

मानवीय कानून समाज के संरक्षक अर्थात् राजा द्वारा लागू किया जाता है। परन्तु कानून बनाने में राजा मनमानी नही कर सकता ; उसे कुछ सीमाओ के अन्दर रहकर कार्य करना पड़ता है। पहिली बात तो यह कि मानवीय कानूनों में कोई बात बुद्धि अथवा विवेक विरोधी नही होनी चाहियें क्योंकि वे मनुष्य के लिए बनते है जो कि अपनी बुद्धि के कारण ही पशु से भिन्न है। टॉमस स्पष्ट रूप से कहता है कि मानवीय कानून बुद्धि के अध्यादेश है। क्योंकि नैसर्गिक कानून मानव स्तर पर दैविक विवेक की अभिव्यञ्जना है ; इसलिये मानवीय कानून को नैसर्गिक कानून से भी असंगत नही होना चाहिये। इस प्रकार टॉमस मानवीय कानून को नैसर्गिक कानून के अधीन रखता है। एक नागरिक एक ऐसे कानून को मानने के लिए बाध्य नही है जो कि बुद्धि के विरुद्ध है। इस प्रकार राजकीय कानून को मानने का कर्तव्य असीम और असर्त नही है। "मनुष्य शासको की आज्ञा का पालन करने के लिए उसी हद तक बाध्य हैं जहाँ तक कि वह न्याय की माग हो। इसलिये यदि उनका शासनाधिकार न्यायोचित नही है, बल्कि अनुचित रूप से छीना हुआ है, अथवा यदि उनका आदेश न्यायोचित नही है तो उनकी प्रजा उनका पालन करने के लिए बाध्य नही है। हाँ, यदि संयोगवश किसी दुष्परिणाम से बचने के लिए ऐसा करना पड़े तो दूसरी बात है।" दूसरी बात

यह कि कानून सामान्य हित के लिए बनाये जाने चाहिये, व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष के हित के लिए नही। ऐसा होने की सबसे अधिक सम्भावना तभी है जबकि कानून सम्पूर्ण समाज द्वारा बनाया जाये। सामान्य सम्मति प्राप्त करने के विभिन्न ढग है जिनका विवरण देना यहाँ आवश्यक नही है। महत्वपूर्ण बात ध्यान देने की यह है कि इस आवश्यकता पर जोर देकर टॉमस ने अपनी दार्शनिक प्रणाली तथा कानून के सामान्य सिद्धान्त में उस ट्यूटोनिक परम्परा का सम्मिश्रण किया है जिसके अनुसार कानून का औचित्य जनता द्वारा मान्यता के ऊपर निर्भर करता है।

राजा की कानून बनाने की शक्ति पर एक अन्य सीमा भी है जो उल्लेखनीय है। यह केवल लौकिक विषयो तक ही सीमित है ; आध्यात्मिक विषय इसकी परिधि से बाहर है। मानवीय कानून उस क्षेत्र से अलग रखा गया है जो कि दैविक कानून की परिधि के अन्तर्गत है।

एक्वीनास के कानून के सिद्धान्त की आधारभूत बातो को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते है—वह कहता है कि केवल न्यायपूर्ण और धर्मविहित मानवीय कानून ही नागरिकों के लिए मान्य है। मानवीय कानूनो को धर्मविहित होने के लिये उन्हे नैसर्गिक कानून के अनुसार होना चाहिये। यदि कोई कानून नैसर्गिक कानून के अनुसार नही है तो नागरिक उसकी अवज्ञा कर सकता है और ऐसा करने के लिए उसे दण्ड नही मिलना चाहिये। कानूनो का उद्देश्य भी सामान्य हित होना चाहिये और उन्हे समाज का समर्थन प्राप्त होना चाहिये। वे व्यक्ति के अन्तःकरण को मान्य होने चाहिये जो कि नैसर्गिक कानून के अनुसार उनके औचित्य का अन्तिम निर्णायक है। इस प्रकार राजनीतिक आज्ञा पालन को एक कठोर नैतिक बन्धन से आबद्ध कर दिया गया है।

चारो प्रकार के कानूनों की विशेपताओं तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का सुन्दर साराश हमें डनिंग के निम्नलिखित शब्दों में मिलता है : "शाश्वत कानून विश्व को नियन्त्रित करने वाली योजना है जो कि ईश्वर के मस्तिष्क मे वर्तमान है। नैसर्गिक कानून मनुष्य का, एक बुद्धिपरक प्राणी के रूप मे, शाश्वत कानून मे भाग लेना है जिसके द्वारा वह अच्छे बुरे की पहिचान करता है तथा अपना सच्चा लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्टा करता है। मानवीय कानून, मानवीय बुद्धि द्वारा, नैसर्गिक कानून के सिद्धातों का विशिष्ट लौकिक स्थितियो मे प्रयोग करना है। विशेष दृष्टिकोण से दैविक कानून वह है जिसके द्वारा मानव विवेक की सीमाओं और अपूर्णता की प्राप्ति की जाती है और मनुष्य को पारलौकिक लक्ष्य अर्थात् नित्यानन्द की ओर निर्दिष्ट किया जाता है ; यह दैविक ज्ञान का कानून है।"*

* "The lex acterna is the controlling plan of the universe, existing in the mind of God. Natural law (lex naturalis) is that participation of man, as a rational creature, in the eternal law (or the divine reason), through which he distinguishes between good and evil and seeks his true end. Human law is the

सन्त टॉमस एक्वीनास की दर्शन धारा के दो मुख्य विषयो, अर्थात् अरस्तु की विचारधारा रूपी धड पर चर्च के धर्मशास्त्रीय विचार तथा पोप की श्रेष्ठता रूपी सिर को रखना तथा कानून की विवेचना हम ऊपर कर चुके है। इनके अतिरिक्त दो अन्य विषय है जो अधिक महत्वपूर्ण न होते हुये भी उल्लेखनीय है। ये है सरकार के रूप तथा दास प्रथा। सन्त ऑगस्टाइन तथा प्रारम्भिक चर्च फादर्स के सदृश टॉमस भी दासता को पाप का दैविक दण्ड समझता है और उसे उचित मानता है। अरस्तु की भांति वह दासता को कुछ प्रकार के कामो के लिए ठीक और लाभदायक समझता है और इसलिये उसे स्वाभाविक मानता है। उसके पक्ष मे वह एक दूसरी युक्ति भी पेश करता है। उसका विचार है कि वह सैनिकों मे वीरता का सचार करती है। युद्ध मे विजेता द्वारा दास बना लिए जाने का भय सैनिको को साहसपूर्वक लड़ने के लिए सबसे बडी प्रेरणा देता है।

हम पहिले देख ही चुके है कि टॉमस ने अरस्तु के इस सिद्धान्त को अपनाया है कि राज्य एक स्वाभाविक विकास तथा मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का फल है। परन्तु वह अरस्तु के सदृश नगर-राज्य को एक स्वयपर्याप्त इकाई नही समझता ; यह गुण वह एक राज्य (Kingdom) मे ही देखता है। अरस्तु द्वारा किये हुए राज्यों के वर्गीकरण अर्थात् राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र और उनके भ्रष्ट रूप को वह अपनाता है। परन्तु जबकि अरस्तु पोलिटी (लोकतन्त्र) अथवा मध्यवर्गतन्त्र को राज्य का सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक रूप मानता था, टॉमस राजतन्त्र का पक्षपाती था, क्योकि उसमें अन्य प्रकार के राज्यो की अपेक्षा कही अधिक उद्देश्य की एकता प्रकट होती है और यह समाज की एकता को कायम रखता है। अरस्तु की इस आपत्ति का औचित्य वह स्वीकार करता है कि एक व्यक्ति के हाथो मे शक्ति केन्द्रीभूत हो जाने से आततायीतन्त्र का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ; परन्तु जनतन्त्र मे सन्निहित नागरिक कलह तथा अव्यवस्था की अपेक्षा वह आततायीतन्त्र का खतरा उठाना अधिक पसन्द करता है। इसके अतिरिक्त उसका विचार यह है कि क्योकि शक्ति एक ट्रस्ट है और राजा ट्रस्ट की शर्तों का पालन करता है या नही इस बात का अन्तिम निर्णायक जनता है, इसलिये राजतन्त्र भ्रष्ट होकर आततायीतन्त्र मे परिवर्तित नही होगा।

सन्त टॉमस एक्वीनास की राजनीतिक विचारधारा का मूल्याकन करते समय अन्त मे यह बताना भी अति आवश्यक है कि आधुनिक योरोप को यूनानी विचारो से परिचित कराने मे उसका कितना हाथ था। सन्त टॉमस एक्वीनास ने अरस्तु की 'पॉलिटिक्स' (Politics) और सन्त ऑगस्टाइन के उपदेशो मे एक महान समन्वय स्था-

application, by human reason, of the precepts of natural law to particular earthly conditions. The divine law in the special sense is that through which the limitations and imperfections of human reason are supplemented, and man is infallibly directed to his supramundane end—eternal blessedness : it is the law of Revelation."

पित किया, ऐसे समन्वय इतिहास में गिने चुने ही है। इसी समन्वय के कारण उत्तर-मध्ययुग (Later Middle Ages) की विचारधारा 'पालिटिक्स' के प्रमुख सिद्धान्तों से प्रभावित हुई। उदाहरणतः कानून ही सर्वोच्च है, सरकारें कानून के अधीन है, वैधानिक सम्राट (Lawful Monarch) तथा निरंकुश शासक जो केवल अपनी ही इच्छा से शासन चलाता है, इन दोनों प्रकार के शासको में बुनियादी अन्तर है, जनता में सामूहिक निर्णय करने की क्षमता होने के कारण उसे अपने शासकों को निर्वाचित करने तथा उन पर नियन्त्रण रखने का जन्मसिद्ध अधिकार होना चाहिये। हम यह भी कह सकते हैं कि सन्त एक्वीनास द्वारा ही आधुनिक योरोप में अरस्तु के विधानवाद (Constitutionalism) का प्रसार हुआ। लार्ड ऐक्टन ने एक बार सन्त एक्वीनास को सब से पहला ह्विग (Whig) बतलाया। प्रो० बार्कर इस कथन में संशोधन करते हुए कहते है कि पहला ह्विग एक्वीनास नही था बल्कि अरस्तु था, क्योंकि इस महान् मध्यकालीन विचारक ने अपने विधानवाद की प्रेरणा अरस्तु से ही ली थी। अरस्तु ने सन्त टॉमस को शिक्षित किया और सन्त टॉमस के द्वारा उसने रिचार्ड हुकर (Richard Hooker) को भी शिक्षित किया '' सुयोग्य हुकर लॉक (Locke) के आचार्यों में से एक था और सिविल गवर्नमेंट (Civil Government) नामक दो ग्रन्थों का एक महान् स्रोत भी था।

एजिडियस रोमेनस (Egidius Romanus)—सन्त टॉमस एक्वीनास के उपरान्त एजिडियस रोमेनस या एजिडियस कोलोंना, जैसा कि कभी-कभी उसे पुकारा जाता है, आता है। उसकी पुस्तक 'डी पोटस्टेट एक्लेज़ियास्टिका' (De Potestate Ecclesiastica) में, जो कि १३०१ ई० में प्रकाशित हुई थी, धर्म शास्त्रीय तथा दार्शनिक आधार के ऊपर पोप की प्रभुता का सब से अधिक पूर्ण पक्ष-समर्थन पाया जाता है। एजिडियस के अतिरिक्त पोप के अन्य किसी समर्थक ने इतनी वीरता और स्पष्टतापूर्वक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया कि पोप समस्त विश्व का, आध्यात्मिक तथा लौकिक समस्त विषयों में, सर्वोच्च स्वामी है और समस्त राजा उसके अधीन है। इसलिये राजनीतिक विचार के इतिहास में उसका यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

पोप की प्रभुता के पक्ष में एजिडियस की युक्तियों का विवरण देने से पहिले उसकी स्वामित्व (Dominium) सम्बन्धी धारणा का विश्लेषण करना अधिक सुविधाजनक होगा क्योंकि उसके चिंतन में उसका केन्द्रीय स्थान है। स्वामित्व शब्द का प्रयोग मध्यकालीन विचारक किसी व्यक्ति या वस्तु के ऊपर अधिकारपूर्ण शक्ति का बोध कराने के लिये करते थे। इसमे राजनीतिक तथा सम्पत्ति सम्बन्धी दोनों प्रकार के अधिकार सम्मिलित थे। यह कहा जाता था कि राजा का, और इसी प्रकार सामन्त सरदार का, अपनी प्रजा तथा सम्पत्ति के ऊपर स्वामित्व है। एजिडियस का आग्रह यह था कि लौकिक कानूनों द्वारा प्रदान किया हुआ स्वामित्व का अधिकार तभी मान्य है जबकि उसका उपभोक्ता ईश्वर के अधीन हो और उसे प्रभु-कृपा प्राप्त हो। एक

धर्म-बहिष्कृत राजा अथवा सामन्त सरदार का अपनी प्रजा की भक्ति तथा सेवाओं पर कोई उचित अधिकार नही हो सकता; इसी प्रकार एक विधर्मी का सम्पत्ति के ऊपर कोई उचित अधिकार नही हो सकता। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के ऊपर वास्तविक शक्ति का प्रयोग कर सकता है, उसके आधिपत्य मे कुछ सम्पत्ति है; किन्तु उसके ऊपर उसका स्वामित्व तब तक नही माना जा सकता जब तक कि उसका अधिकार उसे प्राप्त न हो। इसलिये प्रश्न उठता है, स्वामित्व का अधिकार एक व्यक्ति किस प्रकार प्राप्त करता है ? एजिडियस का उत्तर यह है कि जड अथवा चैतन्य सम्पूर्ण सृष्टि के ऊपर एकमात्र सच्चा स्वामित्व केवल ईश्वर का है और मनुष्यो तथा सम्पत्ति के ऊपर केवल उन्ही का उचित अधिकार हो सकता है जिन्होने कि ईश्वर से उसकी अनुकम्पा द्वारा उसे प्राप्त किया हो। क्योकि ईश्वर की अनुकम्पा केवल चर्च द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है इसलिये सच्चा स्वामित्व केवल वही है जो चर्च के अधीन हो या जिसे चर्च ने प्रदान किया हो। इस प्रसग में एजिडियस के शब्द उद्धरणीय है। वह लिखता है "इसलिये तुम्हे अपनी विरासत, अपने समस्त स्वामित्व, अपनी प्रत्येक वस्तु के लिये अपना अधिकार तुम्हे चर्च से, चर्च के द्वारा तथा चर्च का एक पुत्र होने के नाते प्राप्त करना चाहिये, न कि अपने लौकिक पिता से, अथवा उसके द्वारा, अथवा इसलिये कि तुम उसके पुत्र हो। . . . परन्तु ध्यान रहे कि जब हम यह कह सकते है कि चर्च माता है और समस्त वस्तुओ के ऊपर उसका प्रभुत्व है तो ऐसा कह कर हम मनुष्यो से उनका अधिकार नही छीनते, क्योकि चर्च का स्वामित्व सार्वभौमिक और श्रेष्ठतर है, जब कि उसके सदस्यो का स्वामित्व केवल विशिष्ट और हीनतर है। जब हम यह स्वीकार करते है कि चर्च का स्वामित्व सार्वभौमिक और श्रेष्ठतर है और उसके घटकों को हम विशिष्ट और हीनतर स्वामित्व प्रदान करते है तो उसका तात्पर्य यह है कि हम लौकिक विषयो मे राजा का और पारलौकिक क्षेत्र मे ईश्वर का स्वामित्व स्वीकार करते है।"*

---

* "You must therefore derive your title to your inheritance, to your whole dominium, to everything you possess from the church, through the church and from being a son of the church, rather than from your earthly father, or through him; or because you are his son ...... But it should be noted that when we say that the church is the mother and has the lordship over all possession and all temporal things, by so saying we are not taking from men their dominion or possession, for the church has such dominion as the universal and superior dominion, its members have it only as the particular and inferior. We then do render unto Caesar that which is Ceasor's and unto God that which is God's, when we concede to the church the universal and superior dominium over temporal things, and bestow on the faithful the particular and inferior dominium."

—Quoted by McIlwain from De Ecclesiastica Potestate.

इस अत्यन्त मेधावी तथा सारगर्भित युक्ति का दार्शनिक आधार अरस्तु के इस सिद्धान्त में पाया जाता है कि साधन का मूल्य तथा औचित्य साध्य के ऊपर निर्भर करता है। एजिडियस का तर्क यह है कि एक व्यक्ति का वस्तुओं के ऊपर स्वामित्व तथा राजनीतिक शक्ति के ऊपर अधिकार तभी उचित और श्रेयस्कर हो सकता है जबकि उसका प्रयोग आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति करने में किया जाये। ऐसा तभी हो सकता है जबकि चर्च उसे अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे। साराश यह कि क्योंकि प्रत्येक सांसारिक वस्तु का मूल्य उसकी उच्चतर आध्यात्मिक उद्देश्य के लिये उपयोगिता के ऊपर निर्भर करता है इसलिये उसके ऊपर स्वामित्व तभी उचित और धर्मविहित हो सकता है जब कि वह चर्च से और चर्च द्वारा प्राप्त किया जाये। इस सिद्धान्त के बड़े गम्भीर परिणाम निकलते है; इसके अनुसार समस्त सांसारिक वस्तुओं के ऊपर सामान्य स्वामित्व चर्च में निहित है, इस प्रकार यह लौकिक विषयों में चर्च के हस्तक्षेप करने के लिये आधार प्रदान करता है। पीटर फ्रेसस ने फ्रास के राजा के अपने वंशानुगत राज्य अधिकार के समर्थन में जो युक्ति दी थी उसका यह सिद्धान्त जोरदार खण्डन करता है। यह राजा के अपनी सम्पत्ति, भूमि तथा प्रासादो को प्रयोग करने तथा नियन्त्रित करने के अधिकार को तो स्वीकार करता है और इस प्रकार उसके स्वामित्व को सुरक्षित रखता है; किन्तु राजा से उच्चतर स्वामित्व चर्च मे निहित कर देता है। चर्च को समस्त वस्तुओ और मनुष्यों के ऊपर स्वामित्व का अधिकार दिया गया है; और उसकी निर्देशक शक्ति राजा की शक्ति से श्रेष्ठतर है। चर्च एक राजा के व्यक्तित्व का निर्णय कर सकता है, उसकी निन्दा कर सकता है; यहां तक कि उसकी सम्पत्ति को किसी दूसरे के स्वामित्व मे दे सकता है। एजिडियस बड़ी तत्परता के साथ यह सिद्ध करना चाहता है कि उसका सिद्धान्त लौकिक तथा आध्यात्मिक शक्ति के विभेद को नष्ट करना नही है और न ही वह पूर्वोक्त को अपनी शक्तियों तथा अधिकारों से वंचित करना चाहता है; उसका अभिप्राय केवल लौकिक शक्ति को चर्च के नियन्त्रण मे रखना है ताकि वह न्यायोचित बन सके। चर्च लौकिक शक्ति का अपहरण नही करता; वह उसमें हस्तक्षेप केवल तभी करता है जबकि पाप का प्रश्न उठता है; ऐसे हस्तक्षेप का एकमात्र उद्देश्य आध्यात्मिक हितों और मूल्यो को सुरक्षित रखना है। इस शक्ति की ऐसी व्यापक व्याख्या की जा सकती है जिससे कि प्रायः समस्त विषय इसके अन्तर्गत आ सकते है। इससे भी बढ़कर चर्च का एक विशेष अधिकार क्षेत्र भी है; इसमे विभिन्न राज्यो मे शान्ति स्थापित रखना तथा सधियों का पालन करना सम्मिलित है। एजिडियस ऐसी स्थिति में भी चर्च को हस्तक्षेप करने का अधिकार देता है जबकि शासक असावधानी से काम करे या नागरिक कानून अस्पष्ट अथवा अपर्याप्त हो।

एजिडियस के तर्क का अगला सोपान यह सिद्ध करना है कि चर्च की समस्त शक्तियां आवश्यक रूप से पोप की है, और किसी की नही। अपनी यह बात सिद्ध करने के लिये एजिडियस धर्मग्रन्थों तथा इतिहास का आश्रय लेता है और दृष्टान्तों

का भी प्रयोग करता है। उनका उल्लेख करना आवश्यक नही ; हम केवल एक बात का उल्लेख करेंगे। एजिडियस चर्च को अधिकारियों की एक शिखरोन्मुखी व्यवस्था (Hierarchy) समझता है जिसमें निम्नाधिकारी अपनी शक्तियाँ उच्चाधिकारियो से प्राप्त करते है और उनके नियन्त्रण के अधीन रहते है। पोप चर्च का उच्चतम अधिकारी है, इसलिये उसे सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है। चर्च का जो कुछ भी अधिकार है, उसका प्रयोग पोप करता है, क्योंकि वह चर्च का निर्विवाद प्रधान है। उसकी एक युक्ति यह है कि पोप की सर्वोच्च तथा अनुपम शक्तियां उसके पद के कारण हैं ; वे उसके व्यक्तिगत चरित्र के ऊपर निर्भर नही करती ; उनका स्रोत आध्यात्मिक शक्ति की स्वाभाविक श्रेष्ठता तथा अरस्तु का यह सिद्धान्त है कि उच्चतर निम्नतर पर शासन तथा नियन्त्रण करता है। इसलिये यद्यपि यह 'कॉन्स्टेन्टाइन के दान तथा अन्य ऐतिहासिक पूर्व-उदाहरणों का उल्लेख करता है, तथापि वह उनको बहुत अधिक महत्व नही देता ; उसका मुख्य आधार आध्यात्मिक शक्ति का स्वरूप तथा पोप का सर्वोच्च पद है।

यह प्रश्न उठाया गया है कि आया कि एजिडियस के अनुसार पोप चर्च का निरंकुश प्रधान है या कि एक ऐसा वैधानिक शासक है जो कि व्यवस्थापन तथा प्रशासन के मामलो में चर्च के सामान्य कानून से बाध्य है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि एजिडियस निरंकुशवाद की दिशा मे काफी बढ़ गया है, तथापि वह उसे एक पूर्णरूपेण निरंकुश शासन नही बनाता है। वह बताता है कि पोप को व्यवस्थापन तथा प्रशासन का कार्य साधारणतया सामान्य कानून के अनुसार चलाना चाहिये ; किन्तु अपवादस्वरूप कुछ मामलो में उसे कानून का उल्लघन करने का अधिकार भी वह देता है।

एजिडियस रोमेनस के विचारों के इस संक्षिप्त विवरण के उपसहार-स्वरूप हम मैकल्वेन का एक उदाहरण देंगे जिसने इस महान् मध्यकालीन विचारक की गहनतम विवेचना की है और उपरोक्त पृष्ठो पर जिसका एक बहुत बड़ा ऋण है। वह लिखता है : "सब कुछ कहने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मध्य काल के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक विचार के इतिहास में एजिडियस कोलोना महान्तम नामों मे है। अपने ग्रंथ 'De Regimine Principum' मे उसने अरस्तु के राजनीतिक विचारों को मध्य काल मे एक अत्यन्त गहन और व्यापक रूप से अपनाया है, चाहे इस क्षेत्र मे आदि लेखक वह भले ही न हो। २५ वर्ष उपरान्त उसने इन्ही विचारों को पोप की प्रभुता के विषय में केनोनिस्ट्स के उग्रतम विचारो के साथ सम्मिश्रित कर दिया है और यह सम्मिश्रण पोप की प्रभुता का दार्शनिक आधार पर प्रथम व्यापक समर्थन दिखाई पड़ता है ; और अपने ग्रन्थ 'डी पोटस्टेट एक्लेजियास्टिका' मे प्रतिपादित स्वामित्व के सिद्धात मे उसने इन दो विचारधाराओं के स्वामित्व अधिकारों को स्वामियों तथा सेवकों मे विभाजित करने की एक तीसरी सामन्तवादी धारा से मिला

फेयर के लाभार्थ की थी जिसका कि वह शिक्षक था। जब फिलिप और पोप में संघर्ष हुआ तो पोपशाही का पक्ष समर्थन करने के लिये उसने फिलिप का परित्याग कर दिया। एजिडियस बोर्गस (Bourgus) का आर्कबिशप और ऑगस्टीनियन सम्प्रदाय (Augustinian Order) का प्रधान था।

दान्ते (Dante Alighieri)—पोपवादियों को छोड़कर अब हम साम्राज्य की स्वाधीनता के हामियो पर आते हैं। उन्हें यदि हम धर्मनिरपेक्ष राज्यवादी कहें तो अधिक समुचित होगा, क्योंकि दान्ते के अतिरिक्त उनमें से किसी ने भी साम्राज्य का समर्थन नही किया। शेष सभी ने लौकिक क्षेत्र पर पोप नियन्त्रण के दावे के विरुद्ध उदीयमान राष्ट्र राज्यो का पक्ष ग्रहण किया। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, १४वीं और १५वीं शताब्दियो मे चर्च का शत्रु राष्ट्र-राज्य था, होली रोमन साम्राज्य नही जो कि १२५० ई० में फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् एक छाया मात्र रह गया था। सबसे पहिले हम दान्ते को लेंगे जिसका जन्म १२६५ ई० मे फ्लोरेंस में हुआ और १३२१ ई० मे एवरीना में एक देश-निर्वासित के रूप में जिसकी मृत्यु हो गई। वह एक प्रतिभाशाली साहित्यकार, एक महान् कवि (मध्यकाल का शायद महानतम कवि) था। पोपशाही के विरुद्ध संघर्ष मे वह इसलिये कूद पड़ा क्योंकि वह यह महसूस करता था कि उसके नगर मे गृह-कलह और उस युग मे बार-बार होने वाले युद्ध लौकिक विषयो में पोप के हस्तक्षेप के परिणाम थे। जब पोप रोम से एविग्नोन चला गया और पोप पद फ्रांस की नीति का एक यन्त्र बन गया तो पोपशाही के विरुद्ध उसकी कटुता और भी अधिक बढ गई। अपने समय की स्थिति के अवलोकन से वह इस परिणाम पर पहुचा कि इटली तथा ससार का वास्तविक संकट तब तक दूर नही हो सकता और विभिन्न गुटो मे प्रतिद्वन्द्विता के कारण फैली हुई अराजकता तब तक समाप्त नही हो सकती जब तक कि एक सर्वशक्तिमान सम्राट् की अधीनता मे एक सर्वव्यापक साम्राज्य की स्थापना नही की जायेगी और पोपशाही को उसमें किसी भी प्रकार के लौकिक अधिकार से वंचित न कर दिया जायेगा। महाकवि वर्जिल ने ऐसे

* "When all is said, it must appear that Egidius Colona is one of the greatest names in the history of political thought in the later middle ages. He was the author of one of the closest and most comprehensive if not the earliest medieval adaptation of Aristotle's political ideas, in his De Regimine Principum; a quarter century later he combined these same ideas with the extreme canonist views of papal omnicompetence in what appears to be the first comprehensive defence of the plenitudo potestatis of the Pope on a philosophic basis; and in the theory of dominium set forth in his De Potestate Ecclesiastica at that time he made a further combination of these two sets of ideas with a third, the feudal conception of tenure and its parcelling of proprietary rights among lords and vassals."

—McIlwain: *Growth of Political Thought in the West*, page 259

साम्राज्य की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की थी। उसकी महान् कृति 'डी मॉनार्किया' (De Monarchia) में बड़े ज़ोरदार शब्दो मे दो वातो की वकालत की गई है : (१) एक धर्मनिरपेक्ष विश्व साम्राज्य की पुनर्स्थापना जो कि चिर शांति की एक पहली शर्त है, तथा (२) पोप को समस्त लौकिक शक्ति से वंचित कर देना। डनिंग के कथनानुसार इस ग्रंथ मे "राज्यवादी दर्शन की सबसे अधिक पूर्ण प्रणाली पाई जाती है।"

यद्यपि साम्राज्य तथा पोपशाही के मध्य संघर्ष मे दान्ते जॉन ऑफ़ सेलिसबरी तथा सन्त टॉमस एक्वीनास के विरुद्ध खड़ा हुआ, तथापि आधारभूत वातो मे वह उनसे सहमत है। प्रथम, वह एक ऐसे सार्वलौकिक समाज मे विश्वास करता था जिसके अन्तर्गत समस्त मानव प्राणी आते है और जिसके ऊपर ईश्वर द्वारा नियुक्त दो शक्तियो का शासन है, आध्यात्मिक विषयों के ऊपर पोप का और लौकिक विषयों के ऊपर सम्राट् का। उस समय के प्रसग का सार्वभौमिक साम्राज्य के विचार से कोई सम्बन्ध नहीं था; उसका स्थान तो बहुत से स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया था जिनका उदय यूरोप के विभिन्न भागो में बड़ी तीव्र गति से हो रहा था। इस प्रकार दान्ते भूत की ओर देखता था; वह यह महसूस कर सका कि उसके समय की वस्तुस्थिति उसके विश्व साम्राज्य के आदर्श की प्राप्ति के अनुकूल नही थी। यह उक्ति कि मध्य युग के ऊपर साम्राज्य का प्रेत लटका हुआ था दान्ते के विचार पर पूर्ण रूप से लागू होती है।

दूसरे यह कि दान्ते उनकी इस बात से सहमत था कि मनुष्य स्वभावतः द्वैत-मूलक है; वह शरीर और आत्मा है। इसीलिये एक ही सार्वभौमिक समाज मे दोहरे शासन की मध्यकालीन परम्परा को वह स्वीकार करता था। वह यह भी मानता था कि दोनों शक्तियो के अधिकार क्षेत्र भिन्न-भिन्न है और एक को दूसरे के कार्य मे हस्त-क्षेप नही करना चाहिये। इस प्रकार वह प्राचीन गेलेशियन सिद्धान्त को पुनर्जीवित करना चाहता था जिसे कि पोप इन्नोसेण्ट चतुर्थ, पोप बोनीफेस अष्टम तथा एजिडियस कोलोना सरीखे व्यक्तियों ने अपनी व्याख्याओ द्वारा निरर्थक कर दिया था। जहाँ तक कि उसके विचार की सामान्य पृष्ठभूमि का सम्बन्ध है दान्ते जॉन ऑफ पेरिस, मार्सीलियो ऑफ़ पेडुआ तथा विलियम ऑफ़ ओकम सरीखे राज्य के समर्थकों से बहुत अधिक भिन्न है; वह १४वी शताब्दी की अपेक्षा १३वी शताब्दी का अधिक है। टॉमस एक्वीनास की भांति दान्ते पर भी अरस्तु के दर्शन का भारी प्रभाव पड़ा था। वह कुछ स्वयंसिद्ध अथवा सर्वस्वीकृत सिद्धान्तों को लेकर चलता है, जैसे कि अरस्तु की यह उक्ति कि प्रकृति किसी वस्तु को भी व्यर्थ उत्पन्न नही करती, और उनमें से परिणाम निकालता है। इस प्रकार वह यह सिद्ध करने की चेष्टा करता था कि शान्ति समस्त विश्व के लिए वाछनीय है और एक चक्रवर्ती सम्राट के अधीन एक विश्वव्यापी साम्राज्य के अन्तर्गत ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

उसके महान् ग्रन्थ 'डी मॉनार्किया' का मूल विषय है विश्वव्यापी साम्राज्य जिसमे समस्त छोटे-छोटे राज्य अर्द्धस्वतन्त्र सदस्यों के रूप मे सगठित हो। यह

तम न्याय और व्यक्ति की धर्मपालन करने की वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकेगी। "शांति का साम्राज्य होगा ; और सभ्यता का विकास होते-होते मानव बुद्धि की पूर्ण सम्भावनायें प्रस्फुटित हो जायेंगी।"

मानव जाति की शान्ति तथा कल्याण के लिये सार्व-भौमिक साम्राज्य की अपरिहार्य आवश्यकता का अनुभव करने के उपरान्त दान्ते का मस्तिष्क अपने समय के सबसे प्रधान इस प्रश्न की ओर गया कि चक्रवर्ती सम्राट् तथा पोप में क्या सम्बन्ध होना चाहिए। इस प्रश्न का भी उसके पास इतना ही दृढ़ और सरल उत्तर था और वह यह कि पोप को धर्म-निरपेक्ष विषयों में हस्तक्षेप करने का और सम्राट् को उसके कामों में निर्देशन देने का कोई अधिकार नहीं है। उसने पोप की आध्यात्मिक शक्ति से तो इन्कार नहीं किया परन्तु धर्म-निरपेक्ष राजनीति में उसका कोई स्थान वह स्वीकार नहीं करता। इस धारणा का आधार मनुष्य का दोहरा लक्ष्य है जो इस बात की मांग करता है कि उसके जीवन के दोनों क्षेत्र, लौकिक तथा धार्मिक, पूर्णरूपेण अलग-अलग रहने चाहिये। ईश्वर ने मनुष्य के सामने दो लक्ष्य रक्खे हैं : एक है अपनी बुद्धि का पूर्ण विकास तथा सांसारिक सुख का उपभोग करना और दूसरा है नित्य जीवन का आनन्द प्राप्त करना जोकि ईश्वर दर्शन से ही हो सकता है। ये दोनों लक्ष्य विभिन्न साधनों द्वारा प्राप्त होते हैं ; दर्शन शिक्षा और चक्रवर्ती साम्राज्य द्वारा स्थापित शांति, सुरक्षा तथा न्याय से पहिले लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता मिलती है : और चर्च की आध्यात्मिक शिक्षा, ईश्वरप्रदत्त ज्ञान तथा पोप का नेतृत्व दूसरे लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। ये दोनों लक्ष्य पूर्णरूपेण भिन्न है और चर्च तथा साम्राज्य के कार्य एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है, इसलिये आध्यात्मिक शक्ति का लौकिक विषयों में हस्तक्षेप करना एकदम अनावश्यक और अनुचित है। इस परिणाम पर पहुंचने में दान्ते को अपने इस विश्वास से और भी सहायता मिली है कि नैतिकता धर्म से स्वतन्त्र रहकर भी टिक सकती है और वह धर्मशास्त्र का प्रतिफल नहीं है। इसके विपरीत धर्मशास्त्रियों का विश्वास यह था कि नैतिकता को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए नैतिक प्रश्नों में चर्च को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। इस प्रकार दान्ते ने पोपवादियों की जड़ पर ही आघात किया। "सांसारिक शान्ति सभ्यता की प्रगति के लिए अनिवार्य होते हुए भी अस्थायी है। आध्यात्मिक शक्ति का सम्बन्ध स्थायी विषयों से है; अस्थायी स्थिति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका उचित स्थान दैविक स्वर्ग है। इस वसुन्धरा पर उसके लिए कोई स्थान नहीं है। इस पर एकमात्र अधिकार चक्रवर्ती सम्राट् का है ; उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होना चाहिये जिसका कि ध्वंसात्मक प्रभाव हो। स्कोलिस्टीसिज्म की इस आधारभूत मान्यता से इन्कार करके कि जीवन का केवल एक ही लक्ष्य है, दान्ते ने धर्मशास्त्र में एक गहरी दराड खोल दी।" *

* "Earthy peace was a transitory condition though essential to the progress of civilization. The spiritual power dealt with eternal matters. It had nothing to do with a transitory condition. Let it be relegated to the Celestial

जॉन ऑफ पेरिस (John of Paris)—धर्मनिरपेक्षवाद के समर्थक मध्यकालीन विचारकों की हमारी सूची में अलग नाम जॉन ऑफ पेरिस (१२६९–१३०६) का है जिसका कार्य न केवल अपने युग के लिये बल्कि भविष्य के लिये भी बड़ा महत्त्वपूर्ण था। अपने समकालीन दान्ते की अपेक्षा वह अपने युग का अधिक सच्चा प्रतिनिधि था और आगे आने वाले विचार पर उनका अधिक प्रभाव पड़ा। दान्ते ने जो सार्वभौमिक साम्राज्य का आदर्शीकरण किया उसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध न था और न ही भविष्य के ऊपर उसका कोई प्रभाव पड़ा। यद्यपि इटली का वह एक महान् देशभक्त था और पोपशाही के प्रति उसकी घृणा में उसके स्वदेश-प्रेम का काफी बड़ा हाथ था, तथापि दान्ते के राजनीतिक विचार में राष्ट्रवाद का कोई विशेष स्थान नही था। इसके विपरीत जॉन का साम्राज्य को मानव आवश्यकताओं के प्रतिकूल बता कर उसका खण्डन करना और कानूनी तथा ऐतिहासिक दोनो आधारों पर फ्रांस के राजतन्त्र का घोर समर्थन करना युग की विचारधारा के एकदम अनुकूल था और उसने भविष्य के विचार के लिये मार्ग प्रशस्त किया। जॉन के राजनीतिक विचार की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख करने से पहिले यह बताना वाञ्छनीय प्रतीत होता है कि उसने किस कारण चक्रवर्ती साम्राज्य का खण्डन किया और छोटे राज्यो को तरजीह दी।

जॉन कहता है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक है विश्वास जो हर कही एकसा है; समस्त ईसाई जगत मे ईसाइयो के आध्यात्मिक हित एक से हैं। इसलिये एक सार्वभौमिक चर्च तथा चर्च द्वारा नियन्त्रण मे एकता वाञ्छनीय और आवश्यक है। परन्तु मानव जाति के लौकिक हितों के विषय मे यही बात नही कही जा सकती; ये हित देश-देश के भिन्न-भिन्न होते है। फ्रास वालो की राजनीतिक आवश्यकतायें जर्मनी अथवा इटली वालो की आवश्यकताओं से भिन्न है, इसलिये समस्त ईसाइयो के लिए एक सार्वभौमिक चर्च की भांति एक सार्वभौमिक साम्राज्य नही हो सकता; राजनीतिक क्षेत्र में स्वाभाविक इकाई राज्य है, साम्राज्य नही। राजनीतिक हितो की विविधताओं के अनुसार विभिन्न स्वतन्त्र राज्य हो सकते है; सब के ऊपर एक ही राजनीतिक नियन्त्रण लादना न आवश्यक है और न वाञ्छनीय। इस परिणाम पर पहुचने मे जॉन पर अरस्तु के दर्शन का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा था। उसने अरस्तु के स्वपर्याप्त समाज के आदर्श तथा इस धारणा को अपनाया कि राज्य अथवा समाज मानव हितो और स्वाभाविक इच्छाओं की विविधताओ मे से उत्पन्न होता है। जॉन के अनुसार स्वपर्याप्त इकाई राज्य है।

राज्य को चर्च के किसी भी प्रकार के नियन्त्रण से स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए जॉन अरस्तुवाद का प्रयोग करता है। याद रहे कि राज्य के ऊपर चर्च के नियंत्रण के पक्ष मे एक मुख्य तर्क यह था कि राज्य का मूल मानव पाप होने के कारण उसे चर्च द्वारा पवित्र किया जाना आवश्यक है। जॉन इस तर्क का खण्डन अरस्तु की इस धारणा को अपनाकर करता है कि राज्य एक विधेयात्मक शुभ है, एक आवश्यक बुराई नही; और वह मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का फल है, उसके *पतन का परिणाम*

नहीं। राज्य शुभ जीवन के लिए आवश्यक है और वह ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामाजिक तथा व्यक्तिगत गुणो का विकास सम्भव है। इसलिये वह स्वयं अपना औचित्य है ; उसे किसी के द्वारा पवित्र होने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार जॉन राज्य की स्वाभाविकता को उसकी चर्च से स्वाधीनता का समर्थन करने के लिए प्रयोग करता है।

कुछ पोपवादी लेखकों ने अरस्तु के इस सिद्धान्त का लाभ उठाने की चेष्टा की थी कि उच्चतर हीनतर को नियन्त्रित करता है और हीनतर उच्चतर के अधीन होता है। जॉन इस तर्क का भी खण्डन करता है। एक पादरी होने के नाते जॉन इस बात को एकदम स्वीकार कर लेता है कि चर्च की आध्यात्मिक शक्ति राजा की लौकिक शक्ति से कहीं अधिक गौरवशाली है ; किन्तु वह कहता है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि चर्च शक्ति राजशक्ति से प्रत्येक बात में ही श्रेष्ठ है अथवा राजशक्ति की देन है। यह आवश्यक नहीं है कि जिसका गौरव अधिक हो उसकी शक्ति भी अधिक हो ; एक शिक्षक या उपदेशक का गौरव निश्चित रूप से ही एक पुलिस के सिपाही से अधिक है किन्तु उनकी लौकिक शक्ति उससे कम है। लेकिन जॉन की धारणा यह है कि लौकिक शक्ति आध्यात्मिक शक्ति की अपेक्षा कम गौरवपूर्ण होते हुये भी लौकिक विषयों मे उससे श्रेष्ठ है। इनमे से कोई भी एक दूसरे की देन नहीं है ; दोनों ही अपने ही सामान्य प्रभु ईश्वर से प्राप्त हुई है। इसलिये अरस्तु के इस सिद्धान्त का कि उच्चतर हीनतर को नियन्त्रित करता है पोपवादियो ने गलत प्रयोग किया है ; इस सिद्धात का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि आध्यात्मिक शक्ति का लौकिक शक्ति के ऊपर नियन्त्रण होना चाहिये।

यह है जॉन द्वारा आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्तियों के पारस्परिक सामान्य सम्बन्धो की विवेचना। इसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि पोपशाही तथा फ्रांस के राजा के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे उनका क्या कहना है। उनकी धारणा थी कि पोपशाही तथा पवित्र रोमन साम्राज्य मे भी कुछ सम्बन्ध क्यों न रहा हो, किन्तु उसके आधार पर फ्रास के राजा को पोप के अधीन नहीं किया जा सकता। उसने 'कास्टेण्टाइन के दान' (उस समय तक इस अभिलेख की सच्चाई असंदिग्ध थी ; यह फर्जी था यह बात आगे चलकर सिद्ध की गई) के कानूनी औचित्य पर इस आधार के ऊपर आक्रमण किया कि सम्राट को अपने साम्राज्य का कोई भाग किसी को दे देने का कोई अधिकार नहीं है। यदि थोडी देर के लिए यह मान भी लिया जाये कि उसे इस प्रकार का अधिकार था तो भी वह 'दान' फ्रान्स के ऊपर लागू नहीं होता क्योंकि फ्रास के लोग कभी भी साम्राज्य के अधीन नहीं थे। यदि तर्क के लिए यह भी मान लिया जाये कि किसी समय फ्रास साम्राज्य के अधीन था तो आगे चलकर उसने अपनी स्वतन्त्रता फिर से प्राप्त कर ली। साराश यह कि फ्रांसीसी जॉन के लिए साम्राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो गया था। पोप अपने पिट्ठू सम्राट के द्वारा फ्रांस के स्वतंत्र राजा के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं रख सकता था। इस प्रसग मे यह याद रखना

चाहिये कि उस समय साम्राज्य जीवित था, भले ही वह केवल नाममात्र के लिए हो, और उदीयमान राज्यों के स्वतन्त्रता के दावे से इन्कार करने के लिए साम्राज्य तथा पोपशाही में सन्धि हो गई थी। इस प्रकार जॉन की साम्राज्य विवेचना तथा दान्ते द्वारा साम्राज्य के आदर्शीकरण में एक बहुत बड़ा वैषम्य था।

सम्पत्ति तथा चर्च में पोप की स्थिति के विषय में जॉन की धारणायें उसके राजनीतिक विचार का बहुत महत्वपूर्ण भाग है, किन्तु उनकी विवेचना करने से पहले यह बतलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि जॉन ने अरस्तु की व्याख्या किस प्रकार की। अरस्तु के दर्शन की जो व्याख्या टॉमस ने की वही उसकी एकमात्र व्याख्या नहीं है, शायद उसकी उससे अधिक स्वाभाविक और उत्तम व्याख्या भी सम्भव है। उसका प्रारम्भ जॉन ऑफ पेरिस में मिलता है और उसकी चरम सीमा मार्सीलियो ऑफ पेडुआ में पाई जाती है जो कि टॉमस से कुछ कम अरस्तुवादी नहीं था। अरस्तु के स्वपर्याप्त समाज के सिद्धान्त का व्यवहार जॉन ऑफ पेरिस तथा मार्सीलियो ने टॉमस और दान्ते की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक रूप से किया है; इस सिद्धान्त का एक सार्वभौमिक समाज की कल्पना से ताल खाना बड़ा कठिन है जोकि सेलिस्बरी, टॉमस और दान्ते के चिन्तन की पृष्ठभूमि थी। अरस्तु के बुद्धिवाद की ताल मध्य काल के उस दर्शन से भी नहीं खा सकती जिसके लिये शरीर तथा आत्मा का विभेद इहलौकिक जीवन के परे आत्मा के लक्ष्य का विचार, और मानव जाति के आध्यात्मिक हितों को विनियमित तथा नियन्त्रित करने वाले एक सार्वभौमिक चर्च की धारणा धर्म के आधारभूत सूत्र थे। इन दो ऐसे तत्त्वों को, जिनमें सगति स्थापित करना सरल नहीं है, सन्त टॉमस एक्वीनास की प्रतिभा ने एक व्यापक प्रणाली की एकता में समन्वित कर दिया। टॉमस द्वारा किया हुआ यह सामन्जस्य अधिक दिन न टिक सका; उसकी मृत्यु के बाद वह भंग होने लगा। इस दिशा में पहिला कदम जॉन ऑफ पेरिस ने उठाया जबकि उसने यह दिखाया कि अरस्तु का प्रकृतिवाद तथा बुद्धिवाद लौकिक तथा आध्यात्मिकता को एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् करता है।

हमें याद होगा कि फ्रांस के राजा फिलिप दी फेयर तथा पोप बोनीफेस अष्टम के मध्य विवाद; जिसमें कि जॉन ने एक धर्मशास्त्री और पादरी होने के बावजूद भी राजा का समर्थन किया था, चर्च की सम्पत्ति पर करारोपण के प्रश्न पर खड़ा हुआ था। एजिडियस कोलोना ने, जो कि पोपशाही का शायद सब से बड़ा समर्थक था, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि प्रथम तथा उच्चतर स्वामित्व का अधिकारी होने के नाते चर्च को और इसलिये पोप को, समस्त सम्पत्ति और समस्त लौकिक शक्ति पर नियन्त्रण रखने का अधिकार है। इसलिये जॉन ने सम्पत्ति तथा उसके ऊपर चर्च के नियन्त्रण के प्रश्न का एक आलोचनात्मक विश्लेषण किया। एजिडियस द्वारा प्रतिपादित 'स्वामित्व' (Dominium) के सिद्धान्त को वह एकदम ठुकराता है और यह घोषणा करता है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपनी सम्पत्ति के ऊपर स्वामित्व तथा प्रयोग का पूर्ण अधिकार है। यह अधिकार परिश्रम का फल है जो कि सम्पत्ति

के प्राप्त करने में उठाना पड़ता है। पोप तो दरकिनार, स्वयं राजा को भी किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति के ऊपर स्वामित्व का, या प्रबन्ध करने तक का भी अधिकार नहीं है। हाँ, वह निजी सम्पत्ति के केवल प्रयोग को जनहित के लिये विनियमित कर सकता है और उसके ऊपर कर लगा सकता है। पोप चर्च की सम्पत्ति का स्वामी नहीं है; वह उसका केवल सरक्षक अथवा प्रबन्धक है; उसका उसके ऊपर केवल जनहित के लिये प्रबन्ध करने का अधिकार है। साधारण जनता की सम्पत्ति के ऊपर उसका इतना भी अधिकार नहीं है, स्वामित्व अथवा नियन्त्रण के अधिकार की तो बात ही क्या है।

इस विवेचना में महत्वपूर्ण बात वह विभेद है जोकि जॉन एक ओर सम्पत्ति के स्वामित्व तथा उसके प्रबन्ध करने के अधिकार और दूसरी ओर जनहित के लिये उसे प्रयोग करने के अधिकार मे करता है। जन साधारण की सम्पत्ति के ऊपर राजा को पहिला अधिकार प्राप्त है, किन्तु दूसरा नहीं। जन साधारण की सम्पत्ति के ऊपर पोप को किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं है। हाँ, सामान्य धर्म की रक्षा की गम्भीर आवश्यकता इसका अपवाद है; उदाहरण के लिये विधर्मियों के आक्रमण से रक्षा करने के लिये वह अपने लिये फसल के दशांश की माग कर सकता है। चर्च की सम्पत्ति के ऊपर भी उसे स्वामित्व का कोई अधिकार नहीं है, हा उसका प्रबन्ध करने का अधिकार है।

आगे चलकर जॉन उन विभिन्न कारणों की विवेचना करता है जोकि पोपवादियों ने लौकिक शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति की अधीनता मे रखने के लिये दिये हैं; वह उनका एक-एक करके खण्डन करता है। वह आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करता है जोकि उसके पूर्ववर्ती राज्यवादियो में से किसी ने भी नहीं किया था और यह सिद्ध करता है कि उसे लौकिक शक्ति अथवा सम्पत्ति के ऊपर नियन्त्रण रखने का कोई अधिकार नहीं है। उसका कार्यक्षेत्र शिक्षा तथा उपदेश देने और धार्मिक सस्कार सम्पन्न करने तक परिमित है; नैतिक भ्रष्टाचार और पाप के प्रश्न भी उनके अन्तर्गत आते है। एक घोर पापी को धर्म-बहिष्कृत किया जा सकता है। परन्तु धर्म-बहिष्करण के ऐसे गम्भीर परिणाम नहीं निकल सकते जैसे कि पोप ग्रेगरी सप्तम ने बताये थे। एक धर्म-विमुख शासक का धर्म-बहिष्करण पोप द्वारा एक विरोध प्रदर्शन है और निस्सन्देह यह एक जोरदार विरोध है; किन्तु है यह केवल विरोध ही, इसका अर्थ पदच्युति नहीं हो सकता। पदच्युत करने का अधिकार उस शक्ति को है जिसने राजा को चुना है; इसमें बल प्रयोग की शक्ति निहित है जोकि पादरीगण मे नहीं है। जिस प्रकार कि पोप एक शासक के कुकृत्यों का विरोध कर सकता है, उसी प्रकार एक राजा भी पोप की कर्त्तव्यहीनता का विरोध कर सकता है; किन्तु उसे पदच्युत नहीं कर सकता। पोप को अन्य शक्तियाँ भी प्राप्त हैं; जैसे कि पादरियों का नियमन करना तथा चर्च की सम्पत्ति का प्रबन्ध करना। किन्तु लौकिक शक्ति के ऊपर नियन्त्रण उनमें सन्निहित है। इस प्रकार आध्यात्मिक शक्ति

के स्वरूप का विश्लेषण करके जॉन उसे अत्यन्त सीमित कर देता है। सैवाइन के शब्दों में 'एक पादरी के द्वारा आध्यात्मिक शक्ति का यह सुनिश्चित विश्लेषण और वास्तव में उसके ऊपर सीमा लगना बहुत ही चकित करने वाली है।'

जॉन ने चर्च में पोप को जो स्थान दिया है उसके विषय में भी दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। उसकी धारणा थी कि जहाँ तक कि आध्यात्मिक शक्ति का सम्बन्ध है, समस्त बिशपगण समान है; उनमें से कोई भी दूसरों के ऊपर अधिकार नहीं रखता। पोप चर्च संगठन का प्रशासकीय प्रधान है, किन्तु वह सर्वोच्च पादरी नहीं है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा उसने पोप की प्रभुता के सिद्धान्त का खण्डन किया। प्रभुता चर्च की सामान्य परिषद् में है जोकि एक पोप को पदच्युत कर सकती है, यदि उसके आचरण को किसी भी प्रकार न सुधारा जा सके। अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने वाले पोप को अवज्ञा करना भी उचित समझता था जिस प्रकार कि पुराने लेखक एक अत्याचारी शासक की अवज्ञा करना उचित समझते थे। इससे यह सिद्ध है कि पोप की प्रभुता सभी पादरियों को मान्य न थी। राज्य के आन्तरिक संघटन के विषय में जॉन कुछ अधिक नहीं कहता।

राजनीतिक विचार के इतिहास में जॉन ऑफ पेरिस का सच्चा महत्त्व प्रोफेसर सैवाइन के निम्नलिखित शब्दों में सर्वश्रेष्ठ ढंग से वर्णित है. "एक क्रमबद्ध राजनीतिक सिद्धान्त को प्रस्तुत किये बिना ही जॉन ऑफ पेरिस का कार्य अपने समय के लिए तथा भविष्य के लिए नितान्त महत्त्वपूर्ण था। एक फ्रांसीसी और एक पादरी के रूप में उसने फ्रांस के राजतन्त्र की स्वतन्त्रता का कानूनी तथा ऐतिहासिक आधारों पर जोरदार समर्थन किया। उसने सम्पत्ति के स्वामित्व, चाहे वह चर्च द्वारा हो, चाहे साधारण व्यक्तियों द्वारा, तथा राजा द्वारा उसके राजनीतिक नियन्त्रण अथवा पोप द्वारा चर्च के लिये उसके प्रबन्ध में एक स्पष्ट विभेद किया। उसने आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्तियों की स्वतन्त्रता के तर्क को फिर से व्यक्त किया और आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप तथा उद्देश्यों के एक गहरे विश्लेषण ने उसे अधिक पूर्ण बनाया। अन्ततोगत्वा उसके विश्लेषण से ऐसा निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक शक्ति वास्तव में कोई कानूनी शक्ति है ही नहीं। उसे या तो बल प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं है, और यदि है तो उसको उसे राज्य से प्राप्त करना चाहिये। आध्यात्मिक शक्ति के नैतिक तथा धार्मिक चरित्र पर बहुत जोर दिया गया है। तत्वतः उसकी युक्ति धर्म से ऊपर कानून द्वारा आक्रमण और पोप को सम्राट जैसी कानून शक्ति से विभूषित करने के विरुद्ध एक विरोध है। और अन्त में वह यह सुझाव पेश करता है कि पोप के निरंकुशवाद की भाँति राजतन्त्र को भी प्रतिनिधित्व द्वारा नम्र बनाना वाञ्छनीय है। प्रत्येक दशा में इन युक्तियों ने भावी राजनीतिक वादविवाद में एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया। एजिडियस के साथ तुलना करने पर जॉन की स्थिति मारसलु द्वारा डाले हुए प्रभाव का धर्म-निरपेक्षीकरण तथा विवेकीकरण करने का एक ज्वलन्त उदाहरण है, यद्यपि उसने यह कार्य उस विचार की सीमाओं के भीतर ही किया जो निस्सन्देह मर्यादावादी था।"

मार्सीलियो आफ पेडुआ (Marsiglio of Padua)—जॉन ऑफ पेरिस से जो कि बोनीफेस अष्टम के साथ उसके संघर्ष में फ्रास के फिलिप का सबसे अधिक प्रसिद्ध समर्थक था, अब हम मार्सीलियो पर आते है जिसने लुई ऑफ बवेरिया का उसके पोप जॉन २२वें तथा उसके उत्तराधिकारी के साथ संघर्ष में साथ दिया था। उसका जन्म १२७८ ई० के लगभग हुआ और मृत्यु १३४३ ई० के लगभग हुई। वह एक विलक्षण व्यक्ति था। एक समय मे वह एक चिकित्सक, दूसरे समय में एक पादरी (उसे मिलान का आर्कविशप नियुक्त किया गया था परन्तु उसने वह पद नही सभाला) फिर एक वकील, एक सिपाही तथा एक राजनीतिज्ञ रहा। मध्यकाल के विचारो तथा सिद्धान्तों से जितना वह अपने आपको मुक्त कर सका उतना कोई भी उसका सुप्रसिद्ध समकालीन नही कर सका। उसका ग्रथ 'डिफेन्सर पेसिस' (Defensor Pacis) सन् १३०० से सन् १५०० तक के प्रकाशित हुये दो युग निर्मायक ग्रंथों में से एक है। प्रोफेसर मरे (Murray) ने उसे '१४वी शताब्दी का सबसे अधिक मौलिक विचारक' बताया है। सैबाइन के अनुसार उसका राजनीतिक सिद्धान्त 'मध्यकालीन विचार की एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण सृष्टि है'। अरस्तु की एक पूर्ण रूप से प्रकृतिवादी व्याख्या के परिणामो को इसने बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

यद्यपि जर्मनी के सम्राट ने पोप के विरुद्ध अपना पक्ष समर्थन करने के लिए उसे रक्खा हुआ था और उसने अपनी पुस्तक को समर्पित भी सम्राट को ही किया है तथापि उस पुस्तक के सिद्धान्त का कोई विशेष सम्बन्ध न तो जर्मनी से ही है और न साम्राज्य से।' उसका उद्देश्य साम्राज्य की रक्षा करना नही था बल्कि उस सिद्धान्त का खण्डन करना था जिसके अनुसार पोप को सम्पूर्ण ईसाई जगत में प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक बात के ऊपर प्रभुता प्राप्त थी और जिसके अनुसार पोप चर्च के अन्दर निरकुश अधिकारी था। यह सत्य है कि पोप बोनीफेस अष्टम के इस प्रकार के दावे को हेनरी ने सफलतापूर्वक चुनौती दी थी और पोप को करारी हार खानी पड़ी थी, परन्तु हेनरी ने शक्ति का आश्रय लिया था, तर्क का नही। मार्सीलियो ने राज्य के एक ऐसे सिद्धान्त का निर्माण किया जो सैद्धान्तिक रूप से राज्य को प्रभुता प्रदान करता है और समस्त सासारिक विषयों में चर्च को राज्य का केवल एक विभाग बना देता है। इसीलिए 'डिफेन्सर पेसिस' को राजनीतिक विचार के इतिहास मे एक युग-निर्मायक ग्रथ समझा जाता है।

यह जानना दिलचस्पी से खाली नही होगा कि मार्सीलियो साम्राज्य भक्त बने बिना ही पोप विरोधी कैसे बना। कहा जाता है कि वह एविग्नोन गया और पोप दरबार के सांसारिक विलास और वैभव को देखकर उसको घृणा हो गई। अपने पूर्ववर्ती मैकियावेली की भांति वह इटली की उस दुखद स्थिति से बहुत दुखी था जो कि विभिन्न नगर राज्यों के पारस्परिक कलह से उत्पन्न हो गई थी और जिसका कारण वह पोप का हस्तक्षेप समझता था। परन्तु पोपशाही के विरुद्ध उसके हृदय मे विद्रोह की अग्नि भड़कने का सबसे बड़ा कारण शायद यह था कि पोप जॉन २२वें ने

शक्तिशाली 'फ्रांसिसकन सम्प्रदाय' (Franciscan Order) के पादरियों द्वारा अस्तेय धर्म का पालन करने के सिद्धान्त की निन्दा की। इस सिद्धान्त के अनुसार पादरियों को केवल उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिये जो कि उनके अपने धार्मिक कृत्यों के सम्पन्न करने के लिए नितान्त आवश्यक हो। पोप जॉन २२वाँ उसे विधर्म समझता था, क्योंकि उसने देखा कि उसके अन्तर्गत पादरी लोग बावजूद अपनी अस्तेय की प्रतिज्ञा के धनाढ्य हो गये। इसका परिणाम था चर्च में मिथ्याचार का बढ़ना। पोप की इस घोषणा के कारण उसका फ्रांसिसवादियों तथा उनसे सहानुभूति रखने वालों से, जिसमें मार्सीलियो और विलियम ऑफ ओकम भी सम्मिलित थे, एक कटु विवाद छिड़ गया। वह तथा उसका मित्र और साथी जॉन ऑफ जानडुन तथा विलियम पोप पर आक्रमण कर रहे थे; इसलिये फ्रांस और इटली उनके लिए सुरक्षित स्थान नहीं थे। अतः उन्होंने जर्मनी में आकर शरण ली जहाँ कि लुई ने उनका स्वागत किया और वहीं से उन्होंने पोपशाही के विरुद्ध अपनी लड़ाई जारी रक्खी।

'डिफेन्सर पेसिस' के, जो कि १३२४ ई० में प्रकाशित हुआ था, दो मुख्य भाग हैं ऐसा विश्वास किया जाता है कि पहिला भाग जॉन ऑफ जानडुन ने लिखा था और मार्सीलियो ने उसका पुनरावलोकन किया था; इस भाग में राज्य का सिद्धान्त पाया जाता है जिसका आधार अरस्तू का राजनीतिक दर्शन है। यहाँ हमें राज्य की उत्पत्ति, राजनीतिक शक्ति का स्वरूप, उसका लक्ष्य तथा उद्देश्य, कानून तथा कानून-निर्माता के कार्यों इत्यादि की विवेचना मिलती है। दूसरे भाग में, जो कि स्वयं मार्सीलियो का लिखा हुआ माना जाता है, पहिले भाग में प्रतिपादित सिद्धान्तों को चर्च के संघटन, पादरियों के कार्यों तथा राज्याधिकारियों से उनके सम्बन्धों पर लागू करने का प्रयास किया गया है। एक तीसरा भाग भी है जिसे पहिले दो भागों का निष्कर्ष कहा जा सकता है। इस ग्रंथ के रचियताओं का उद्देश्य पोप के निरंकुशता के सिद्धान्त का खंडन करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि 'पोपशाही की दैविक नियुक्ति, जिसके ऊपर उसकी दावों की समस्त शक्ति आधारित थी, एक कल्पना मात्र है और चर्च राज्य के ऊपर एक अनावश्यक भार है।' संक्षिप्तता के लिए निम्नांकित विवरण में 'डिफेन्सर पेसिस' का लेखक हम केवल मार्सीलियो को ही कहेंगे।

अरस्तु का अनुकरण करते हुये मार्सीलियो की यह धारणा है कि राज्य का जन्म मनुष्य की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है। राज्य स्वतः विकसित चीज है और इसका आधार सेवाओं का परस्पर आदान-प्रदान है। राज्य एक जैविक इकाई है और सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसमें विभिन्न समूहों और वर्गों में परस्पर सहयोग होता है। वह एक पूर्ण और स्वपर्याप्त समाज है जिसका उद्देश्य शुभ जीवन की प्राप्ति है। विभिन्न समूह तथा वर्ग जिनमें कि समाज संघटित होता है, जैसे कि कृषक, शिल्पकार, सिपाही, अधिकारी, व्यापारी, पूंजीवादी तथा पादरी, अपने-अपने विशिष्ट कार्यों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति में योग देते हैं। जब तक कि प्रत्येक वर्ग अपने

कर्तव्य का पालन करता रहता है तब तक राज्य में पूर्ण शान्ति बनी रहती है। राज्य के विभिन्न अंगो में पूर्ण सहयोग की स्थापना करके शान्ति बनाये रखना सरकार का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। मार्सीलियो विभिन्न वर्गो के कार्यों का भी विवरण देता है। जब वह पादरियो पर आता है तो वह एक बडी कठिनाई का अनुभव करता है। अन्य सभी वर्गों के कार्यों की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है किन्तु पादरियो के कार्यों की उपयोगिता उसे इतनी स्पष्ट दिखलाई नही पडती। तथापि, आखिर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल मे किसी न किसी रूप मे पादरी वर्ग रहा है, इसलिये उसकी कुछ न कुछ तो उपयोगिता होनी ही चाहिये। मार्सीलियो को यह उपयोगिता इस बात मे दीखी कि पादरी लोग नरक का भय दिखाकर भ्रष्ट व अनुशासनहीन व्यक्तियों को पापमय जीवन से रोकें। "व्यवस्थापको ने एक ईश्वर की कल्पना की है जिससे कि कोई बात छिपी नही है और जो कानून का पालन करने का आदेश देता है और उसे भंग करने वालों को दण्ड देता है।" इसलिये पादरी का सच्चा कार्य नरक का भय दिखाकर पुलिस तथा न्यायाधीश के कार्य का पूरक है। इस भय से कि कही इस विचार से धार्मिक प्रकृति के लोग विक्षुब्ध न हो उठें मार्सीलियो ने यह भी कह दिया कि पादरी लोग परलोक सुधारने मे भी हमारी सहायता करते है। उसका कहना था कि जिस शुभ जीवन की सिद्धि राज्य का उद्देश्य है उसका अर्थ केवल पृथ्वी पर ही शुभ जीवन नही है बल्कि उसमे परलोक का शुभ जीवन भी सम्मिलित है। लौकिक शुभ जीवन का स्वरूप हम दर्शन के अध्ययन तथा अपनी बुद्धि द्वारा जानते है और पारलौकिक शुभ जीवन के ज्ञान के लिए हमें ईश्वर प्रेरणा तथा पादरियो पर निर्भर करना पड़ता है। इसलिये पादरियो का सच्चा कार्य भावी जीवन मे मोक्ष प्राप्त करने में हमारी सहायता करना है। स्वयं मार्सीलियो के शब्दो से पादरियों का कार्य 'उन बातों को जानना तथा उनका उपदेश करना है, जिनमे धर्मशास्त्रों के अनुसार, नित्य मोक्ष प्राप्त करने के लिये और यातना से बचने के लिये, विश्वास करना, जिन्हे करना या जिनसे बचना आवश्यक है।' इसका अभिप्राय है कि पादरी-वर्ग का जीवन इहलौकिक सुख की प्राप्ति मे कोई भाग नही है; उसका कार्य केवल भावी जीवन तक ही परिमित है। पादरियो को लौकिक विषयों से कोई सम्बन्ध नही रखना चाहिये, उनका समुचित कार्य केवल हमे मोक्ष का मार्ग दिखाना और संस्कार सम्पन्न करना है। एक वर्ग के रूप में वे अन्य सामाजिक-वर्गों की अपेक्षा विशेषाधिकार का दावा नही कर सकते; शेष की भांति उन्हें भी राज्य के अधीन रहना चाहिये। "समस्त सांसारिक विषयों मे पादरियो के ऊपर राज्य का नियन्त्रण ऐसा ही है जैसा कि कृषि अथवा व्यापार के ऊपर। मार्सीलियो के अनुसार, आधुनिक शब्दो मे धर्म एक सामाजिक व्यवस्था है; है; यह भौतिक साधन प्रयोग करती है और सामाजिक परिणाम उत्पन्न करती है।"*

* "In all temporal concerns the control of the clergy by the state is in principle exactly like the control of agriculture or trade. Stated in modern terminology, according to Marsiglio, religion is a social phenomenon; it uses material agencies and produces social consequences."

—Sabine; *op. cit.*, page 294.

यह 'दो तलवारों' के परम्परागत सिद्धान्त पर एक करारा प्रहार है। यह धर्म के अतिक्रमणात्मक स्वरूप तथा चर्च के एक स्वतंत्र और प्रभुत्वपूर्ण आर्थिक शक्ति होने के दावे का निषेध है। इतना ही नहीं, इसका परिणाम तो यह निकलता है कि चर्च राज्य का एक विभाग मात्र ही है। मार्सीलियो से पहिले किसी मध्यकालीन लेखक ने इतने स्पष्ट शब्दों में चर्च के ऊपर राज्य के प्रभुत्व का समर्थन और पादरियों के लौकिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में बल-प्रयोग करने के अधिकार से इन्कार नहीं किया था। उसने चर्च को राज्य के अधीन इसलिये किया क्योंकि उसका विचार था कि दो समान शक्तियों का साथ-साथ रहना और उसमें से प्रत्येक का एक दूसरे से श्रेष्ठ तथा उच्चतर होने का दावा करना इटली तथा यूरोप में कलह तथा संघर्ष का एक जबर्दस्त कारण था। एक्वीनास की भाँति श्रद्धा और विवेक में सामंजस्य स्थापित करने की जगह मार्सीलियो ने उन दोनों को बिल्कुल अलग-अलग कर दिया। उसका विश्वास था कि लौकिक समस्याओं के निर्णय में श्रद्धा (धर्म) को नहीं खींचना चाहिये। उनका निर्णय गुणों तथा बुद्धि के आधार पर होना चाहिये, ईश्वर प्रेरणा का उसमें कोई स्थान नहीं है। इसलिए यदि 'डिफेन्सर पेसिस' पर चर्च ने मार्सीलियो को 'निकृष्टतम विधर्मी' कह कर पुकारा, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

राज्य के स्वरूप और संघटन के उपरान्त मार्सीलियो सरकार के निर्माण की विवेचना करता है। उसकी विवेचना का सर्वाधिक आधारभूत अंश उसकी कानून तथा उसके निर्माण विषयक धारणा है। उसके कानून सम्बन्धी विचार एक्वीनास के विचारों से एकदम विपरीत हैं। जैसा हम जानते हैं टॉमस ने कानून को चार भागों में विभाजित किया है—शाश्वत, नैसर्गिक, मानवीय और दैविक। यद्यपि उसने इन सबको ब्रह्माण्ड की वास्तविकता (Cosmic realities) का, विभिन्न स्तरों पर एक ही सत्य का चार रूपों में प्रकटीकरण माना है और इस प्रकार से उसने इसके बीच निकटता का सम्बन्ध स्थापित किया है, उसके लिये मानवीय कानून नैसर्गिक कानून से ही निकला है। इन सभी बातों में मार्सीलियो सन्त एक्वीनास से भिन्न है। दैविक कानून ईश्वर का आदेश है; उसे मनुष्य ने नहीं बनाया; यह यह निर्धारित करता है कि परलोक में सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य को क्या कार्य करने चाहियें और किन कार्यों से बचना चाहिए। इसके विपरीत मानवीय कानून समस्त नागरिक समूह अथवा उसके प्रधान भाग का आदेश है जिसे प्रत्यक्ष रूप में वे लोग बनाते हैं जिन्हें कि कानून बनाने की शक्ति मिली हुई है। मानवीय कानून यह निर्धारित करता है कि इसी लोक में लक्ष्य पर पहुँचने के लिये मनुष्य को क्या करना चाहियें और क्या नहीं करना चाहिए। दोनों प्रकार के कानूनों की उक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि उन दोनों के स्रोत और क्षेत्र अलग-अलग हैं। एक को ईश्वर बनाता है, उसका सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से होता है, उसे तोड़ने का दण्ड ईश्वर देता है। दूसरे का स्रोत मानव इच्छा है और वह इसी संसार के लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है; इसे तोड़ने का दण्ड राज्य द्वारा दिया जाता है। इसलिए दोनों में कोई सामान्य आधार नहीं है; दोनों एक

दूसरे से बिल्कुल अलग और स्वतन्त्र हैं। हाँ, दोनों में केवल साम्यता है कि दोनों को तोड़ने का परिणाम दण्ड भोगना होता है। मानवीय कानून का स्रोत दैविक कानून नहीं है। दूसरी बात यह कि जब कि एक्वीनास कानून को मूल रूप से तर्क और बुद्धि का आदेश समझता था, मार्सीलियो के लिए वह मानव अथवा दैविक इच्छा की अभिव्यंजना है। वह उसके बौद्धिक तत्त्व से इन्कार नहीं करता किन्तु इस बात के ऊपर पूरा जोर देता है कि कानूनी दृष्टिकोण से उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसे एक सुनिश्चित शक्ति द्वारा बनाया या लागू किया जाता है। एक्वीनास एक शक्ति द्वारा लागू किया जाना केवल मानवीय कानून की ही विशेषता समझता था, शाश्वत तथा नैसर्गिक कानून की नहीं। मार्सीलियो कानून के इस वाह्य रूप अर्थात् क्रियान्वीकरण को उसके तत्व से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है। तीसरी बात यह कि मार्सीलियो कानून के विवशकारी (Coercive) स्वरूप पर जोर देता है; उसे दण्ड के भय से लागू किया जाता है। जो भी नियम इस प्रकार लागू नहीं किया जा सकता मार्सीलियो उसे कानून की संज्ञा देने के लिए तैयार नहीं। क्योंकि वह समाज की समस्त विवशकारी शक्ति पर केवल सरकार या राज्य का एकाधिपत्य मानता है, इसलिए उसके विचार से समस्त धर्म कानून का केवल वही अंश कानून हो सकता है जिसे कि राज्य स्वीकार करे। अन्तिम बात यह कि मानवीय कानून समाज-हित के लिए बनाए जाते हैं। मार्सीलियो की कानून विषयक धारणा का सर्वोत्तम निष्कर्ष प्रोफेसर एलन के निम्नांकित शब्दों में दिया जा सकता है "कानून तत्त्वतः इस बात का निर्णय है कि समाज के लिए न्यायपूर्ण और लाभदायक क्या है। यह सामान्य आवश्यकता की एक आदेशात्मक अभिव्यंजना है जिसकी रचना बुद्धि द्वारा होती है, मान्यता-प्राप्त शक्ति द्वारा जिसे क्रियान्वित किया जाता है और जिसके पीछे शक्ति की स्वीकृति है।"*

क्योंकि मानवीय कानून निर्मित होता है, इसलिए इसका निर्माण करने वाली तथा इसको लागू करने वाली कोई शक्ति होनी चाहिये। मार्सीलियो उस शक्ति को 'समस्त जनता अथवा सम्पूर्ण नागरिक समूह अथवा उसके प्रधान भाग' में देखता है। उसे वह व्यवस्थापक (*Legislator*) कह कर पुकारता है। यह सिद्धान्त कि समस्त नागरिक समूह कानून का निर्माता है मार्सीलियो के राजनीतिक दर्शन का मूल है, इसलिए इसका अध्ययन हमें बहुत ध्यानपूर्वक करना चाहिए। हमें यह बात अच्छी तरह से समझनी चाहिये कि जनता अथवा समस्त नागरिक समूह के प्रधान भाग को किस अर्थ में व्यवस्थापक माना जा सकता है। एक अर्थ इसका यह हो सकता है कि समस्त वयस्क पुरुष समवेत होकर कानून बनायें जैसा कि एथेन्स तथा प्राचीन यूनान के दूसरे

* "Law is essentially a judgment as to what is just and advantageous to the community. It is an imperative expression of the common need, formulated by reason, promulgated by recognised authority, sanctioned by force."
—Hearnshaw: *op. et.*, page 181.

नगर-राज्यों मे होता था। मार्सीलियो इस प्रकार से कानून बनाने और लागू करने की सम्भावना को स्वीकार करता है। परन्तु इसके साथ-साथ वह इस सम्भावना का भी संकेत करता है कि समस्त नागरिक समूह अपनी व्यवस्थापन शक्ति को एक राजा अथवा एक आयोग को सौंप दे जोकि इसी कार्य के लिये नियुक्त किया जाये। इस प्रकार राजा अथवा आयोग द्वारा बनाये हुए कानून भी जनता द्वारा बनाये हुए ही समझे जायेंगे क्योंकि राजा अथवा आयोग जनता के नाम में तथा उसकी ओर से कार्य करेगा। मार्सीलियो कहता है कि उस निकाय के पीछे जिसे कि कानून बनाने की शक्तियाँ मिली हुई हैं, चाहे वह एक आयोग हो, चाहे एक राजा या अन्य कोई अंग, 'सदा समस्त जनता की शक्ति है जिसकी सामूहिक इच्छा में ही कानून का तत्त्व तथा जिसके सामूहिक जीवन में राज्य का तत्त्व निहित है।'

जब समस्त जनता एक साधारण सभा के रूप में समवेत होती है तो यह आवश्यक नहीं कि कानून सर्वसम्मति से ही बनाना चाहिये; सर्वसम्मति नितान्त दुष्कर है। कानून जनता के 'प्रधान भाग' (Prevailing part) द्वारा बनाया जा सकता है। इस अर्थात् 'प्रधान भाग' का सही-सही अर्थ क्या है, इसके ऊपर काफी विवाद चला है। कुछ लोगों ने इसका अर्थ बहुमत लगाया है, किन्तु मार्सीलियो का ऐसा विचार दिखाई नहीं पड़ता। 'प्रधान भाग' से उसका अभिप्राय उस भाग से है जिसकी बात में संख्या तथा गुणों के दृष्टिकोण से सबसे अधिक प्रभाव होता है। मध्य काल में यह सिद्धान्त प्रचलित नहीं था कि धारा सभा में प्रत्येक एक गिना जाता है और कोई भी एक से अधिक नहीं गिना जाता; प्रमुख व्यक्तियों का महत्त्व जन-साधारण से अधिक होता था। मार्सीलियो के शब्दों में हमें जन-तन्त्री समानता के विचार खोजने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। परन्तु एक बात निश्चित है कि जनता की कानून बनाने की शक्ति निरपेक्ष और असीम है चाहे उसका प्रयोग वह किसी के द्वारा क्यों न करती हो।

व्यवस्थापक का एक मुख्य कार्य अपनी इच्छा का पालन करने के लिये कार्य-पालिका को चुनना था। कार्यपालिका अपने कर्तव्य का पालन करने में व्यवस्थापक के नियन्त्रण में रहती है। इसका प्रमुख कार्य व्यवस्थापिका द्वारा बनाये हुए कानूनों को क्रियान्वित करना और यह देखना है कि राज्य के प्रत्येक अंग अपना कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न करें। इसी बात को निश्चित बनाने के लिये दूसरे समस्त कार्य-पालिका अधिका-रियों तथा न्यायपालिका निकायों को उसके अधीन रक्खा गया। इसे उच्चतम शक्ति बना दिया गया और राज्य के अन्य किसी समूह तथा भाग से अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए उसका सशस्त्र सेना के ऊपर अधिकार रक्खा गया।

कार्यपालिका को न [illegible] भी होना चाहिए। कार्य-पालिका की [illegible]
का सबसे बड़ा संरक्षण है। [illegible]
का प्रजातंत्र के ऊपर राजतन्त्र को तरजीह देना स्वाभाविक ही था यद्यपि जनतन्त्र में

भी कार्य-पालिका की एकता स्थापित की जा सकती है। वास्तव मे उसने सरकार के रूप के बारे मे कुछ अधिक नही कहा। केवल एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है और वह यह कि वह वंशानुगत राजतन्त्र की अपेक्षा निर्वाचित राजतन्त्र को कही अच्छा समझता था। कार्य-पालिका की जिस एकता के ऊपर वह इतना अधिक जोर देता है उसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम भी निकलता है। इसका अर्थ यह है कि चर्च का कोई स्वतन्त्र अधिकारक्षेत्र नही हो सकता और कुछ विशेष मामलों में अपने निजी न्यायालयो द्वारा अपने निजी कानून लागू करने का अधिकार नही हो सकता। चर्च के एक अलग अधिकार क्षेत्र को मानना जिसमें कि वह एक स्वतन्त्र अधिकार का प्रयोग करता है कार्यपालिका की एकता को नष्ट करना है।

कुछ समालोचक मार्सीलियो द्वारा किए गए व्यवस्थापिका तथा कार्य-पालिका के विभेद में शक्ति विभाजन का सिद्धान्त देखते है। कार्य-पालिका की व्यवस्थापिका के प्रति अधीनता मे उसको उत्तरदायी शासन दिखाई पडता है तथा उसके इस कथन मे कि कानून साधारण सभा के प्रधान भाग द्वारा बनाये जा सकते है वे बहुमत शासन के सिद्धात की झलक पाते है। किन्तु जैसा कि मैकल्वेन तथा अन्य लेखको का कहना है, मार्सीलियो में जनतन्त्र, बहुमत शासन तथा शक्ति विभाजन के सिद्धान्त जैसा कुछ नही है। वास्तव में उसका व्यवस्थापक आधुनिक व्यवस्थापिका तथा कार्यपालक आधुनिक राज्य के आधुनिक कार्य-पालिका के अनुरूप नही है। उसका व्यवस्थापक कानून की शक्ति का स्रोत है, स्वयं कानूनों का नही जिनको राजा या व्यवस्थापक के द्वारा नियुक्त कोई अन्य बनाता है। व्यवस्थापक का कार्यपालक के ऊपर ऐसा नियन्त्रण नही है जैसा कि आजकल ससद का मंत्रिमडल के ऊपर होता है; इसका अर्थ तो केवल इतना है कि राजा जनता का सेवक है और अपनी शक्ति के लिए उस पर निर्भर करता है। उसकी जनता के ऊपर निर्भरता इस बात का सरक्षण थी कि वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग नही करेगा। यह हम पहिले ही बता चुके हैं कि उसके सिद्धान्त का अर्थ बहुमत का शासन नही है क्योंकि केवल संख्या ही जनता के किसी भाग को प्रधान नही बनाती, उसके लिए गुण आवश्यक है। मार्सीलियो मे इस प्रकार का कोई सूत्र नही पाया जाता कि किसी भी व्यक्ति को एक से अधिक नही माना जायेगा। परन्तु जो चीज़ हमें उसमे मिलती है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह राजा को जनता का सेवक बताता है और जनता को उसके दुर्व्यवहार के लिये राजा को दण्ड देने का अधिकार देता है और इस प्रकार वह एक सीमित राजतन्त्र (Limited Monarchy) का विचार हमारे सामने रखता है। 'डिफेन्सर पेसिस' के प्रथम भाग मे उसके लेखको ने पूर्ण तथा स्वपर्याप्त समाज की जो रूपरेखा दी है उसकी मुख्य विशेषताओं का साराश सैबाइन ने इतने सुन्दर शब्दो मे दिया है कि उसके पूर्ण अवतरण को उद्धरित किये बिना हम नही रह सकते। वह लिखता है: 'विभिन्न वर्गो का यह एक जैविक सम्पूर्ण है; इसमे प्रत्येक वे भौतिक तथा नैतिक बातें सम्मिलित है जो कि उसके नागरिकों के लिए एक निरन्तर शुभ लौकिक जीवन के लिए आवश्यक है। उसकी

व्यवस्थापन की शक्ति सम्पूर्ण के कल्याण के लिये अपने अगों को नियमित करने का उसका अपरिहार्य अधिकार है। उसकी कार्यपालिक शक्ति राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करने वाला सपूर्ण का एक अभिकरण है और क्योंकि राज्य एक ईकाई है, इसलिए उसमे अधिकार क्षेत्र के अन्तर तथा शक्ति विभाजन के लिये कोई स्थान नही हो सकता। लौकिक दृष्टिकोण से समाज निरपेक्ष रूप से स्वपर्याप्त है और निरपेक्ष रूप से सर्वशक्तिमान् है। यह स्वय अपने जीवन तथा अपनी सभ्यता का अभिभावक है।''''''यदि उसके नागरिको का कोई आध्यात्मिक हित है तो वह परलोक मे है और राज्य के जीवन से परे है और वास्तव मे इस जीवन को स्पर्श करने की शक्ति उसमे नही है।''*

'डिफेन्सर पेसिस' के प्रथम भाग मे राज्य के स्वरूप तथा उसके शासन संगठन के विषय मे निकले हुये परिणामों को द्वितीय भाग मे चर्च के सगठन, पादरियो के कार्यो, राज्याधिकारियों से उनके सम्बन्ध इत्यादि समस्याओं पर लागू किया गया है। मार्सीलियो का कहना है कि जिस प्रकार राज्य को केवल अधिकारी समूह के अनुरूप समझ लेना भूल होगी, बल्कि उसमें समस्त नागरिक जन सम्मिलित है, इसी प्रकार चर्च को भी केवल पादरियो तक ही सीमित रखना गलत होगा, उसमे समस्त ईसाई, पादरी तथा जन-साधारण सम्मिलित है, और राज्य की भाँति चर्च मे भी अन्तिम शक्ति सम्पूर्ण में निहित है, उसके किसी अश मे नही। क्योंकि समस्त ईसाइयो के लिए एक स्थान पर समवेत होना और व्यवस्थापक के रूप में कार्य करना असम्भव है, इसलिये चर्च मे अन्तिम शक्ति की अभिव्यजना करने वाला अग साधारण परिपद है। इसका चुनाव इस प्रकार होना चाहिये ताकि इसमें प्रत्येक प्रान्त तथा समाज को समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके, और इसमे पादरियो तथा जन-साधारण, दोनो के प्रतिनिधि होने चाहिये। केवल साधारण परिषद् को ही धर्म-ग्रथो की अधिकारपूर्ण व्याख्या करने, धर्म-वहिष्करण का आदेश देने, चर्च सगठन मे रिक्त स्थानो की पूर्ति करने तथा ईसाई उपासना के कर्मकाण्ड को नियमित करने का अधिकार है। साराश यह कि मार्सीलियो चर्च शासन के विषय मे साधारण परिपद को वही दर्जा तथा शक्तियाँ

---

* "It is an organic whole composed of classes, including everything within itself both physical and ethical, *that is needed for its continued existence* and the good life, in a secular sense, of its citizens. Its power of legislation is the inevitable right of such a corporation to regulate its own parts for the well being of the whole. Its executive power is the agent of the corporation *to put* into effect whatever the unity of the state requires, and because of this unity there is no room for differences of jurisdiction or *dispersion of power. From a* secular point of view the community is absolutely self-sufficient *and absolutely* omnipotent. It is the guardian of its own life and its own civilization ...... If its citizens have a 'spiritual' well being, this belongs in another *world* and another life, *beyond* the life of the state, indeed, but also powerless to *touch* that life."

—Sabine; *op. cit.*, page 298.

देता है जो कि समाज के नागरिक विषयों में समस्त नागरिक समूहिक को प्राप्त हैं। मार्सीलियो चर्च को एक ईसाई राज्य कहकर पुकारता है जिसमे राजतन्त्रीय शासन है और पोप जिसका राजा है। परन्तु वह चर्च को न कोई स्वतन्त्र अधिकार क्षेत्र देता है और न कोई विवशकारी शक्ति। राज्य की कार्यपालिका का एकीकृत स्वरूप, जिस पर वह इतना जोर देता है, चर्च के लिए लौकिक विषयों मे किसी स्वतन्त्र भाग के लिए कोई स्थान ही नही छोटता। पादरियों का एकमात्र कार्य उपदेश देना और सस्कार सम्पन्न कराना है ; उनके हाथ में आत्मा का उपचार है, इससे अधिक कुछ नही। प्रभु ने पादरियों को जो Power of the keys प्रदान की थी उसका अर्थ पोपवादियों ने लौकिक शक्ति (temporal authority) और उसको प्रयोग मे लाना, लगाया है। मार्सीलियो ने इस शक्ति को निर्णायक की शक्ति न मान कर द्वारपाल की शक्तिमात्र बतलाया है। वह पादरी की तुलना एक वैद्य से करता है जो यह तो घोषित कर सकता है कि अमुक व्यक्ति कोढी है किन्तु उसका समाज से बहिष्कार नही कर सकता। इसी प्रकार एक पादरी धर्म-बहिष्कार का निर्णय तो दे सकता है, किन्तु उसे मनवा नही सकता। मार्सीलियो के सिद्धान्त का सार ही यह है कि वह पादरीगण को किसी भी प्रकार की विवशकारी शक्ति नही देता। जैसा कि हम पहिले ही कह चुके हैं उनका कार्य केवल ईश्वर वाक्य का प्रचार करना और संस्कार सम्पन्न कराना है ; वे केवल आत्मा के सरक्षक हैं, इससे अधिक कुछ नही।

पोप की प्रभुता से तो वह एकदम इन्कार करता है। पोप चर्च का सर्वप्रभुत्व-पूर्ण प्रधान नही है बल्कि केवल उसका मुख्य प्रशासकीय अधिकारी है। पोपशाही की सख्या ईश्वरकृत नही, ऐतिहासिक शक्तियों की उपज है। पीटर में अन्य धर्मावतारो (Apostles) की अपेक्षा कोई विशेषता नही थी और आदि चर्च मे साधारण पादरी तथा विशप में कोई भेद नही था। जहाँ तक कि उनकी आध्यात्मिक शक्ति का सम्बन्ध है, समस्त पादरीगण, विशपगण तथा पोप समान हैं ; उनमे से कोई भी दूसरों से श्रेष्ठ हैं . . . .

उनके पीछे कोई दैविक स्वीकृति नही है। पोप के चर्च के प्रभुत्वपूर्ण प्रधान होने तथा शासको के ऊपर प्रभुता के प्रयोग करने के दावे को मार्सीलियो इटली मे ही नहीं बल्कि यूरोप भर मे सघर्ष तथा असतोष का कारण समझता था।

मार्सीलियो सन्त फ्रांसिस के अस्तेय के आदर्श को समस्त पादरीगणो के लिए एक सच्चा आदर्श समझता है। भरण-पोषण के लिए जितना आवश्यक है उससे अधिक पादरियो को नही रखना चाहिये। इस प्रश्न का कि चर्च की सम्पत्ति का स्वामी कौन है मार्सीलियो एक ऐसा उत्तर देता है जो कठिनाइयों से खाली नही है। वह कहता है कि उसके स्वामी वे लोग है जिन्होने कि उसे चर्च को अर्पित किया है। इस उत्तर की जटिलताओं में घुसना हमारे लिए यहाँ आवश्यक नही। हमारा मुख्य उद्देश्य तो यह दिखाना है कि मार्सीलियो किस प्रकार इस परम्परागत सिद्धान्त को ठुकराता है कि

आध्यात्मिक विषय चर्च के अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं और उसका अधिकार राज्य के अधिकार से उच्चतर है, और किस ढग से वह पादरियो की किसी भी प्रकार की विवशकारी शक्ति का निषेध करता है तथा उसे एक जैविक सामाजिक ढाँचे का अंग मात्र समझता है। जब तक कि राज्य की स्वतन्त्रता के समर्थक चर्च के आध्यात्मिक अधिकार के औचित्य को मानते थे तब तक वे नैतिक आधार या लौकिक विषयो में पोप के हस्तक्षेप को नहीं रोक सकते थे। पोप की प्रभुता के दावे को ठुकराने का एक-मात्र मार्ग यही था कि चर्च को कोई भी विशेष अधिकार क्षेत्र न दिया जाये तथा उसको विवशकारी शक्ति से वंचित कर दिया जाये। मध्यकालीन विचारकों में सबसे पहले ऐसा करने का श्रेय मार्सीलियो को है। कहा जा सकता है कि जनता को समस्त राजनीतिक शक्ति का स्रोत और समस्त व्यवस्थापन का प्रथम तथा समुचित कारण बनाकर उसने जन राजसत्ता की धारणा का प्रतिपादन किया। उसकी यह घोषणा करना कि चर्च के अन्दर व्याख्या तथा अन्य विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने का अधिकार साधारण परिषद को है और पोप उसके अधीन है, 'कन्सीलियर' आन्दोलन की पूर्व सूचना देना था जो कि १५वी शताब्दी में विकसित हुआ। परन्तु मार्सीलियो ने साधारण परिषद के विचार को पूर्ण रूप से विकसित नहीं किया। इसका पूर्ण विवरण देना एक अन्य महान् फ्रांसिसवादी विलियम ऑफ ओकम का कार्य था। उसी पर अब हम आते है।

विलियम ऑफ ओकम (William of Occam)—अन्त में हम विलियम ऑफ ओकम की विवेचना करेंगे जिसने कि मध्यकालीन पोपशाही के विरुद्ध राज्य की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। विलियम मार्सीलियो का समकालीन था; उसका जन्म १२९० और १३०० के बीच में हुआ और उसकी मृत्यु १३४९ के निकट हुई। वह एक अंग्रेज था और इसलिये पोप जॉन २२वें के विरुद्ध संघर्ष में उसके जर्मन सम्राट लुई का पक्ष ग्रहण करने का कोई स्वाभाविक कारण दिखाई नहीं देता। वह 'फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय' (Franciscan Order) का सदस्य था और मार्सीलियो की भाँति पोप ने उसको भी धर्म-बहिष्कृत कर दिया था क्योंकि वह अस्तेय सिद्धान्त का हामी था और उनके ऐसे कार्यों की निन्दा करता था जिन्हें वह गैरकानूनी और अत्याचारपूर्ण समझता था। मार्सीलियो के सदृश वह लुई के दरबार में गया और लगभग आठ वर्षों तक वहाँ रहा।

किया जाना चाहिये जिसका कोई बौद्धिक आधार न हो या जो धर्म-शास्त्र की तर्क-संगत व्याख्या के अनुसार न हो।

विलियम का प्रमुख उद्देश्य एक क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन की रचना करना नही था ; वह द्वन्द्ववादी* (Dialectician) था, दार्शनिक नही। उसकी कृति मे हमे राज्य सम्बन्धी कोई सिद्धान्त नही मिलता। इसके अतिरिक्त उसके इस विश्वास ने भी कि अपने व्यक्तिगत विश्वास की घोषणा से सत्य अथवा ज्ञान का कोई हक न होगा उसे विभिन्न प्रश्नो पर सुनिश्चित रूप से अपने विचार अभिव्यक्त करने से रोका। उसकी कृतिया बौद्धिक वाद-विवाद के रूप मे है जिनमे कि पोप तथा साम्राज्य के मध्य सघर्ष मे दोनो पक्षों के गुण-दोषों की पूर्ण रूप से विवेचना की गई है परन्तु किसी औपचारिक निर्णय पर नही पहुँचा गया। तथापि उसने कुछ ऐसे विचारों की उद्-भावना को जिनका राजनीतिक विचार के इतिहास मे बडा महत्व है। वे उस भीषण वाद-विवाद का केन्द्र है जो कि लगभग १०० वर्षो तक धार्मिक जगत मे चलता रहा और विशुद्ध राजनीतिक प्रश्नों पर उनका प्रभाव बढ़ता ही रहा।

विलियम ऑफ ओकम के विचार का आधार यह है कि समस्त शक्ति उस उद्देश्य द्वारा सीमित है जिसके लिए कि वह दी जाती है और उसका प्रयोग केवल सामान्य हित के लिए तथा बुद्धि और स्वाभाविक न्याय के अनुसार होना चाहिये। पोप तथा सम्राट द्वारा किये गये दावों की समीक्षा उन दोनों के मध्य समुचित सम्बन्ध निर्धारित करने मे वह इसी सिद्धान्त का पालन करता है। साधारणतया वह धर्मशक्ति तथा राज-शक्ति के परम्परागत विभेद को स्वीकार करता था और यह मानता था कि आध्यात्मिक तथा लौकिक क्षेत्रों का विभाजन सम्भव है। लौकिक विषयो में पोप जॉन २२वें के हस्तक्षेप को वह अन्यायपूर्ण समझता था और उससे बहुत खिन्न तथा विक्षुब्ध था। उसने जोरदार शब्दो में यह घोषणा की कि पोप का अधिकार केवल आध्यात्मिक विषयों के ऊपर है ; सासारिक मामलों पर उसका कोई अधिकार नही है। उसके अनुसार पोप को केवल वे ही शक्तिया प्राप्त है जो कि नैतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओ के लिए आवश्यक हैं। यह शक्ति प्रबन्धात्मक थी क्योकि यह मनुष्य के आध्यात्मिक कल्याण के लिए आवश्यक थी ; यह शासनात्मक नही थी क्योकि मनुष्य अथवा किसी चीज के ऊपर नियंत्रण करने की यह कोई निरंकुश शक्ति प्रदान नही करती थी। यह आध्यात्मिक ध्येय प्राप्ति की आवश्यकताओं का अतिक्रमण नही कर सकती थी। विलियम का तर्क यह था कि ईसा का प्रतिनिधि होने के नाते पोप की शक्तिया स्वयं ईसा की शक्तियों से अधिक नही हो सकती थी और भगवान ईसा का अवतरण मनुष्य के अधिकारों

* यहाँ पर द्वन्द्ववादी शब्द को उस अर्थ मे प्रयोग नही किया गया जिसमें कि हीगल तथा कार्ल मार्क्स ने किया है। विलियम को द्वन्द्ववादी कहने का अभिप्राय यह है कि सुकरात तथा अफलातून की भांति वह प्रश्नोत्तर द्वारा अपने विषय का निरूपण करता था।

और सम्पत्ति की पूर्ति के लिए हुआ था उनसे वंचित करने के लिए नहीं। यदि पोप अपने उचित अधिकारों की सीमाओं का उल्लंघन करता है और लौकिक विषयों में हस्तक्षेप करता है तो उसकी अवज्ञा की जा सकती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी पोप धर्मग्रन्थों की अवहेलना नहीं कर सकता। धर्मग्रन्थों की व्याख्या करने का अधिकार पोप को अथवा पादरियों को नहीं वल्कि सबसे अधिक प्रज्ञाशील व्यक्ति को है जो सदाचार और चर्च सेवा के लिये सुविख्यात हों, चाहे वह धनाढ्य हों चाहे दरिद्र, चाहे अधीन हों चाहे स्वामी। इस प्रकार से मनुष्य के शाश्वत मोक्ष तथा धर्मानुयायियों के संगठन के लिये चर्च के अन्दर पोप के राजतन्त्री अधिकार को स्वीकार करते हुए भी ओकम ने उसकी शक्ति के ऊपर बहुत बड़ी रोक और सीमायें लगादीं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसने आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों ही क्षेत्रों में पोप की प्रभुता के दावे को ठुकरा दिया और सम्राट् की लौकिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया।

ओकम इस बात को तो मानता है कि राज्यशक्ति पोप के नियन्त्रण से स्वतंत्र रहनी चाहिए और वह जनता के स्वशासन के अधिकार पर आधारित है; किन्तु इसके साथ ही साथ वह सम्राट् की शक्तियों को भी सीमित करना चाहता है। सम्राट् का यह कर्तव्य है कि वह अपने शासन को न्यायशील तथा प्रजा के लिए उपयोगी बनाये, और परमात्मा की इच्छा, स्वाभाविक विवेक तथा न्याय के आदेश तथा राष्ट्रों के सामान्य कानूनों के अनुसार कार्य करे। सम्राट् की शक्ति यद्यपि पोप से स्वतन्त्र है, किन्तु उसका प्रयोग कानून के अन्दर होना चाहिए। सम्राट् की शक्ति के मनमाने प्रयोग का भी वह उतना ही विरोधी था जितना कि पोप की मनमानी का; किसी भी क्षेत्र में शक्ति का अपने उद्देश्य द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन उसे असह्य था। इसलिए वह पोपशक्ति तथा राज्यशक्ति दोनों को नियन्त्रित और सीमित रखना चाहता था।

पोप की अनियन्त्रित तथा अनुत्तरदायी निरंकुशता का विरोधी होने के कारण विलियम ने चर्च की साधारण परिषद् के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया; इसे वह पोप की शक्ति के ऊपर सबसे अधिक उपयुक्त रोक समझता था। मार्सीलियो तथा जॉन ऑफ पेरिस की अपेक्षा विलियम ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अधिक विस्तारपूर्वक और व्यापक रूप से किया। उसने कहा कि साधारण परिषद् का निर्माण अप्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए। एक पेरिस (Parish) में रहने वाले समस्त ईसाइयों को डायासीज (Diocese) के निर्वाचक मण्डल के लिए अपने प्रतिनिधि चुनने चाहियें। इन निर्वाचक मण्डलों को साधारण परिषद् के लिए सदस्य चुनने चाहियें। इनमें पादरियों तथा जन-साधारण दोनों के ही प्रतिनिधि होने चाहियें; इनका दरवाज़ा स्त्रियों के लिए भी खुला होना चाहिए। यद्यपि पोप ने कभी भी इस प्रकार की परिषद् को नहीं बुलाया; किन्तु यदि इसे कभी बुलाया जाता तो यह समस्त ईसाइयों की सबसे अधिक प्रतिनिधि

सस्था होती। धर्मग्रन्थों की व्याख्या करने, धर्म-बहिष्करण का आदेश देने, विवादित प्रश्नो का निर्णय करने तथा एक अत्याचारी अथवा धर्म-विमुख पोप को पदच्युत करने की शक्ति साधारण परिषद की है।

विलियम ऑफ ओकम के साथ चर्च तथा राज्य का ऐतिहासिक विवाद समाप्त हो गया। इसकी जगह एक नवीन समस्या उत्पन्न हुई। वह समस्या यह थी कि चर्च के अन्दर सांविधानिक शासन हो या निरंकुश। कन्सीलियर आन्दोलन इसी समस्या को सुलझाने का एक प्रयास था। यही अगले अध्याय का अध्ययन विषय है।

१४

मध्य काल का अन्त कन्सीलियर आन्दोलन

(The Conciliar Movement)

परिचयात्मक—१३२४ ई० में 'डिफेन्सर पेसिस' का प्रकाशन मध्यकालीन राजनीतिक विचार के एक महत्त्वपूर्ण युग के अन्त की सूचना देता है; तदुपरान्त पोपशाही तथा साम्राज्य का विवाद, जिसमें कि ११वी शताब्दी से आगे मध्यकालीन विचारको का मन उलझा हुआ था, एक निर्जीव प्रश्न बन गया। १४वी शताब्दी के मध्य में पादरियो, राजनीतिक विचारको तथा राजाओं मे एक दूसरे प्रश्न पर बहस छिड़ी। वह प्रश्न था चर्च के शासन का समुचित रूप क्या हो? यहाँ पर यह बताना अप्रसगत न होगा कि विवाद के दोनों पक्षो की पुराने प्रश्न में रुचि क्यो समाप्त हो गई और १५वी शताब्दी मे उनका स्थान एक नवीन प्रश्न ने क्यो ले लिया और क्यों यूरोप के एक छोर से दूसरे छोर तक उस पर बहस हुई।

बात यह है कि पोप बोनीफेस अष्टम को फिलिप दी फेयर ऑफ फ्रास के मुकाबले मे तथा पोप जॉन २२वे को लुई दी बवेरियन के सामने असफलता मिलने के कारण धार्मिक तथा लौकिक शक्तियो के द्वन्द्व मे पोप की हार हो चुकी थी और राज्य की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त स्थापित हो चुका था। एविग्नोन मे बेबीलोनिश कैप्टीविटी (Babylonish Captivity at Avignon) के दुष्कृत्य तथा १३७७ मे पोप ग्रेगरी ११वे के रोम मे लौटने के दो वर्ष पश्चात् पारस्परिक फूट के कुकृत्य ने पोपशाही को न केवल दुर्बल बना दिया बल्कि उसकी मान-प्रतिष्ठा को भी समाप्त कर दिया। जिस पोपशाही का इतना गहरा पतन हो चुका हो उसके प्रभुतापूर्ण शक्ति के दावो का समर्थन करना पादरियो के लिए बडा कठिन हो गया। दूसरी ओर, मार्सीलियो के बाद राज्य की स्वतन्त्रता के समर्थको को कहने के लिये कोई नई महत्त्वपूर्ण बात न रही। इसके अतिरिक्त इङ्गलैंड तथा फ्रास जैसे राज्यों के शासक अधिक व्यवहारिक समस्याओं मे व्यस्त हो गये, जैसे कि सामन्त सरदारो की कार्यवाहियो का दमन करना जोकि उनके केन्द्रीयकरण के प्रयत्नो के मार्ग मे गम्भीर बाधा थी, 'शतवर्षीय युद्ध' तथा 'गुलाब युद्ध' (Wars of Roses)। १३५० ई० मे यूरोप के ऊपर 'ब्लैक डैथ' (Black Death) का जो बवण्डर आया, उसने भी मानव मस्तिष्क को विभिन्न धाराओ मे मोड़ दिया; विचार रहस्यवाद की ओर प्रवाहित हो गया। कला तथा विद्या के पुनरुत्थान ने भी मनुष्य की रुचि को विवाद से हटाकर दूसरे विषयो की ओर प्रवृत्त कर दिया। इस प्रकार मध्यकालीन बौद्धिक प्रवृत्ति मे एक क्रान्ति सी

आगई। मार्सीलियो की मृत्यु के उपरान्त डेढ़ सौ वर्ष का समय मध्य काल से आधुनिक काल तक एक संक्रमण युग है; वह मध्य काल के अन्त की सूचना देता है। इस युग मे राष्ट्रीय राजाओ की शक्ति मे बडी वृद्धि हुई और उसी अनुपात से सामन्त सरदारों की शक्ति का ह्रास हुआ; वाणिज्य तथा नगरो का भी जबर्दस्त विकास हुआ। ये समस्त घटनायें एक दूसरे से सम्बन्धित थी। परन्तु सब से अधिक महत्वपूर्ण घटना थी पोपशाही का ह्रास तथा चर्च परिषदों का उदय। उस युग के राजनीतिक विचार पर सबसे अधिक गहरा प्रभाव चर्च शासन के परिषदीय सिद्धान्त के विकास का पड़ा जिसका विवरण यहाँ दिया जायेगा।

यद्यपि इस युग के प्रमुख व्यक्तियो ने लौकिक शक्ति के ऊपर धार्मिक अधिकारियो के प्रभुत्व के दावों की विवेचना अब छोड दी थी तो भी वे मध्य काल के थे। उनका आरम्भ बिन्दु यह मान्यता थी कि ईसाई जगत एक इकाई है, इसलिए उनका शासन एक केन्द्रीय होना चाहिये। चर्च के अन्दर निरंकुश शासन हो या सांविधानिक, इस प्रश्न पर गरमागरम बहस करते हुये भी वे चर्च की एकता पर जोर देते थे और उसे प्रत्येक दशा मे सुरक्षित रखना चाहते थे। एकता के इस पुराने विचार को [illegible] वाद के नवीन विचार ने चुनौती दी और अन्त मे उसे परास्त कर दिया। [illegible] समाज की धारणा के लोप तथा राष्ट्रीय चर्च के विचार की विजय के साथ मध्य काल का अन्त हो गया और आधुनिक युग का श्रीगणेश हुआ। इस परिवर्तन का [illegible] पुनरुत्थान (Renaissance) तथा प्रटिस्टेण्ट सुधार आन्दोलन (Reformation) ने किया। मैकियावेली पुनरुत्थान का फल था; लूथर तथा [illegible] सुधार युग के पैगम्बर थे। इस अध्याय मे हम परिषदीय सिद्धान्त के उत्थान तथा पतन की विवेचना करेंगे। मैकियावेली का राजनीतिक विचार अगले अध्याय का [illegible] तथा सुधार का वर्णन उससे आगे किया जायेगा।

कन्सीलियर आन्दोलन (The Conciliar Movement) — कन्सीलियर सिद्धान्त को दो अवस्थाओं मे विभक्त करना सुविधाजनक [illegible] प्रथम अवस्था तो वह है जिसमे कि १४वी शताब्दी मे जॉन ऑफ [illegible] मार्सीलियो ऑफ पेडुआ तथा विलियम ऑफ ओकम सरीखे लेखकों ने [illegible] किया कि चर्च की अन्तिम शक्ति का निवास-स्थान साधारण [illegible] है जिसमे कि इस विचार ने साकार रूप ग्रहण किया और [illegible] का निराकरण करने के लिये तीन परिषदें [illegible] के प्रमुख नेता गर्सन, पियरी डेग्रली (Pierre D'Ailly) [illegible] है। कन्सीलियर सिद्धान्त को १४वी [illegible] कहा जा चुका है, इसके अतिरिक्त [illegible] ध्यान जॉन ऑफ पेरिस के इन [illegible] पोप ऐसे विचारो का प्रतिपादन [illegible] नही खाते और वह धर्म-विरुद्ध [illegible]

जाता है तो यह विषय साधारण परिषद् के पास जा सकता है जोकि पोप को पदच्युत कर सकती है। यह सुझाव एकदम निष्फल रहा। मार्सीलियो तथा विलियम ने चर्च की साधारण परिषद् के सम्बन्ध में अपने विचारो का प्रतिपादन किसी व्यवहारिक समस्या को सुलझाने के लिए नही बल्कि पोपशाही के सिद्धान्त का उत्तर देने के लिए किया था। एविग्नोन के पोपो की फ्रास के राजाओं के प्रति अधीनता ने उनकी पोप-विरोधी भावना को और भी तीव्र कर दिया। सारांश यह कि १४वी शताब्दी मे कन्सीलियर सिद्धान्त का प्रचार केवल कुछ थोड़े से पोप विरोधियों ने किया था : यह एक सार्वजनिक आन्दोलन नही बन पाया था ; वह पोप के लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र मे निरकुश शक्ति के दावे के विरुद्ध एक विरोध प्रदर्शन था। चर्च का पारस्परिक कलह यदि न होता तो यह सार्वजनिक आन्दोलन न बनता, परन्तु कलह ने पोप के प्रभुता के दावे को अत्यन्त हास्यास्पद बना दिया। इसके सम्बन्ध मे दो शब्द कहना आवश्यक है।

फूट (The Schism)— पाठको को याद होगा कि चर्च सम्पत्ति पर करारोपण के प्रश्न के ऊपर फ्रास के राजा फिलिप दी फेयर तथा पोप बोनीफेस अष्टम में कटु विवाद छिड गया था। उसमें यद्यपि फिलिप सफल हो गया था, किन्तु उसने इस प्रकार के सकटो की भविष्य मे पुनरावृत्ति को रोकने का दृढ़ संकल्प किया। इसलिये उसने एक फ्रासीसी धर्माधिकारी को पोप पद पर नियुक्त करा लिया और पोप का मुख्य स्थान रोम से हटाकर एविग्नोन मे लिवा ले गया। १३०९ से १३७६ तक पोप एविग्नोन मे फ्रास के राजाओं के प्रभाव मे रहे जो खुल्लमखुल्ला उनकी नीतियों को नियन्त्रित करते थे। इसे पोपशाही की बेबीलोनिश कैप्टीविटी कहते है। इसने पोपो के सम्मान और शक्ति को भारी आघात पहुंचाया जिसकी कमी की पूर्ति कभी नही हो सकी। यूरोप के साधारण विषयो मे उसे जो प्रतिष्ठित स्थान पहिले प्राप्त था वह उसे फिर कभी न मिल सका। एविग्नोन मे पोप के दरबार में हासविलास, पक्षपात तथा धन का अपार अपव्यय होता था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि पादरियो तथा जन-साधारण में जो फ्रास की नीति के विरुद्ध थे, समान रूप से विक्षोभ की एक लहर दौड गई। बेबीलोनिश कैप्टीविटी के इस युग का अन्त तब हुआ जबकि पोप ग्रेगरी ११वां १३७७ ई० मे रोम में वापिस आ गया।

ग्रेगरी ११वें की मृत्यु के पश्चात् एक नये पोप के निर्वाचन ने चर्च मे फूट उत्पन्न करदी जो इतिहास मे 'शिज्म' (Schism) के नाम से प्रसिद्ध है। फ्रास के धर्माधिकारियो ने जो कि एविग्नोन के विलासी जीवन के त्यागने के लिए तैयार न थे, एक इटली निवासी के पोप अर्बन षष्ठ के रूप मे निर्वाचित हो जाने की जो ग्रेगरी ११वें का उत्तराधिकारी था घोर निन्दा की और अनुचित बताया। उन्होने एक फ्रास निवासी को पोप क्लीमेंट सप्तम के रूप में निर्वाचित कर लिया और वे एविग्नोन को लौट गए। इस प्रकार एक की जगह दो पोप हो गए, एक रोम मे और दूसरा एविग्नोन मे। इन दोनों मे से प्रत्येक ईसा का प्रतिनिधि होने और चर्च के प्रधान होने के नाते

उस प्रभुता का स्वामी होने का दावा करता था जिसका कि वास्तविक प्रयोग पोप ग्रेगरी सप्तम, इन्नोसेन्ट तृतीय तथा इन्नोसेन्ट चतुर्थ सरीखे पोपो ने किया था जबकि पोपशाही की शक्ति तथा प्रभाव अपनी चरम सीमा पर पहुंचे हुये थे। यह फूट जो १३७८ से १४१७ तक चली ईसाई जगत मे एक गम्भीर घटना थी ; इसने चर्च की एकता को भंग कर दिया और समस्त यूरोप को दो भागो मे विभक्त कर दिया जिनमे से एक एविग्नोन के पोप का समर्थन करता था और दूसरा रोम के पोप का अनुयायी था। इससे प्रतिद्वन्द्वी पोपों के दावों के औचित्य पर वाद-विवाद होने लगा। इससे यह प्रश्न भी उठाया गया कि आया कि ऐसी कोई उच्चतर लौकिक शक्ति है जो चर्च के झगडो को निपटा सके। विभिन्न परिषदो के वाद-विवाद मे विभिन्न प्रकार के तथा महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नो की मीमासा की गई। इस फूट ने एक कोरे बौद्धिक वाद-विवाद को ही जन्म नही दिया बल्कि इसने प्रत्येक देश के नित्यप्रति के जीवन पर अत्यन्त गहरा प्रभाव डाला। "जब तक भी यह फूट जारी रही तभी तक अपनी प्रजा के लिए आध्यात्मिक गुरु को चुनने का भार अनिवार्य रूप से प्रत्येक राजा के कन्धों पर पडता रहा। परिस्थितियो ने सरकार की पहिले ही से बढती हुई शक्तियो मे एक नई शक्ति को जोड दिया। यूरोपीय राजाओं को बड़ी द्रुतगति से आध्यात्मिक विषयों मे स्वतन्त्र होने की आदत पड़ती जा रही थी जिससे पोप की शक्ति तथा चर्च की एकता को आघात लगा।" * इसलिए समस्त सच्चे ईसाइयों के लिए इस फूट को समाप्त करना और चर्च की खोई हुई एकता को फिर से स्थापित करना एक जबर्दस्त महत्व और तुरन्त आवश्यकता का विषय बन गया। चर्च के राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा राजा सभी लोग इसी घाव को भरने के लिये सगठित हो उठे। इसका परिणाम हुआ कन्सीलियर आन्दोलन। पेरिस विश्व-विद्यालय के गर्सन तथा पियरी डेली सरीखे व्यक्तियो ने, जिन्होने मार्सीलियो तथा प्रारम्भिक चर्च फ़ादर्स का गहरा अध्ययन किया था, यह सुझाव पेश किया कि इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये चर्च की सामान्य परिषद् बुलाई जानी चाहिये। पहिली परिषद् १४०९ ई० में पीसा में बुलाई गई। उसने दोनों पोपो को पदच्युत करके और उसकी जगह एक नये पोप को चुनकर फूट को समाप्त करना चाहा। परन्तु पहिले दोनो पोपों मे से स्वेच्छापूर्वक हटने के लिए एक भी तैयार न था, इसलिये परिषद् के निर्णय का परिणाम यह हुआ कि पोप पद के लिए दावेदार दो की जगह तीन हो गये और स्थिति पहिले से भी विषम हो उठी। यह गड़बड़ इतनी अधिक बढ़ गई कि पोप जॉन २३वें को, जो कि अलेक्जेण्डर का उत्तराधिकारी था, इस समस्या

---

* "So long as the schism lasted, so long would the burden of choosing the spiritual guide for his people be thrown inevitably upon the shoulders of each secular prince. Force of circumstances added a new power to the already extending authority of secular governments ... ...The European princes were rapidly acquiring a habit of independence in spiritual matters to the detriment of papal authority and the unity of the church."

—Doyle : *A History of Political Thought*, page 111.

चर्च के सुधार में उन्होंने उतनी दृढता और तत्परता नहीं दिखाई और न ही वे सर्वसम्मति से किसी सुधार का प्रस्ताव कर सके। इसलिये इस दिशा मे उन्हे कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। हस तथा वाइक्लिफ के विचारो को धर्म विमुख ठहराया गया। यहाँ तक कि हस को तो जीवित ही जला दिया गया यद्यपि उसे सुरक्षा का ग्राश्वासन दिलाकर परिषद् मे ग्रामन्त्रित किया गया था। जॉन गर्सन, जो कि अपने शिक्षक पियरी डेली के उत्तराधिकारी के रूप मे पेरिस विश्वविद्यालय का कुलपति बना, इस परिषद् का प्रमुख सिद्धान्तवेत्ता था और उसके सर्वमान्य नेतृत्व के कारण ही फूट समाप्त हो पाई थी।

फूट को समाप्त करने के लिये परिषद् को पोपशाही के ऊपर अपनी प्रभुता मनवानी आवश्यक थी; इसलिये परिषद्वादियो के समस्त प्रयत्नो का ध्येय यह सिद्ध करना हो गया कि धर्मशक्ति की प्रभुता का स्वामी पोप नही बल्कि साधारण परिषद् थी क्योंकि वह ही समस्त ईसाइयो की सच्ची प्रतिनिधि थी। इसके फलस्वरूप राजसत्ता के स्वरूप तथा राज्य में उसके निवास-स्थान और राजनीतिक सत्ता की सीमाओ तथा विस्तार के विषय में एक लम्बी बहस छिड़ गई। इस प्रकार कॉन्स्टैन्स की परिषद् में राजनीतिक सिद्धान्त की बहुत सी समस्याओ पर बहस हुई। इस लम्बी बहस के फलस्वरूप १४१५ ई० का विख्यात प्रत्यादेश जारी किया गया जिसे डा० फिगिस ने "संसार के इतिहास मे कदाचित सबसे अधिक क्रांतिकारी अधिकृत अभिलेख" कह कर पुकारा है। इसमे यह सिद्धान्त अभिव्यक्त है कि परिषद् को पोप के ऊपर प्रभुता का अधिकार है। इस प्रत्यादेश का कहना है कि "साधारण परिषद् को, जो कि कैथोलिक चर्च का निर्माण तथा प्रतिनिधित्व करती है, प्रत्यक्ष रूप से ईसा से शक्ति प्राप्त हुई है जिसकी आज्ञा का पालन धर्म, कथित फूट तथा चर्च के सुधार के विषय में प्रत्येक व्यक्ति करने को बाध्य हैं, चाहे उसका दर्जा तथा सम्मान कुछ भी क्यों न हो, चाहे वह स्वयं पोप ही क्यों न हो।"* इस धारणा का, कि चर्च की प्रभुत्वपूर्ण शक्ति समस्त समाज अथवा उसके प्रतिनिधि अंग मे मानी जानी चाहिये, पोप मे नही, मुख्य आधार मार्सीलियो का यह सिद्धान्त था कि मौलिक, विधाननिर्मात्री तथा विधिनिर्मायक शक्ति समस्त जनता में है। ईसा के इन शब्दो का कि 'जहाँ दो या तीन मेरे नाम मे एकत्रित होते है, तो मै भी उनके बीच मे होता हूं' यह अर्थ समझा गया कि पोप की अपेक्षा परिषद् महत्तर है। चर्च का एक कार्य-पालक प्रधान होने के नाते पोप समाज का एक अधिकृत अभिकर्ता मात्र था, उसका प्रभुत्वपूर्ण स्वामी नहीं; तर्क यह दिया गया कि उसे परिषद के अनुशासन मे रहना चाहिये क्योंकि समस्त ईसाई जगत की प्रतिनिधि होने के नाते परिषद पोप से श्रेष्ठतर थी। इसके अतिरिक्त इस प्रत्यादेश मे

---

* "A General Council constituting and representing the Catholic Church, has authority immediately from Christ which every one in existence of whatever status or dignity, even of papal, is bound to obey in those things which pertain to the faith, the extirpation of the said schism, and the reform of the church in head and in members"

को सुलझाने के लिए १४१४ ई० में कॉन्स्टैन्स में परिषद् को बुलाना पड़ा। कॉन्स्टैन्स की परिषद् तथा उसकी सफलता एवं विफलता का विवरण देने से पूर्व कन्सीलियर आन्दोलन के उद्देश्यो के विषय मे दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

कन्सीलियर आन्दोलन के उद्देश्य—जिन लोगो ने चर्च की पारस्परिक फूट का अन्त करने के लिए इतना घोर परिश्रम किया था उन्होंने शीघ्र ही यह महसूस कर लिया कि जब तक चर्च के प्रधान तथा सदस्यों, दोनो का सुधार न किया जायेगा तब तक दो प्रतिद्वन्द्वी पोपो के स्थान मे एक नया पोप नियुक्त करने से ही चर्च में कोई स्थायी एकता तथा सामंजस्य स्थापित नही हो जायेगा। आवश्यकता इस बात की थी कि चर्च की वित्त सम्बन्धी स्थिति को दृढ बनाया जाये और यह देखने के लिए कि चर्च का धन समुचित रूप से व्यय हो रहा है या नही हिसाब-किताब और नियन्त्रण की एक समुचित व्यवस्था की जाये तथा पोप के दरबार की विलासिता और अपव्यय को कम किया जाये। इसके अतिरिक्त पोप की निरंकुशता का विरोध भी बढ़ा और उसे नियन्त्रित करने की माँग भी बहुत अधिक बढ़ गई। बोहीमिया मे इस के तथा इंगलैंड मे वाईक्लिफ के जनप्रिय आन्दोलनो के फलस्वरूप पोप की निरंकुशता का प्रश्न सार्वजनिक वादविवाद का विषय बन गया। उन्होंने राजनीतिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता की माँग की और कर्मकाण्ड तथा उच्चतर पादरियों द्वारा आध्यात्मिक शक्ति पर एकाधिकार का विरोध किया। इसके अतिरिक्त पादरियों के, जो कि पुनरुत्थान के आकर्षणों, पद तथा धन की कामना से विचलित हो उठे थे और जिनका नैतिक पतन भी हो गया था, नैतिक सुधार का प्रश्न भी था। फूट को समाप्त करने के अतिरिक्त चर्च का सुधार, और अधर्म का दमन भी कन्सीलियरवादियो का ध्येय बन गया। चर्च शक्ति को छिन्न-भिन्न होने से बचाने, उसके नैतिक ह्रास को रोकने तथा उसके पूर्वकालीन गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने का एकमात्र मार्ग चर्च की एक नियमित शाखा के रूप में एक साधारण परिषद् की स्थापना करना तथा उसे निश्चित सांविधानिक अधिकार और कर्तव्य प्रदान करना था।

कॉन्स्टैन्स की परिषद (The Council of Constance)—*जैसा कि हम पहिले बता चुके है, पीसा की परिषद् फूट को समाप्त करने मे विफल रही; उससे स्थिति पहिले से भी खराब हो गई। जॉन गर्सन ने मुख्यत: जिसके लेखो के फलस्वरूप कन्सीलियर सिद्धान्त को यूरोप मे व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ था,* एक दूसरी तथा अधिक प्रतिनिधि परिषद् बुलाने पर जोर दिया। उसका फल हुआ कॉन्स्टैन्स की परिषद् जिसकी कार्यवाही १४१४ से लेकर १४१८ तक चलती रही। इसकी प्रवृत्ति और इसका निर्माण उसकी पूर्ववर्ती पीसा परिषद् से बहुत अधिक भिन्न था। इसमें लगभग समस्त यूरोपीय लौकिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व था। विद्वानों तथा उच्च कोटि के पादरियो के अतिरिक्त साधारण पादरियो के प्रतिनिधि इसमें मौजूद थे। राजाओं ने भी अपने प्रतिनिधि इसमें भेजे। उसमे एकत्रित प्रतिनिधियों ने फूट को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय किया और अपने उद्देश्य मे वे सफल भी हुए। किन्तु

चर्च के सुधार में उन्होंने उतनी दृढ़ता और तत्परता नहीं दिखाई और न ही वे सर्व-सम्मति से किसी सुधार का प्रस्ताव कर सके। इसलिये इस दिशा में उन्हें कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। हस तथा वाइक्लिफ के विचारों को धर्म विमुख ठहराया गया। यहाँ तक कि हस को तो जीवित ही जला दिया गया यद्यपि उसे सुरक्षा का आश्वासन दिलाकर परिषद् में आमन्त्रित किया गया था। जॉन गर्सन, जो कि अपने शिक्षक पियरी डेली के उत्तराधिकारी के रूप में पेरिस विश्वविद्यालय का कुलपति बना, इस परिषद् का प्रमुख सिद्धान्तवेत्ता था और उसके सर्वमान्य नेतृत्व के कारण ही फूट समाप्त हो पाई थी।

फूट को समाप्त करने के लिये परिषद् को पोपशाही के ऊपर अपनी प्रभुता मनवानी आवश्यक थी; इसलिये परिषद्वादियों के समस्त प्रयत्नों का ध्येय यह सिद्ध करना हो गया कि धर्मशक्ति की प्रभुता का स्वामी पोप नहीं बल्कि साधारण परिषद् थी क्योंकि वह ही समस्त ईसाइयों की सच्ची प्रतिनिधि थी। इसके फलस्वरूप राज-सत्ता के स्वरूप तथा राज्य में उसके निवास-स्थान और राजनीतिक सत्ता की सीमाओं तथा विस्तार के विषय में एक लम्बी बहस छिड़ गई। इस प्रकार कॉन्स्टैन्स की परिषद् में राजनीतिक सिद्धान्त की बहुत सी समस्याओं पर बहस हुई। इस लम्बी बहस के फलस्वरूप १४१५ ई० का विख्यात प्रत्यादेश जारी किया गया जिसे डा० फिगिस ने "संसार के इतिहास में कदाचित सबसे अधिक क्रांतिकारी अधिकृत अभिलेख्य" कह कर पुकारा है। इसमें यह सिद्धान्त अभिव्यक्त है कि परिषद् को पोप के ऊपर प्रभुता का अधिकार है। इस प्रत्यादेश का कहना है कि "साधारण परिषद् को, जो कि कैथोलिक चर्च का निर्माण तथा प्रतिनिधित्व करती है, प्रत्यक्ष रूप से ईसा से शक्ति प्राप्त हुई है जिसकी आज्ञा का पालन धर्म, कथित फूट तथा चर्च के सुधार के विषय में प्रत्येक व्यक्ति करने को बाध्य हैं, चाहे उसका दर्जा तथा सम्मान कुछ भी क्यों न हो, चाहे वह स्वयं पोप ही क्यों न हो।"* इस धारणा का, कि चर्च की प्रभुत्वपूर्ण शक्ति समस्त समाज अथवा उसके प्रतिनिधि अंग में मानी जानी चाहिये, पोप में नहीं, मुख्य आधार मार्सीलियो का यह सिद्धान्त था कि मौलिक, विधाननिर्मात्री तथा विधिनिर्मायक शक्ति समस्त जनता में है। ईसा के इन शब्दों का कि 'जहाँ दो या तीन मेरे नाम में एकत्रित होते हैं, तो मैं भी उनके बीच में होता हूँ' यह अर्थ समझा गया कि पोप की अपेक्षा परिषद् महत्तर है। चर्च का एक कार्य-पालक प्रधान होने के नाते पोप समाज का एक अधिकृत अभिकर्ता मात्र था, उसका प्रभुत्वपूर्ण स्वामी नहीं; तर्क यह दिया गया कि उसे परिषद के अनुशासन में रहना चाहिये क्योंकि समस्त ईसाई जगत की प्रतिनिधि होने के नाते परिषद पोप से श्रेष्ठतर थी। इसके अतिरिक्त इस प्रत्यादेश में

* "A General Council constituting and representing the Catholic Church, has authority immediately from Christ which every one in existence of whatever status or dignity, even of papal, is bound to obey in those things which pertain to the faith, the extirpation of the said schism, and the reform of the church in head and in members."

यह भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है कि परिषद ने अपनी शक्ति प्रत्यक्ष रूप से ईसा से प्राप्त की है, पोप सरीखी किसी शक्ति के माध्यम द्वारा नहीं। वह सिद्धान्त जिसके आधार पर परिषदवादियों ने अपनी विचारधारा का विकास किया सेबाइन के निम्नलिखित शब्दों में सुन्दरतम रूप में व्यक्त है : "एक पूर्णतया तथा स्वपर्याप्त समाज होने के नाते चर्च के पास वे समस्त शक्तियां होनी चाहियें जो कि उसकी स्थिरता, उसके सुव्यवस्थित शासन तथा दोषों को दूर करने के लिए आवश्यक हैं। इसलिए जो आध्यात्मिक शक्ति इसे मिली हुई है उसका स्वामी स्वयं चर्च है, समस्त धर्मावलम्बियों का एक सम्पूर्ण सामूहिक निकाय है और पादरीगण जिनमें पोप भी सम्मिलित है केवल वे अभिकर्ता तथा अंग हैं जिनके द्वारा समाज कार्य करता है।"•

अक्तूबर १४१७ में कॉन्स्टेंन्स परिषद ने एक दूसरा प्रत्यादेश जारी किया जिसका उद्देश्य यह था कि परिषद की बैठक नियमित रूप से प्रत्येक दसवें वर्ष होनी चाहिये और पोप को उसे स्थगित करने तथा उसका स्थान परिवर्तन करने का अधिकार नहीं होना चाहिये। इस प्रत्यादेश को यदि व्यवहारिक रूप दिया जा सकता तो पोप की नीति के ऊपर परिषद का एक नियमित नियन्त्रण निश्चित हो जाता और चर्च में एक सांविधानिक शासन की स्थापना हो जाती; परन्तु दुर्भाग्यवश कई कारणों से इसे क्रियान्वित न किया जा सका। उन दिनों किसी बड़े निकाय का बार-बार समवेत होना कठिन था क्योंकि संवाद-वाहन के साधन बहुत थोड़े और मन्दगति थे। इसके अतिरिक्त पोप विभिन्न हितों और गुटों को एक दूसरे से लड़ाकर कार्य की एकता तथा नीति की तारतम्यता को सरलता से रोक सकते थे।

कन्सीलियर सिद्धान्त की एक अन्य महत्वपूर्ण बात भी उल्लेखनीय है। यह बताया जा चुका है कि पहिले प्रभुत्वपूर्ण शक्ति का निवास-स्थान साधारण परिषद (General Council) समझा जाता था जिसमें पोप तथा समवेत प्रतिनिधि सम्मिलित थे। आगे चलकर पोप जॉन २३वें के धर्म विमुख हो जाने पर परिषद ने यह घोषणा की कि प्रभुता पोप सहित सम्पूर्ण परिषद में नहीं वल्कि केवल उसके सदस्यों में है और आवश्यकता पड़ने पर पोप की प्रतीक्षा किये बिना ही राजा उसे बुला सकता है। यदि परिषदवादी (*Conciliarists*) अपने उद्देश्य में सफल हो जाते और परिषद चर्च के शासन यन्त्र का एक नियमित और स्थायी भाग बन जाती तो पोप की निरंकुशता के स्थान पर एक सीमित तथा सांविधानिक शासन स्थापित हो जाता और पोप की स्वेच्छाचारिता समाप्त हो जाती। परिषदवादियों की यह दृढ़ धारणा थी कि

• "The church, being a complete and self-sufficing society, must possess all the powers needed to ensure its continuance, its orderly government, and the removel of abuses as they occur. Consequently the spiritual power with which it is endowed is vested in the church itself, in the whole body of the faithful as a corporate body, and the clergy including the pope are merely the ministers or organs by which the society acts."

—*Sabine. A History of Political Theory*, page 317.

पोप की शक्ति एक धरोहर थी, जिसके प्रयोग के लिये वह सम्पूर्ण निकाय के सामने उत्तरदायी था और वह अपनी ओर से नवीन सिद्धान्तों को निर्धारित नहीं कर सकता। परन्तु वास्तव में ऐसा कोई परिणाम नहीं निकला ; फूट का अन्त होते ही कॉन्स्टैन्स की परिषद का भी अन्त हो गया। फूट समाप्त होने पर जब सदस्यों ने चर्च सुधार का कार्य उठाया तो उनमें जबर्दस्त मतभेद उठ खड़े हुए और समस्या का कोई सर्वमान्य निराकरण न निकल सका। समस्त ईसाई जगत इस विषय में एकमत था कि फूट का अन्त होना चाहिये, इसलिये कॉन्स्टैन्स की परिषद चर्च में फिर से एकता स्थापित करने में सफल हुई। परन्तु चर्च शासन में आमूलचूल परिवर्तन करने तथा पोप की प्रभुता को समाप्त करने के ऊपर इस प्रकार का कोई सामान्य एकमत नहीं था। इसलिये परिषदवादियों का चर्च को सुधारने का प्रयत्न निष्फल रहा और वे चर्च में एक संविधानिक शासन स्थापित करने की कोई व्यवहारणीय योजना तैयार न कर सके। अतः कॉन्स्टैन्स की परिषद बिना कोई सुधार किये हुए ही भंग हो गई। पोप यथापूर्व चर्च का शासन चलाते रहे और पहिले दोष ज्यों के त्यों बने रहे।

बेसल की परिषद तथा आन्दोलन की विफलता—चर्च का सुधार करने में कॉन्स्टैन्स की परिषद की विफलता का अर्थ यह नहीं है कि कन्सीलियर आन्दोलन का ही अन्त हो गया। राजाओं तथा जनता का दबाव पड़ने पर पोप एक और परिषद बुलाने को विवश हुआ। तीसरी और अन्तिम परिषद १४३१ में बेसल में समवेत हुई और गिरती पड़ती यह १४४८ तक चलती रही। यद्यपि कुछ समय के लिए तो ऐसा दिखाई पड़ता था कि मानो चर्च में वैधानिक शासन लाने में यह सफल होगी, किन्तु अन्त में यह विफल रही और इसकी विफलता कन्सीलियर आन्दोलन की मृत्यु सिद्ध हुई। इस परिषद ने यह सिद्ध कर दिया कि चर्च का प्रबन्ध करने की सामर्थ्य उसमें न थी। इसकी असमर्थता का कारण यह था कि यह राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा तथा द्वेष का शिकार हो गई। "वह परिषद जो स्वयं ही प्रत्येक प्रकार के राष्ट्रीय द्वेष का शिकार हो धर्माधिकारियों के जबर्दस्त हितों पर सफलतापूर्वक आक्रमण नहीं कर सकती थी।"* फ्रांसीसी सदस्य स्वयं अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने के हेतु पोप की शक्तियाँ कम करना चाहते थे। इटली का गुट पोप के प्रभाव और शक्तियों को सुरक्षित रखना चाहता था क्योंकि वे वास्तव में इटली वालों के विशेषाधिकार बन गये थे। इसलिये वे सुधार नीति अपनाने को अनिच्छुक थे क्योंकि सुधार का अर्थ उनके अपने ही अधिकारों का कम हो जाना था। इटली से बाहर के महान् पादरी पोप की शक्तियों को कम कर स्वयं अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते थे, किन्तु वे अपने से छोटे पादरियों को शक्ति में भागीदार बनाने के लिए इच्छुक न थे। वे जन-साधारण में फैले हुए असंतोष के साथ कोई रियायत करने को तैयार न थे। इस प्रकार प्रत्येक पक्ष सुधार तो चाहता

* "A council which itself was a prey to every form of national jealousy was ill-qualified to attack the stupendous mass of vested interests that made up ecclesiastical patronage." —Sabine : *Ibid*, page 325.

था, किन्तु स्वय हानि उठाकर नही; प्रत्येक यही चाहता था कि सुधार का प्रारम्भ उन्हे छोड़ कही अन्यत्र हो। ऐसी स्थिति में पोप 'फूट डालो और शासन करो' के प्राचीन रोमन सिद्धान्त का सफलता से प्रयोग कर सकता था और उससे लाभ उठा सकता था। वह सुगमता से एक गुट को दूसरे गुट से लड़ाकर कार्य तथा नीति की एकता को असम्भव बना सकता था।

इस आन्दोलन की विफलता का दूसरा मुख्य कारण यह है कि उसके पास कोई ऐसा योग्य और शक्तिशाली नेता नही था जोकि परिषद् की धारणा में एक भावनात्मक प्रेरणा भर सकता और उसके सदस्यो को सामान्य लक्ष्य के सामने स्थानीय मतभेद को भूलने के लिये अनुप्रेरित कर सकता तथा बाह्य राजनीतिक हितों को हस्तक्षेप करने से रोक सकता। यह आन्दोलन प्रायः विश्व-विद्यालयो तक सीमित था और इसका नेतृत्व उन विद्वानो के हाथो मे था जिनका जन-साधारण से कोई सम्बन्ध न था। जन-सहयोग इसे नही मिला। प्रोफेसर कुक का विश्वास है कि इसके नेताओं का फूंक-फूंक कर कदम रखना और नम्रवादिता का भी इसकी विफलता में हाथ था। उनकी नम्रवादिता ने उन्हें रूढ़िवादी बना दिया। यह कहना तो कठिन है कि एक अधिक उग्र और क्रांतिकारी दृष्टिकोण अपनाने से इसे सफलता प्राप्त हो जाती; यह सच है कि इस आन्दोलन ने कोई काल्विन सरीखा नेता उत्पन्न नही किया जो राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं द्वारा उत्पन्न की हुई कठिनाइयो को पार करके एकता उत्पन्न कर सकता जिनके बिना सार्वभौमिक चर्च मे परिषद् का शासन होना असम्भव था। इस परिषद् के भंग होने के उपरान्त उसका महान् नेता निकोलस पोप से मिल गया और फ्रांस को छोड़कर और राज्यों के शासको ने पाप से सधि कर लेना ही श्रेयस्कर समझा जिसके द्वारा उन्हें कुछ रियायतें मिल गईं और उनके बदले मे उन्होने पोप की निरकुशता का विरोध करना छोड दिया। पोप की शक्ति की परम्परा इतनी गहरी और दृढ़ थी कि कन्सीलियर प्रयोग उसे न हिला सका। परिषदें केवल यदा-कदा ही समवेत हो सकती थीं; पोप सदैव मौजूद रहता था। परिषदो में कार्य और नीति की कोई एकता न थी, वे सदा विभक्त रहती थी; पोप एक था और परिषदों के बनाए हुए नियमों को क्रियान्वित करने में उनके हाथ मे महान् विवेकात्मक शक्ति थी। जैसा कि हम पहिले कह चुके है, वह सरलतापूर्वक एक गुट को दूसरे गुट से भिडा सकता था और इसके द्वारा अपनी स्थिति को दृढ बना सकता था। इस प्रकार पोपो को कुछ ऐसे लाभ प्राप्त थे जिनका परिषदो के पास अभाव था और परिषदो मे कुछ ऐसे दोष थे जिनके कारण वे शासन का यन्त्र नही बना सकती थी। ऐसी स्थिति मे यदि कन्सीलियर आन्दोलन चर्च मे वैधानिक शासन स्थापित करने मे विभक्त हो गया तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही।

कन्सीलियर आन्दोलन का महत्त्व—यद्यपि कन्सीलियर आन्दोलन चर्च मे पोप की निरकुशता के स्थान मे एक वैधानिक शासन स्थापित करने और चर्च शासन के द्धान्त को बदलने मे विफल हो गया, तथापि वह पूर्ण रूप से निष्फल नही रहा,

उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम निकला। निरकुशवाद तथा संविधान के बीच यह सबसे पहिला महान् शास्त्रार्थ था ; इसने ऐसे विचारो को जन्म दिया जिनका कि आगे चलकर निरंकुश राजा तथा जनता के बीच होने वाले सघर्ष में सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया। "चर्च के विवाद ने ही सबसे पहिले निरकुश तथा सावैधानिक सरकार के बीच निर्णय होने वाले प्रश्न की रूपरेखा निर्धारित की और इसने उस विचार दर्शन का प्रसार किया जोकि निरकुशवाद के विरुद्ध प्रमुख शस्त्र बना। सर्वप्रभुत्वपूर्ण शक्ति के दैविक अधिकार तथा समाज की प्रभुत्वपूर्ण शक्ति दोनो का ही लौकिक शासन के क्षेत्र मे प्रत्यावर्त्तन कर दिया गया।"* कन्सीलियर आन्दोलन ने राज्य सम्बन्धी कई समस्याओं को अपने आधुनिक रूप मे उठाया ; उदाहरणार्थ यह कि कानून का तत्त्व रजामन्दी है ; समस्त शक्ति एक धरोहर है ; सरकार की शक्ति अपने उद्देश्य से सीमित है ; तथा आवश्यकता परिवर्तन का सदैव एक उचित आधार है। जिस प्रकार जॉन गर्सन कॉन्स्टेन्स की परिषद् का प्रमुख सिद्धान्तवेत्ता था उसी प्रकार बेसिल की परिषद् का प्रधान तत्ववेत्ता निकोलस ऑफ कूसा था। कन्सीलियर सिद्धान्त के इस सक्षिप्त विवरण के उपसहार-स्वरूप हम इन दोनो के आधारभूत विचारो का दिग्दर्शन करायेंगे।

जॉन गर्सन—साधारण परिषद् को समवेत करके जो लोग फूट को दूर करना चाहते थे उनमे जॉन गर्सन सबसे अधिक विख्यात था। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, उसी के प्रचार द्वारा कन्सीलियर सिद्धान्त को यूरोप की आम हिमायत प्राप्त हो सकी थी। पीसा की परिषद् मे कलहकारी पोपो के स्थान मे अलेक्जेंडर पचम को पोप निर्वाचित कराने का प्रधान श्रेय उसी को है। जब दो कलहकारी पोपो ने नये पोप के पक्ष मे अपने स्थानों का परित्याग नही किया और पोप अलेक्जेण्डर ऐसी नीतियाँ अपनाने लगा जोकि कन्सीलिमिस्ट्स को पसन्द न थी तो गर्सन ने एक नवीन परिषद् को समवेत करके तीनो पोपों को पदच्युत करने की माग की। कॉन्स्टेन्स की परिषद् का वह माना हुआ नेता और उसका प्रधान सिद्धान्तवेत्ता था।

गर्सन की चर्च तथा उसके शासन सम्बन्धी धारणाये एक बड़ी हद तक मार्सीलियो के विचारों से प्रभावित थी। किन्तु वह उसकी अपेक्षा कम नवीनताप्रिय और जनतन्त्रवादी तथा अधिक कुलीनतन्त्रवादी था। गर्सन का विचार था कि एक सस्था के रूप मे चर्च पोप से उच्चतर है और यदि पोप धर्मविमुख हो जाता है अथवा अपने पद का दुरुपयोग करता है तो चर्च उसे पदच्युत कर सकता है। इस प्रकार उसने पीटर के सिद्धान्त और उसके ऊपर आधारित पोप की प्रभुता के सिद्धात का खण्डन

* "The controversy in the church first drew the lines upon which the issue between absolute and constitutional government was drawn, and it spread the type of philosophy which in the main absolutism was to be contested. Both the divine right of the sovereign and the sovereign power of the community were transferred to the field of secular government."

—Sabine : *op. ct*, page 326.

किया परन्तु मार्सीलियो के सदृश वह चर्च में समस्त ईसाइयों को सम्मिलित नहीं करता था ; उसके लिए तो वह पादरीगण का शिपरोन्मुखी सगठन था जिसका प्रशासकीय प्रधान पोप था और जिसकी अन्तिम शक्ति साधारण परिषद् में थी। चर्च का मुख्य प्रशासन अधिकारी होने के नाते पोप परिषद् के अधीन था और परिषद् के आदेशों का पालन करना उनका कर्तव्य था। इस प्रकार गर्सन ने ससार के सामने यह सिद्धान्त रक्खा कि चर्च के लिए सर्वोत्तम शासन परिमित राजतन्त्र है। चर्च में राजतन्त्रीय शासन को यह आवश्यक मानता था ; उसका यह भी विश्वास तथा कि पोप पद एक दैविक सस्थान है ; परन्तु इसके साथ ही साथ वह यह कहता था कि पोप की शक्तियाँ चर्च के अन्य पदों के स्वतन्त्र अधिकार तथा साधारण परिषदों द्वारा बनाये गये कानूनों द्वारा सीमित हैं। ये कानून चर्च की उस शक्ति के ऊपर आधारित हैं जिसका प्रतिनिधित्व परिषदें करती हैं। इसलिये पोप को उनमें परिवर्तन करने, स्थगित करने तथा रद्द करने का कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार उसने निश्चित रूप से पोप को परिषद् की श्रेष्ठतर शक्ति के अधीन कर लिया किन्तु उसने न तो सार्वजनिक राजसत्ता के सिद्धान्त का प्रचार किया और न ही पोप पद के औचित्य से इन्कार किया। उसने अपने सिद्धान्त का निर्माण इतने चातुर्य्यपूर्वक किया कि सर्वोच्च शक्ति चर्च की साधारण परिषद् को देते हुये भी उसने पोप की परम्परागत शक्ति को कम से कम आघात पहुंचाया। पोप यथापूर्व मुख्य प्रशासकीय अधिकारी बना रहा और महत्त्वपूर्ण विषयों में महान् विवेकात्मक शक्तियाँ उसके हाथों में रहीं। "वास्तव में गर्सन ने पोप की प्रभुता के विनाश पर पोपशाही की स्तुति तथा इस प्रायः व्यक्त धारणा का कि परिषद् की सर्वोच्चता का औचित्य फूट द्वारा भ्रष्टाचार तथा चर्च के लिये भीषण खतरे में है, आवरण डाल दिया है। तथापि नवीन धारा की प्रवृत्ति स्पष्ट है और इस बात की साफ झलक मिलती है कि धर्म शक्ति को ध्वस्त करने वाले विचारों का श्रीगणेश हो गया है।"*

जिस सीमित तथा सावैधानिक राजतन्त्र को गर्सन चर्च के लिए शासन का सर्वश्रेष्ठ रूप समझता था, उसे एक मिश्रित शासन कहा जा सकता है और उसकी तुलना हम अरस्तु द्वारा प्रतिपादित 'पोलिटी' से कर सकते है। पोप इसका जनतन्त्री अंग है, परिषद् कुलीनतन्त्री और समस्त पादरीगण इसका जनतन्त्री भाग हैं। परिषद् पोप को निरकुश तथा अत्याचारी होने से रोकती है और आपत्काल में वह उच्चतम होती

* "The substantial extinction of papal sovereignty is disguised, indeed, by Gerson through frequent recurrence to the familiar formulas of pontifical exaltation, and through the no less frequent suggestion that the assertion of conciliar supremacy is mainly to be justified by the scandals of the schism and the mortal peril of the church. Yet the trend of the system which is set forth is clearly manifest, and the consciousness that doctrines subversive of the ancient ecclesiastical order are in the air is unmistakable"

—Dunning: *A History of Political Theory*, Vol I, page 268.

है। पोप की ग्रवज्ञा केवल तभी होनी चाहिये जबकि सम्पूर्ण चर्च के हितो की रक्षा करने के लिए ऐसा करना ग्रावश्यक हो ; साधारणतया उसकी शक्ति का सम्मान ही होना चाहिए।

यह एक दिलचस्प वात है कि चर्च के विषय मे ग्रपनी कुलीनतन्त्री धारणा के बावजूद गर्सन के सिद्धान्त में एक क्रातिकारी तत्त्व वर्तमान था। उसकी धारणा थी कि परिषद् को समवेत करने का ग्रधिकार पोप का था ; किन्तु ग्रावश्यकता पड़ने पर पोप को पदच्युत करने के लिए लौकिक शक्ति का प्रधान होने के नाते राजा भी उसे बुला सकता था। इसका ग्रभिप्राय यह है कि गर्सन के ग्रनुसार पोप के धर्मविमुख हो जाने ग्रथवा ग्रपने कर्त्तव्य का पालन न करने की स्थिति मे राजा को भी परिषद् को समवेत करने का ग्रधिकार था। उसका यह भी विश्वास था कि पोप नैसर्गिक कानून (वह कानून जिसे ईश्वर ने ग्रपनी मानव सृष्टि के पद-प्रदर्शन के लिए बनाया है) के ग्रधीन है। इस कानून के ग्रनुसार समस्त मनुष्य समान है। इसलिये उसका ग्राचरण ऐसा होना चाहिए जिससे यह प्रतीत हो कि वह ग्रपने ग्रापको ईसा के तुच्छ से तुच्छ ग्रनुयायी से भी ऊँचा नही समझता। गर्सन के वे समस्त विचार, ग्रर्थात् चर्च मे सावैधानिक ग्रथवा मिश्रित शासन, पोप की परिषद्, प्राकृतिक कानून तथा समानता सिद्धान्त के प्रति ग्रधीनता, कॉन्स्टेन्स की परिषद् में प्रतिबिम्बित हो उठे ग्रौर ग्रपने समय के बुद्धि वैभव का एक भाग बन गए। उसके लेखों ने भविष्य के वैधानिक सुधारो के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

निकोलस ग्रॉफ कूसा (Nicholas of Cusa)—कन्सीलियर विचारधारा का पूर्ण एव विस्तृत विवरण निकोलस ग्रॉफ कूसा (१४००-१४६४) मे मिलता है जिसकी पुस्तक 'डी कॉन्कॉर्डेन्शिया कैथोलिका' (De Concordantia Catholica) के विषय में डा० जे० एन० फिगिस ने यह कहा है कि वह 'लगभग ग्रन्तिम पुस्तक है जो कि समस्त ईसाई जगत को एक ही जैविक प्रणाली समझती है ग्रौर जिसमे राजनीतिक सिद्धात का सागोपात विवरण दिया हुग्रा है।' यह एक दार्शनिक ग्रभिव्यजना उस सविधानवाद की "जिसे प्राप्त करने मे चर्च विफल हो रहा था, ग्रौर जिसकी सिद्धि का इङ्गलैंड में लकास्ट्रियन प्रयोग, फ्रास के प्रतिनिधि मण्डल तथा जर्मनी के निर्वाचक-गण विफल प्रयास कर रहे थे। उसने इन विशिष्ट तथ्यों से सामान्य धारणाये बनाई ; उन मुख्य सिद्धान्तों को ग्रपनाया जो कि वैधानिक शासन के किसी भी सिद्धांत का ग्राधार होते है ; ग्रौर उन्हे एक सार्वभौमिकता प्रदान की जिसने उनके महत्त्व को बढा दिया।"* इस प्रकार हम देखते है कि यह उस युग की महनतम धाराग्रो को

* "...... ..which the church was failing to achieve, which the Lancastrian experiment in England, the estates in France and the electors in Germany were trying unsuccessfully to accomplish. He generalised from these particulars: embodied the main principles which underlie any theory of constitutional government; and endued them with a universality that increased their significance."
—Doyle : *op. cit.*, page 115.

शासक की प्राकृतिक शक्ति भी समान है) दूसरों की रजामन्दी द्वारा ही स्थापित हो सकती है, जिस प्रकार कि कानून भी रजामन्दी द्वारा ही निर्मित होता है।"* संक्षेप में इसका अर्थ यह है कि क्योंकि प्राकृतिक रूप से समस्त मनुष्य समान हैं, इसलिये शासन का आधार केवल शासित की रजामन्दी हो सकती है। और क्योंकि प्रकृति ने समस्त मनुष्यों को समान शक्ति प्रदान की है, इसलिये एक व्यक्ति का उच्चतर पद केवल दूसरों की रजामन्दी के ऊपर ही निर्भर कर सकता है। कानून का स्रोत भी जनता की रजामन्दी में ही पाया जाता है। इस प्रकार रजामन्दी के ऊपर आधारित सामंजस्य समाज में राजनीतिक सघटन का आधारभूत सिद्धान्त है, यह बात चर्च तथा लौकिक राज्य दोनों पर ही लागू होती है। दैविक अधिकार द्वारा न राजा शासन करता है न पोप ; समस्त विवशकारी शक्ति का स्रोत शासित की रजामन्दी है।

यह सिद्धान्त कि शासन का आधार जनता की इच्छा है बहुत ही आधुनिक दिखलाई पड़ता है ; यह तो हमें लॉक तथा रूसो का स्मरण दिलाता है, मध्यकालीन राजनीतिक दार्शनिकों का नहीं, जो कि मार्सीलियो को छोड़कर सभी चर्च तथा राज्य की शक्ति का स्रोत ईश्वर को समझते थे ; वे इन संस्थाओं को दैविक रचना समझते थे। परन्तु यद्यपि हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि निकोलस के विचार में एक साहसपूर्ण स्वच्छन्दता है और अठारहवीं शताब्दी के क्रांतिकारी विचारों का वह पूर्वज है, हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि उस पर मध्यकालवाद की छाप पड़ी हुई है। शासित की इच्छा से निकोलस का तात्पर्य मध्यकालवादियों की भाँति समाज की सामूहिक इच्छा से था, आधुनिकों के सदृश व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छा से नहीं। उसके लिए शक्ति का स्रोत व्यक्ति का अन्तःकरण नहीं था, वरन् अपने स्वाभाविक नेताओं तथा स्वत.निर्मित परम्पराओं के द्वारा आचरण करने वाला समाज था। निकोलस प्रतिनिधित्व-विषयक मध्यकालीन धाराओं से ऊपर नहीं उठा जिसके अनुसार शासक तथा नेता एक प्रतिनिधि के रूप में कार्य कर सकता था।

कन्सीलियर सिद्धान्त का आधार यह मूलभूत विश्वास था कि चर्च में कानून तथा शासन की शक्ति का स्रोत पोप नहीं बल्कि समस्त ईसाई जगत है जिनका प्रतिनिधित्व साधारण परिषद में होता है। पोप अपना अधिकार जनता से प्राप्त करता है, ईश्वर से नहीं, इसलिये उसके प्रत्यादेश जनता की रजामन्दी तथा स्वीकृति के लिए उसके सामने रक्खे जाने चाहियें ; उनके ऊपर चर्च के अन्य अंगों की रुकावट और

---

* "Since by nature all men are free, any authority by which subjects are prevented from doing evil and their freedom is restrained to do good through fear of penalties, comes solely from harmony and from the consent of the subjects, whether the authority resides in written law or in the living law which is the ruler. For if by nature men are equally strong and equally free, the true and settled power of one over the others, the ruler having equal natural power, could be set up only by choice and consent of the others, just as law also is set up by consent" —Quoted by Sabine ; *op. cit.*, page 319.

प्रकार की कोई कठिनाई सामने आने की निकोलस को कोई आशंका न थी ; उसका विचार था कि एक मधात्मक उच्चतम साधारण परिषद के अधीन रहने के कारण उनमें स्वाभाविक सामंजस्य तथा मित्रता स्थापित हो जायेगी। यह साधारण परिषदों द्वारा चुने हुए स्थायी प्रतिनिधियों से मिलकर बनती। उपरोक्त विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुंच सकते है कि निकोलस चर्च तथा राज्य दोनो के लिए एक ऐसी शासन-प्रणाली को सर्वोत्तम समझता था जिसका रूप सधात्मक हो और जिसमें कार्यपालिका की शक्तियो की वैधानिक सीमायें हों। एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि अपने इस विश्वास के कारण कि समस्त मानव प्राणी ईश्वर के प्रति प्रेम तथा शक्ति के सूत्र में बंधे हुए हैं निकोलस ने शासक तथा शासित में और विभिन्न राष्ट्रीय परिषदों मे सामजस्य और तालमेल स्थापित करने के लिए एक विशिष्ट यन्त्र की आवश्यकता पर कोई ध्यान नही दिया।

निकोलस की विचारधारा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात भी ध्यान देने योग्य है। यद्यपि वह प्रतिनिधि परिषद को चर्च तथा राज्य दोनो में एक केन्द्रीय अङ्ग समझता था और पोप तथा सम्राट को निश्चित रूप से उसके अधीन मानता था, तथापि उसे वह एक प्रभुत्वपूर्ण शक्ति नही समझता था। आखिरकार वह चर्च संघटन का एक भाग मात्र थी, सम्पूर्ण चर्च नही। उसका सामजस्य सिद्धान्त परिषद् को राजसत्ता से विभूषित करने के मार्ग में बाधक था। जैसा कि सैबाइन ने कहा है De Concordantia Catholica की आधारभूत तान थी सामंजस्य, शक्ति नहीं। परिषद् की शक्ति इस बात में थी कि वह सम्पूर्ण चर्च की इच्छा एवं सहमति का प्रतिनिधित्व पोप अथवा अन्य किसी भी अंग की अपेक्षा अधिक समुचित रूप से करती थी।

चर्च तथा राज्य के परस्पर सम्बन्ध के ऊपर निकोलस के विचारो के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक होगा। उसने उस मध्यकालीन परम्परा का परित्याग कर दिया जिसके अनुसार सम्पूर्ण ईसाई जगत एक ही समाज है, जो चर्च और साम्राज्य दोनों है, उसने इन दोनों में पृथक्करण कर दिया। उसकी धारणा थी कि लौकिक कार्यों को करने के लिए राज्य उतना ही आवश्यक है जितना कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए चर्च। राज्य के कार्य चर्च के कार्यों से भिन्न और स्वतन्त्र है इसलिए उसका एक अलग और निजी संघटन होना चाहिये जो चर्च से स्वतन्त्र हो। राज्य का अपनी शक्तियों के ऊपर समान अधिकार है, इसलिए उसके ऊपर चर्च का नियन्त्रण नही होना चाहिये। इस प्रकार चर्च भी राज्य से स्वाधीन रहना चाहिये। यद्यपि निकोलस का यह विश्वास अवश्य था कि साधारण परिषद् की बैठकों में सम्राट् की उपस्थिति अनुशासन स्थापित रखने में सहायक होगी और उनके निर्णयों को उससे सम्बल मिलेगा, और वह यह भी चाहता था कि सम्राट् को धर्म-विमुखता के विरुद्ध धर्म की रक्षा करनी चाहिये, तथापि चर्च के आन्तरिक मामलों जैसे कि विशपगण की नियुक्ति तथा धार्मिक विषयों के निर्णय में सम्राट् को कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिये। निस्सदेह यह एक आश्चर्यजनक बात है कि एक पादरी ने राज्य तथा चर्च में ऐसा पृथक्करण किया।

निष्कर्ष यह है कि निकोलस के अनुसार राजसत्ता न तो पोप में है और न साधारण परिषद् में, वल्कि यह धर्मानुयायियों के सम्पूर्ण समाज में है। साधारण परिषद् सम्पूर्ण चर्च की प्रतिमूर्ति है इसलिये उसका अधिकार पोप के अधिकार से उच्चतर है। राष्ट्रीय परिषदों को स्थानीय चर्चों का प्रबन्ध करना चाहिये और उनमें सुधार करने चाहियें। साधारण परिषद् के लिए स्थायी प्रतिनिधि चुनने का भी उन्हें अधिकार दिया गया। साधारण परिषद् को समवेत करने का अधिकार पोप को था; किन्तु यदि वह ऐसा करने से इन्कार करे तो सम्राट् भी उसे बुला सकता था। परन्तु एक बार समवेत हो जाने पर परिषद् अपनी ओर से कार्य कर सकती थी और चर्च की भलाई के लिए कोई भी कदम उठा सकती थी। साधारण परिषद् अपने से पोप के अलग हो जाने की अवहेलना कर सकती थी क्योंकि वह अपना अधिकार ईश्वर से प्राप्त करती थी। यद्यपि वह पदच्युत होने का दावा नहीं कर सकती थी, तथापि एक व्यक्ति, पोप, के निर्णय की अपेक्षा उसके निर्णयों में कम भूल और अधिक सत्य होने की संभावना थी। इसलिए धर्म के विषयों में वह उच्चतम थी। निकोलस संविधानिक सीमाओं के साथ सरकार के संघात्मक रूप को चर्च की आवश्यकताओं के लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझता है, उसके द्वारा राष्ट्रवाद की शक्ति तथा शान्ति और व्यवस्था के लिए एक केन्द्रीय संघटन का समन्वय हो सकता था। उसे आशा थी कि प्रतिनिधित्व की पद्धति हर प्रकार के समाज में फैल जायेगी। परन्तु सामंजस्य और समन्वय के आधार पर एक राजनीतिक समाज को संगठित करने के उसके स्वप्न को बेसिल की परिषद् ने भंग कर दिया। ज्योंही चर्च के सुधार करने का प्रश्न उठा त्यों ही राष्ट्रीय विरोध और द्वेष की अग्नि भड़क उठी और परिषद् के सदस्य उसे बुझा न सके। सम्पूर्ण परिषद्वादी जिन सुधारों के लिए उन्मुख थे वे न किए जा सके। कन्सीलियर आन्दोलन विफल हो गया, और इसकी विफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि जनसाधारण अपनी संस्थाओं का स्वयं नियन्त्रण नहीं कर सकते। इसने पोप के प्रभुत्वपूर्ण अधिकार को भी पुष्ट कर दिया। इस प्रकार जनतन्त्र तथा विधानवाद परास्त हो गया और निरंकुशवाद की विजय हुई। वह निकोलस, जिसके हृदय में पहिले बड़ी-बड़ी आशायें थीं, निराश हो गया, उसकी आँखें खुल गईं; कन्सीलियर आन्दोलन का परित्याग करके वह पोप के पक्ष में जा मिला। उसके ऐसा करने से आन्दोलन का पतन और भी निकट आ गया। पोप की निरंकुशता का समर्थन करने को वह इसलिए विवश हुआ क्योंकि उसके विचार में पोपशाही ईसाई जगत की एकता को कायम रख सकती थी। अपने जीवन के प्रारम्भ में वह शान्ति तथा सामंजस्य के लिए पोपशाही की बलि देने को तैयार था; अन्त में आकर एकता के प्रतीक के रूप में उसने उसी संस्था की हिमायत की।

इस प्रकरण का उपसंहार करने से पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारों तथा संस्थाओं का एक संक्षिप्त सिंहावलोकन तथा [illegible]

वाञ्छनीय प्रतीत होता है, यद्यपि गत अध्यायो मे यथास्थान उनका उल्लेख किया जा चुका है। उनमे प्रमुख है राजतन्त्र, कानून, प्रतिनिधित्व तथा नैसर्गिक कानून।

राजतन्त्र (Kingship) की मध्यकालीन धारणा— सम्पूर्ण मध्य काल मे राजनीतिक संघटन का साधारण रूप एक न एक रूप मे राजतन्त्र था। यही नही, बल्कि बहुत से देशों मे तो १९१४ के प्रथम विश्व-युद्ध तक यह पाया जाता था। पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पराभव के बाद जो बर्बर राज्य उत्पन्न हुए उन सब के ऊपर शासन राजाओ का था, अर्थात् वे राजतन्त्र थे; रोमन चर्च के संघटन का भी वही आधार था जिसके ऊपर पोप का सर्वप्रभुत्व अधिकार था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी क्योंकि मध्यकालीन विचार के अनुसार समस्त विश्व एक ही राज्य है जिसका राजा ईश्वर है। समस्त पार्थिव शासन का स्रोत दैविक शासन समझा जाता था और इसलिये उसे उसकी प्रतिमूर्ति माना जाता था। अन्यथा शासक की शक्तियां को ईश्वर-प्रदत्त नही माना जा सकता था। इस मानसिक प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि राजतन्त्र को शासन का एक सामान्य तथा देवप्रदत्त रूप मान लिया गया और उसके औचित्य पर आपत्ति करने या उसकी शक्ति की सीमायें निर्धारित करने की कोई प्रवृत्ति ही उत्पन्न नही हुई। चर्च शासन को सुधारने में कन्सीलियर आन्दोलन इसलिये विफल हुआ क्योकि ईसाई जगत की सामान्य भावना निरकुश की जगह वैधानिक शासन स्थापित करने के पक्ष में न थी।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि सारे मध्य युग में, किन्तु उसके उत्तरार्द्ध मे विशेष रूप से, यह महसूस किया जाता था कि प्रजाजन की राजभक्ति का आधार राजा का पद है, उसका व्यक्तित्व नही। इस प्रकार मध्यकालीन विचार के राजपद तथा उसके स्वामी में विभेद है। पद की आज्ञा का पालन होना चाहिये, व्यक्ति का नही; क्योकि सत पाल ने आज्ञापालन के प्रसग मे 'जो भी शक्तियां हों' शब्दों का प्रयोग किया है। यदि उसका इरादा राजपद को वहन करने वाले व्यक्ति की आज्ञापालन के कर्तव्य की प्रेरणा करना होता तो वह 'जो भी शासक हों' शब्दों का प्रयोग करता। एक अत्याचारी शासन के विरोध का जो औचित्य मध्य काल में दिया जाता था उसमें भी यही विभेद निहित है। यदि राजा न्यायपूर्वक शासन करता है और केवल ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करता है तो उसके अधिकार की अवज्ञा का प्रश्न नही उठता; उसकी अवज्ञा करना तब ही कानून-विहित है जब कि राजा दुराचरण करे। समझने की बात यह है कि न्याय ही राजपद को औचित्य प्रदान करता है; एक अन्यायी राजा को अपनी आज्ञा पालन कराने का कोई उचित अधिकार नहीं। आधुनिक शासकों की भांति राजाओ को कोई अपनी अवैयक्तिक (Impersonal) शासन व्यवस्था नही थी, इसीलिये राजतन्त्र ने वैयक्तिक ट्रस्ट (Personal Trust) का रूप धारण कर लिया। जब तक राजा अपने अधिकारो का दुरुपयोग नहीं करता था, उस समय तक उसके अधिकार वैयक्तिक ही माने जाते थे।

राजतन्त्र के मध्यकालीन सिद्धान्त की तीसरी मुख्य विशेषता यह है कि इसने दो ऐसे विचारों, कानून के प्रति अधीनता तथा निरपेक्ष शक्ति और अनुत्तरदायित्व, का सम्मिश्रण किया जिनमें कोई सगति दिखाई नहीं पड़ती। एक ओर तो मध्यकालीन राजा निरपेक्ष और अनुत्तरदायी था। वह निरपेक्ष था क्योंकि उसके हाथ में सम्पूर्ण शक्तियाँ थी, क्योंकि कोई भी शक्ति उसके ऊपर या उसके बराबर ऐसी न थी जो उसकी शक्तियों को सीमित कर सकती। वह अनुत्तरदायी था क्योंकि वह निरपेक्ष था; राज्य के मामलों का प्रबन्ध वह किस प्रकार करता है, इसका कोई हिसाब उसे किसी को नहीं देना पड़ता था। परन्तु निरपेक्ष होते हुए भी वह निरंकुश न था; वह मनमानी नहीं कर सकता था; वहाँ ऐसी शक्तियाँ वर्तमान थी जो कि उसको अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने तथा अन्याय और अत्याचार करने से रोकती थी। जैसा ब्रेक्टन (Bracton) नामक तेरहवी शताब्दी के एक अंग्रेज वकील ने कहा है कि "राजा किसी व्यक्ति के अधीन नहीं है, बल्कि वह ईश्वर और कानून के अधीन है।" प्रथम तो यह कि यद्यपि वह कानून बनाता था, वह कानून के ऊपर नहीं था। राज-तिलक के समय उसे यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वह जनता के कानूनों का पालन करेगा। परम्पराओं को भग करने का उसे कोई अधिकार या शक्ति न थी। इसके अतिरिक्त वह ईश्वर के कानून तथा नैसर्गिक कानून से बधा हुआ था। उसकी शक्ति के ऊपर ये सीमायें केवल नैतिक अथवा राजा की स्वेच्छापूर्वक लगाई हुई न थी; एक तरह से वे कानूनी तथा व्यावहारिक थी। यदि राजा उनकी अवहेलना करता या उन्हें भग करता तो जनता उसकी शक्ति की अवज्ञा तथा उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकती थी। दूसरी बात यह कि राजा के बनाये हुये कानून जनता के कानून तब तक नहीं बनते थे जब तक कि जनता उन्हे स्वीकार न कर लेती थी। परन्तु मध्यकालीन राज-पद को निरकुश बनने से रोकने तथा उस पर रोक लगाने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह धारणा थी कि राजपद मुख्य रूप से एक कर्त्तव्य है, एक सार्वजनिक पद है और जनता की एक सेवा है। राजपद सम्बन्धी धारणा का आधार शक्ति या अधिकार न था। वहाँ यह विश्वास था कि राजा जनता के लिए बनाये गए है, जनता राजाओं के लिये नहीं। जनहित, शांति तथा न्याय के लिए कार्य करना राजा का परम कर्त्तव्य था। आधुनिक काल मे यह विचार लुप्त हो गया है कि राजपद एक भारपूर्ण उद्यम है, एक जनसेवा है; इसका स्थान राजा की शक्तियों के ऊपर वैधानिक रोकों और सीमाओं ने ले लिया है। आधुनिक राजा की स्थिति के विपरीत मध्यकालीन राजा की अपनी राजकीय शक्ति के प्रयोग मे उसका कोई समकक्ष न था, उससे ऊँचा होना तो दरकिनार; इसीलिए वह निरपेक्ष था। परन्तु निरपेक्ष होते हुए भी वह मनमाने ढग से और निरकुशतापूर्वक आचरण नहीं कर सकता था। उसे अपने आपको नैतिक व्यवस्था के अनुकूल ही ढालना पड़ता था। वह नैतिक एव दैविक कानून द्वारा सीमित था, सविधान द्वारा नहीं। नैतिक एव नैसर्गिक कानूनों ने राजाओं पर ऐसे प्रतिबन्ध लगाये जिनकी अवहेलना अथवा अनादर वे नहीं कर सकते थे। जिस राजा ने इनकी

उपेक्षा की वह निरंकुश शासक था, वैधानिक राजा नहीं। इसी दृष्टिकोण से उसे सीमित कहा जा सकता है। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि मध्यकालीन राज-पद सीमित एक भिन्न अर्थ में था।

अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि मध्यकालीन राजाओं के शासन अधिकार के तीन स्रोत थे, एक नहीं। उन्हे सिंहासन उत्तराधिकार में मिलता था, वे जनता द्वारा चुने जाते थे, और शासन वे ईश्वर की अनुकम्पा से करते थे। शायद हमें ऐसा लगे कि ये तीनों अधिकार एक दूसरे का विकल्प होंगे, परन्तु बात ऐसी नहीं है वे तीनों एक ही चीज़ के तीन पहलुओं को अभिव्यक्त करते थे।

कानून विषयक मध्यकालीन धारणा (Medieval Idea of Law)— राज-तन्त्र की धारणा की भाँति ही मध्यकालीन कानून सम्बन्धी धारणा भी ट्यूटोनिक तथा रोमन धारणाओं के सम्मिश्रण की उपज है और वह आधुनिक धारणा से बहुत भिन्न है। याद रहे कि रोमवासियों के लिये कानून का चरित्र प्रादेशिक था अर्थात् एक देश के कानून वहाँ के प्रत्येक निवासी पर लागू होते थे, ट्यूटनों के लिए कानून का स्वरूप मूलत. जातीय (Tribal) था। उनके अनुसार कानून एक कबीले विशेष के लिये होता था ; वह "एक समूह को एकबद्ध करने वाला सामान्य सूत्र था।" इसलिए कानून प्रत्येक व्यक्ति की एक व्यक्तिगत चीज बन गया जिसको कि वह जहाँ भी जाता था अपने साथ ले जाता था। वह इस बात की माँग करता था कि रोमन कानून के अधिकार क्षेत्र में रहते हुये भी मुझ पर मेरा जातीय कानून ही लागू होना चाहिये। कालान्तर में इस ट्यूटोनिक धारणा के स्थान में रोमन धारणा ही प्रतिष्ठित हो गई जो कि इसकी अपेक्षा अधिक बुद्धि-सगत तथा लाभप्रद थी। परन्तु ट्यूटोनिक धारणा का पूर्णतः लोप नहीं हुआ, यह चलती रही और इसने इस आधुनिक सिद्धान्त के लिए आधार प्रदान किया कि कानून जन-इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। यह सब कुछ किस प्रकार हुआ ; उस सम्पूर्ण प्रक्रिया का विवरण यहाँ देना आवश्यक नहीं है। हम कानून विषयक मध्यकालीन धारणा के कुछ आधारभूत पहलुओं पर ही प्रकाश डालेंगे।

पहली बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि यह धारणा कि कानून जनता का है, सारे मध्यकाल में चलती रही। इसका अर्थ यह नहीं था कि कानून जनता द्वारा बनाया जाता है या वह उसमें परिवर्तन कर सकती है। कानून तो एक स्थायी चीज, एक ऐसी चीज समझा जाता था जो सदैव सही रहती है और जो कुछ अशों में पवित्र है। तथापि कानून के निर्माण में मानव-इच्छा के भाग की पूर्णरूपेण अवहेलना भी नहीं की जाती थी। कानून की खोज करना और उसे घोषित करना एक आवश्यक कार्य था। राजा अथवा कोई अन्य समुचित अधिकारी सम्पूर्ण जनता के नाम से यह घोषणा करता था कि कानून क्या है। इससे सिद्ध होता है कि कानून के औचित्य में जन-इच्छा का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। परन्तु मध्यकालीन सिद्धांत का यह कोई आधारभूत तत्त्व नहीं था। इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मध्यकालीन

विचार मे जिस कानून की मुख्य रूप से विवेचना की गई है उसका सार तथा निर्माण मानव इच्छा से स्वतन्त्र था। "जबकि आधुनिक जनतन्त्रवादी कानून का सम्मान केवल उसी सीमा तक करने को तैयार है जहाँ तक कि वह अपने आपको उसका निर्माता समझ सकता है, मध्यकालीन आज्ञाकारिता का आधार इससे विपरीत भावना थी, वह यह कि कानून इसलिये मान्य है क्योंकि उनका निर्माण मनुष्य ने नही किया।"* ईवार्ट ने कानून की मध्यकालीन तथा आधुनिक धारणाओं मे एक अन्य आधारभूत अन्तर का उल्लेख किया है। वह कहता है कि जबकि आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार कानून सरकार की अभिव्यंजना होने के नाते उसके अधीन है, मध्यकालीन दृष्टिकोण से सरकार कानून की अनुचर थी। गत परिच्छेद में हम यह बता चुके है कि कानून द्वारा राजकीय शक्ति का सीमित होना राजतन्त्र के मध्यकालीन सिद्धात की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

प्रतिनिधित्व की मध्यकालीन धारणा (Medieval Idea of Representation)—प्रतिनिधित्व के विषय मे मध्यकालीन धारणा तद्‌विषयक आधुनिक धारणा से बहुत भिन्न है। जबकि आधुनिक प्रतिनिधि साधारणतया उन लोगों द्वारा चुना जाता है जिनका कि वह प्रतिनिधित्व करता है और उसे उनके विचारों तथा हितो का अभिव्यक्ता समझा जाता है, मध्यकालीन प्रतिनिधि लोगो की इच्छा का एक अभिकर्ता होने की अपेक्षा एक ट्रस्टी अधिक था जिसका कार्य उनके हितो का पोषण करना था। इस दृष्टिकोण से राजा तथा बैरनगण अपनी प्रजा के प्रतिनिधि होते थे। मध्यकालीन सिद्धान्त राजा को एक प्रतिनिधि स्वरूप प्रदान करता था। प्रजा का प्रतिनिधित्व वह इस दृष्टिकोण से करता था कि वह उनकी ओर से कार्य करता था। प्रजाजन का राजा के ऊपर कोई नियन्त्रण नही था। इससे स्पष्ट है कि मध्यकालीन सिद्धात के अनुसार यह आवश्यक नही है कि प्रतिनिधि के ऊपर उन लोगो का नियन्त्रण हो जिनका कि वह प्रतिनिधित्व करता हो। मध्य युग में सार्वजनिक निर्वाचन तथा सार्वजनिक नियन्त्रण की कोई पद्धति न थी। इसीलिये प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध मे मध्यकालीन तथा आधुनिक विचारो मे इतना अन्तर पाया जाता है।

आधुनिक धारणा से सबसे अधिक मिलता-जुलता दृष्टिकोण मार्सीलियो की *प्रतिनिधि वर्ग परिषद् की योजना मे पाया जाता है जिसमे प्रत्येक प्रान्त का प्रतिनि*धित्व अपने निवासियो की संख्या तथा गुण के अनुसार होता है। विलियम ऑफ ओकम द्वारा चित्रित प्रतिनिधि- परिषद् की अधिक सांगोपांग योजना भी आधुनिक धारणा के निकट है। परन्तु आधुनिक सिद्धान्त से सब कुछ बहुत पीछे था।

* "Whereas the modern democrate is prepared to respect law in so far as he can regard himself as its author, medieval obedience was founded on the opposite sentiment, that laws were respectable in so far as they were not made by man." —John Dickinson, quoted by Ewart Lewis : *Medieval Political Ideas*, page 2.

प्रतिनिधित्व तथा जनतन्त्रीय सरकार और कुछ हद तक सामाजिक अनुबन्ध सम्बन्धी धारणायें, जिनको कि आगे चलकर आधुनिक युग के राजनीतिक चिंतन मे इतना ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ, १५वी शताब्दी मे कन्सीलियर आन्दोलन में अभिव्यक्त हुई।

नैसर्गिक नियम (Natural Law)—हम महत्वपूर्ण मध्ययुगीन विचारों और संस्थाओं की उपरोक्त संक्षिप्त समीक्षा और प्रस्तुत खण्ड (पुस्तक) दोनों की इतिश्री नैसर्गिक नियम के विचार (Concept) की कुछ अधिक विस्तृत विवेचना के साथ करेंगे। नैसर्गिक नियम के विषय में कहा जा सकता है कि इस विचार ने मध्य युग के पूरे काल में मानव के इतिहास पर गौरवपूर्ण शासन किया है, तथापि इसको सामन्तवाद की भाँति विशुद्धतः एक केवल मध्ययुगीन विचार मानना महान् भूल होगी। मध्य युग को यह धारणा स्टोइक विचारधारा से प्राप्त हुई और उस काल मे इस धारणा का व्यापक विस्तार हुआ। यह विचार स्टोइक चिन्तन से भी अधिक प्राचीन है, उसका उद्गम प्लेटो और अरस्तु के विचारों में तथा उनके भी पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों के चिन्तन मे मिलता है जो परिवर्तनशील दृश्य-जगत के पीछे एक स्थाई और चिरन्तन व्यवस्था की कल्पना करते थे। प्राचीन यूनान में इस धारणा के जन्म और विकास का वर्णन हमारे लिए अनावश्यक होगा, हमारा सम्बन्ध यहाँ केवल उस व्याख्या से है जो मध्ययुगीन विचारकों ने उसे प्रदान की है।

स्टोइक पहले विचारक थे जिन्होंने सबसे पहले इस धारणा का सुनिश्चित विवेचन और प्रतिपादन किया, यह धारणा उनके चिन्तन का केन्द्रीय तत्व थी। उनका आदर्श प्रकृति के अनुसार जीवन बिताना था। प्रकृति से उनका अभिप्राय भौतिक घटनाओं अथवा पदार्थ जगत की एक ऐसी मिश्रित इकाई मे नही था जिसका अध्ययन पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र करते है। उन्होंने प्रकृति की एक भिन्न परिभाषा प्रस्तुत की। उनकी मान्यता है कि जगत अथवा समष्टि (ब्रह्माण्ड) की अपनी एक आत्मा अथवा जीवन-शक्ति है जो समस्त पदार्थ-जगत मे प्रवाहित होती है तथा उसकी प्रत्येक घटना और प्रक्रिया का निरूपण एवं निर्माण ठीक वैसे ही करती है जैसे मनुष्य की आत्मा उसके शरीर के प्रत्येक अंग को जीवन प्रदान करती है तथा उसकी समस्त क्रियाओं का निर्धारण करती है। उन्होंने इस जीवनी-शक्ति अथवा आत्मा को ही प्रकृति कहा। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि 'नैसर्गिक नियम' का अभिप्राय एक ऐसी विधायक सत्ता अथवा शक्ति से है जिसकी तुलना 'सृजनात्मक विकास' (Creative Evolution) नामक ग्रन्थ मे बर्गसाँ द्वारा प्रतिपादित 'जीवनी-शक्ति' से की जा सकती है। प्लेटो और अरस्तु की धारणा भी कुछ इसी प्रकार की थी, परन्तु स्टोइक विचारकों ने इस धारणा को अधिक निश्चित स्वरूप प्रदान किया इसकी व्याख्या ब्रह्माण्ड मे समाई हुई एक दैवी सत्ता के रूप में की है। प्रकृति की प्रज्ञा (Reason) के साथ समरूपता स्थापित करके उन्होंने कल्पना की है कि समस्त मनुष्य एक सम्मिलित तथा निरपेक्ष ज्ञान में भागीदार होने के कारण परस्पर समान

प्रवीन हैं। मनुष्य द्वारा बनाई गई विधियाँ सर्वत्र उनके अनुकूल होनी चाहिये। ऐसी कोई भी विधि विहित और न्याय-संगत नहीं मानी जा सकती जो नैसर्गिक नियमों के विरुद्ध हो और ऐसी विधि नागरिकों पर बाध्यकारी नहीं हो सकती। इस प्रकार नैसर्गिक नियम ने प्रत्येक मानवीय सत्ता पर प्रतिबन्ध अथवा नियन्त्रण लगा दिया। नैसर्गिक नियम के शाश्वत एवं अनुल्लंघनीय सिद्धान्तों के विपरीत कोई भी नियम नहीं माना गया और वह किसी पर भी बाध्यकारी नहीं माना गया।

लार्ड ब्राइस ने मध्ययुग में प्राकृतिक विधि की धारणा की महत्वपूर्ण स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—'यह एक ऐसा सबल दावा है जो नैतिकता के शाश्वत सिद्धान्तों की सर्वोपरिता की स्थापना करता है, राजाओं पर उन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करने का कर्तव्य लादता है तथा नागरिकों को यह अधिकार देता है कि वे यदि आवश्यकता हो तो विद्रोह और अत्याचारी शासक की हत्या करके भी उन सिद्धान्तों की रक्षा करें। यह घोषणा करता है कि आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों शक्तियाँ परमेश्वर के प्रति उत्तरदायी हैं तथा मानवमात्र को कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त हैं जिनको छीना नहीं जा सकता। यह समस्त विधियों का आधार मान कर मानवीय विधियों (Positive Laws) की शक्ति पर अंकुश लगाता है तथा उन विधियों की विहितता की मर्यादायें भी निर्धारित करता है।'

नैसर्गिक नियम की धारणा हमें हॉब्स और लॉक सरीखे आधुनिक विचारकों के चिन्तन में भी मिलती है, परन्तु उन्होंने उसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उनके चिन्तन में यह 'प्राकृतिक दशा' (State of Nature) की कल्पना के साथ जुड़ा हुआ है तथा धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह विवेकनिष्ठ तो रहता है परन्तु वह लौकिक रूप ग्रहण कर लेता है। यह विचार हमें रूसो के चिन्तन में भी थोड़े भिन्न रूप से मिलता है तथा यह फ्रांस के 'मानवीय अधिकारों के घोषणा-पत्र' का आधार बन गया है। आगे चलकर यह एक ध्वंसात्मक राजनीतिक शक्ति का रूप धारण कर लेता है। परन्तु यह आधुनिक राजनीतिक विचार का विषय है; यहाँ हम उसके मध्ययुगीन स्वरूप का चिन्तन कर रहे हैं। हमने आधुनिक लेखकों की व्याख्या का उल्लेख केवल यह सिद्ध करने के लिए किया है कि यह धारणा मध्य युग की परि-समाप्ति के पश्चात् भी राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करती रही है, यह धारणा स्टोइक विचारकों से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक विभिन्न व्याख्याओं के रूप में जीवित रही है।

Bibliography

BARKER : *Plato and His Predecessors.*

BOWLE : *Western Politicol Thought.*

COOK : *A History of Political Thought.*

DOYLE : *A History of Political Thought.*

DUNNING : *History of Political Theories.*

FOSTER : *Masters of Political Thought.*

GETTELL : *History of Political Thought.*

HEARNSHAW . *Social and Political Ideas of the Middle Ages.*

MAXEY : *Political Philosophies.*

McILWAIN : *Development of Political Thought in the West.*

SABINE : *A History of Political Theory.*

त्रिलोचन :

जन्म : 20 अगस्त 1917, चिरानीपट्टी, कटघरापट्टी, सुल्तानपुर, उ० प्र०।

शिक्षा : बी० ए० तथा एम० ए० (पूर्वार्द्ध) अंग्रेजी साहित्य में।

आज, जनवार्ता, समाज, प्रदीप, चित्ररेखा, हंस और कहानी आदि पत्रिकाओं और समाचार पत्रों का सह-सम्पादन कर चुके है।

1952-53 में गणेशराय नेशनल इण्टर कालेज जौनपुर में अंग्रेजी के प्रवक्ता।

1970-72 के दौरान विदेशी छात्रों को हिन्दी, संस्कृत और उर्दू की शिक्षा।

कुछ वर्ष उर्दू विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की द्विभाषिक कोश (उर्दू-हिन्दी) परियोजना में कार्य।

सम्प्रति : अध्यक्ष, मुक्तिबोध पीठ, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।

प्रकाशित कृतियाँ : धरती (कविता संग्रह : 1945, दूसरा संस्करण : 1977)
गुलाब और बुलबुल (गजलें और रुबाइयां : 1956)
दिगन्त (सॉनेट : 1957)
ताप के ताए हुए दिन (कविता संग्रह : 1980)
शब्द (कविता संग्रह : 1980)
उस जनपद का कवि हूँ (कविता संग्रह : 1981)
अरधान (कविता संग्रह : 1984)

पता : सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003